अस्पृश्यता एवं मानवता

अस्पृश्यता एवं मानवता

ए. एन. भारद्वाज

(भूमिका : डॉ० कर्णसिंह)

जम्मू-काश्मीर राज्य के यशस्वी एवं गौरवोन्नत ले० जनरल हिज हाईनैस राजराजेश्वर महाराजाधिराज श्रद्धास्पद श्री हरिसिंह जी K. C. S. D., K. C. I. E., K. C. V. O., LL. D. को, जिन्होंने हिन्दुस्तान के राजाओं, महा-

राजाओं और नवावों में सर्वप्रथम 1930 ई० में लंदन में हुई गोलमेज़ कांफ्रेंस के समय निर्भय होकर परतंत्रता से मुक्त होने की सिंहगर्जना की।

जिन्होंने अपने राज्य में लोकतंत्र की शासन-प्रणाली के सिद्धांतानुसार प्रजातांत्रिक सरकार का गठन किया।

जिन्होंने 1931 ई० में सर्वप्रथम कतिपय रूढ़िवादी ब्राह्मणों के विरोध और आलोचना की परवाह न करते हुए राज्य में छूतछात की कुप्रथा को दूर करने का अभियान चलाया और तथाकथित अछूतों के लिए कुओं से पानी लेने, धर्म-स्थानों तथा मन्दिरों, विशेषतः जम्मू नगर के प्रसिद्ध मन्दिर श्री रघुनाथजी के किवाड़ खोलकर समाज के सभी लोगों के समान उन्हें समानता के अधिकार प्रदान किए।

जिन्होंने अपने राज्य के दरिद्रनारायण हरिजनों का शोषण करने वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय, विशेषतः राजपूत वर्ग के लोगों के मिथ्या गर्व को दूर करने हेतु अपने महलों के विशाल खुले आंगन में स्वयं हल चलाकर उन शोषक लोगों को काश्त करने की प्रेरणा दी ताकि वे उनके परिश्रम से अनधिकार लाभ न उठाकर स्वयं काश्त करने के व्यवसाय को ग्रहण करें।

जिन्होंने न्यायपालिका की आज़ादी और सर्वसाधारण के कल्याणार्थ कानून पारित करके ऐसे ऐतिहासिक सुकृत्य किए जो अब भारतीय इतिहास के सुनहरी पृष्ठ बन चुके हैं।

उन्हें यह पुस्तक श्रद्धा, भक्ति एवं अनुरक्तिसहित समर्पित की जाती है।

—ए० एन० भारद्वाज

हिन्दू-समाज के नवजागरण के लिए हमारे सामने जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है वह है अस्पृश्यता और दहेज-प्रथा जैसी कुरीतियों का उन्मूलन। ये प्रथाएं हिन्दू-धर्म का कभी अंग नहीं रही हैं। जिस धर्म में 'वसुधैव कुटुंबकम्', 'सर्वे भवंतु सुखिनः' तथा 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' जैसे ऊंचे आदर्श हों वहां अस्पृश्यता जैसी हेय प्रथाओं का कोई औचित्य नहीं है। जैसा गांधीजी ने कहा था, अस्पृश्यता मानवता और ईश्वर के प्रति जघन्य अपराध है। श्री ए० एन० भारद्वाज ने 'अस्पृश्यता एवं मानवता' में इस विषय का गहन अध्ययन कर उसके इतिहास, कारण और निवारण की ओर ध्यान दिला कर सामयिक दृष्टि से बहुत उपयोगी कार्य किया है।

—डॉ० कर्णसिंह

संसद सदस्य
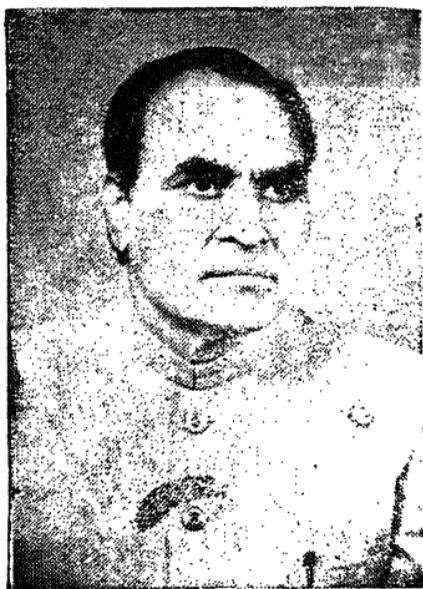
गोवर्द्धनसिंह जमवाल

आज मानव-जाति अपने विवेक के अनगिनत सपनों को पार कर विज्ञान की चरमोन्नति के युग में सतत आगे बढ़ रही है। आज गांव और नगर ही नहीं अपितु देशों, महाद्वीपों एवं उप-महाद्वीपों के बीच भी भेद-भाव की दीवारें टूट रही हैं। ऐसे युग में चली आ रही अस्पृश्यता हमारे देश के नाम पर एक कलंक है, जिसका हिन्दू-सभ्यता में कोई स्थान नहीं है।

विगत कई शताब्दियों से इस अभिशाप के विरुद्ध अनेक अभियान चलाए जाते रहे हैं और तत्कालीन महापुरुषों ने मानव-मानव के मध्य खड़ी की गई इन कृत्रिम दीवारों को तोड़ने के लिए कठिन संघर्ष किया। इसी अभियान में आर्य-समाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन की बलि दी और महात्मा गांधी ने तो अपना जीवन दांव पर लगाकर इनका संरक्षण किया। उन भगीरथ-प्रयत्नों के बावजूद हमें इस बुराई के समूल उन्मूलन में पूरी सफलता नहीं मिली। आज भी यह वर्ग घृणा, प्रताड़ना एवं अनेक अमानवीय अत्याचारों का शिकार है, जो मानवता के नाते और सामाजिक समानता के आधार पर तथा मौलिक अधिकारों के नाम पर हमारी सहायता का पात्र है। अतः अपने पूर्वजों के पवित्र उद्देश्य के परिपूर्ण हेतु समाज में फैली इस बुराई को दूर करने के विरुद्ध एक-जुट होकर हर एक को अपने-अपने स्थान पर प्रयास करना चाहिए।

'अस्पृश्यता' जैसी सुलगती हुई समस्या को लेकर लेखक ने जो क्रियात्मक रूप में आह्वान किया है, वह वास्तव में उन अभियानों की एक कड़ी है, जिसको दूर करने के लिए महापुरुषों ने प्रयास किया था।

लेखक ने अपनी अद्‌भुत लगन व प्रयास से इस पुस्तक में जो सामग्री दी है, वह वास्तव में बहुत रोचक और खोजपूर्ण है। इससे पाठकों को जो प्रेरणा मिलेगी, उससे उन्हें इस सामाजिक बुराई को दूर करने में बहुत सहायता मिलेगी।

समाज में इस प्रकार के साहित्य की बहुत आवश्यकता है, ताकि पाठक ऐसे साहित्य का अध्ययन करके इस बुराई को दूर करने में सहायक हो सकें।

लेखक के इस सराहनीय कार्य के लिए मेरी शुभकामनाएं।

मेजर जनरल
गोवर्द्धनसिंह जमवाल
A.V.S.M.
अध्यक्ष, धर्मार्थ ट्रस्ट जम्मू-काश्मीर
जम्मू

क्रम

दो शब्द

मानव के विषय में स्पृश्य-अस्पृश्य की धारणा वैदिक-साहित्य में उपलब्ध नहीं है। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत' वाली ऋक् मानव जाति को चार वर्णों में अवश्य विभक्त करती है किन्तु बहुत-से वेद-विशेषज्ञों का मत है कि ऋग्वेद के अन्य सूक्तों की अपेक्षा यह सूक्त बहुत अर्वाचीन है और यह मानवों की उत्कृष्टता-अनुत्कृष्टता निर्धारित करने की अपेक्षा राष्ट्र पुरुष के विराट् स्वरूप को स्पष्टतः व्यक्त करने के लिए व्यवहृत होती है। इस मन्त्र का 'पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' अंश इस तथ्य को प्रकट करता है कि पांवों के बिना राष्ट्र पंगु एवं अंग-हीन है। 'पांव' राष्ट्र का आधार है। पांव न हों तो मुख, बाहु और जंघाएं भी बड़ी सीमा तक बेकार सिद्ध होती हैं।

दूसरा तथ्य यह है कि शरीर के सभी अंगों में समान रूप से रक्त-संचार होता है, किसी में कम और किसी में अधिक नहीं। यदि रक्त दूषित होगा तो चाहे मुख-मस्तिष्क हों, चाहे बाहु हों, चाहे जंघाएं हों और चाहे पांव हों, रक्त-दोष सर्वत्र एक समान रहेगा। यह कदापि संभव नहीं कि एक अंग में शुद्ध रक्त का संचार होता हो और दूसरे में अशुद्ध रक्त बहता हो। किसी स्थान विशेष में रक्त-विकार से फोड़ा फूटता है तो उसमें भी प्राकृतिक नियम विधिवत् काम करते हैं। किसी अंग पर फोड़ा निकलने से हम उस अंग को शरीर से भिन्न एवं अस्पृश्य तो नहीं मानते अपितु उसका विधिवत् उपचार करते हैं। अतः शरीर के सभी अंग, चाहे वे छोटे हों या बड़े, अपना-अपना महत्त्वपूर्ण काम करते हैं। यही बात समाज में देखी जाती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हिन्दू-समाज के अंग हैं और वैदिक संस्कृति के अनुसार उनका वर्णत्व जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर निश्चित किया जाता है।

हम देखते हैं कि ब्राह्मण बूटों की दुकानें करते हैं, नून, तेल बेचते हैं, क्षत्रियों को मांस विक्रयी वधिक का काम करते भी देखा गया है, कई वैश्य चमड़े का व्यापार करते हैं। ये सब होते हुए भी वे अस्पृश्य नहीं माने जाते, कोई उन्हें अछूत नहीं कहता, फिर कर्त्तव्य का पालन करने वाले, भोले-भाले स्वच्छ हरिजनों के प्रति

हीन-भावना रखना आत्मवंचना के समकक्ष है। शूद्रों को शास्त्रों ने 'अन्त्यज' कहा है। अन्त्यज, अग्रज, अनुज की तरह अन्त में पैदा हुआ भाई है। यह कहां का न्याय है कि हम अपने सबसे छोटे भाई को हेय दृष्टि से देखें या उसके प्रति घृणा का भाव रखें।

भारत की प्राचीनतम सभ्यताओं में भी मानव की मानव के प्रति अस्पृश्यता का कोई प्रसंग नहीं मिलता। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों में जहां उत्कृष्ट नागरिक सभ्यताओं के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं वहां शौचालयों के कोई स्पष्टास्पष्ट चिह्न उपलब्ध नहीं हुए। इससे स्पष्ट है कि उन युगों में शौच शोधन की प्रथा ही नहीं थी। आर्यों के नगर-निर्माण-विधान में भी नगर के निकट कई मीलों तक वन-प्रदेश का होना अनिवार्य था। वर्तमान युग में शौच शोधन का कार्य करने के लिए निर्धन एवं निम्न मानव वर्ग को स्वार्थी, मालदार एवं तथाकथित उच्च वर्ग ने विवश किया।

भारतीय आर्य धर्म की दृष्टि और क्षेत्र इतने व्यापक और विशाल हैं कि वे मानव-जीवन, योग क्षेम, अभिवृद्धि और उत्तरोत्तर विकास की ही आकांक्षा नहीं करते, अपितु वे एक मानव की दृष्टि में दूसरे मानव को अस्पृश्य या हेय मानने के लिए कभी तैयार नहीं हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि अस्पृश्यता शास्त्रविहित और धर्म-सम्मत है। उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि 'धर्म' शब्द √धृ धातु—धारण करना, पुष्ट करना या बनाए रखना—से बना है। धर्म के विषय में कहा गया है—'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।' सत्य तो यह है कि धर्म कर्त्तव्य का ही पर्याय है। धर्म सदा सत्कर्म का प्रेरक रहा है। सबसे बड़ा धर्म यह है कि मनुष्य उन कामों को कभी न करे जो उसे स्वयं अच्छे न लगते हों :

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्म का सर्व-साधारण लक्षण है :

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानञ्च सतां धर्मः सनातन॥

धर्म की इस सर्वसाधारण भाषा में किसी मानव को अछूत या अस्पृश्य मानना, कहना या समझना मानव-द्रोह है। मनुष्य को अस्पृश्य मानने वाला महापातकी जीव होगा क्योंकि वह ऐसा करके मानव जाति के साथ द्रोह कर रहा है।

हम जानते हैं कि धर्म और धर्म संस्थान दो पृथक्-पृथक् इकाइयां हैं। संस्थानों की रचना धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए की जाती है। धर्म संस्थान का संचालन करता है किन्तु आजकल बात उलटी हो गई है। लोग संस्थान को बड़ा मानने लग गए हैं। ऐसा संस्थानों के महन्तों के कारण हो रहा है। वे स्वार्थपूर्ति के लिए

जनता को धर्म के मनमाने अर्थ बताकर धर्म को विकृत कर रहे हैं। स्पृश्य को अस्पृश्य, अकार्य को कार्य और अपरिहेय को परिहेय कहकर वे स्वार्थ सम्पादन में लगे हुए हैं। अपण्डित होकर भी अपने आपको पण्डित और परमज्ञानी कहलवाने वाले कुछ स्वार्थी तत्त्व भी उनका साथ दे रहे हैं।

अन्त्यजों को अस्पृश्य और हेय वे ही लोग बता रहे हैं, अन्यथा आप विचार करें कि वह धर्म ही क्या है जो दूसरों के स्पर्शमात्र से क्षीण होकर पाप बन जाता है। ऐसे लोगों के बहकावे में आना भी धर्म प्रवञ्चना है।

स्पृश्यास्पृश्य की धारणा ने मध्य युग में जोर पकड़ा था। तत्कालीन परिस्थितियां ही ऐसी थीं। इस धारणा का अधिक प्रभाव निर्धन, दीन-हीन और दलित जातियों पर अधिक पड़ा। सामन्तवाद ने इस प्रथा का आरम्भ किया और स्वार्थी ब्राह्मणवाद ने इसे हवा दी। उस युग में वर्ण कर्म के स्थान पर जन्म से माना जाने लगा था।

अब युग बदल चुका है। डॉ० अम्बेदकर और बाबू जगजीवन राम जैसे महान व्यक्तियों को जिस समाज ने जन्म दिया, उसे हेय समझने वाला स्वयं हेय हो सकता है। आज अन्त्यज भाइयों में उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ नेता, विद्वान्, वैज्ञानिक, शिल्पी, डाक्टर, न्यायमूर्ति और व्यापारी विद्यमान हैं। अब इस बात की आवश्यकता है कि भारतीय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की व्यवस्था का सर्वथा परित्याग करके भारत की राष्ट्रीयता का सबमें प्रचार करे। अन्त्यज भाइयों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध जोड़े जाएं ताकि हमारे इन भाइयों को पूर्णतः विश्वास हो जाए कि हम एक हैं, भारतीय हैं और सदा भारतीय रहेंगे।

भारतीय संविधान के अनुसार कोई किसी को अछूत, अस्पृश्य या हेय नहीं कह सकता। यदि कोई ऐसा करे तो यह दण्डनीय अपराध है, फिर भी इस भावना को हमने क्रियान्वित करके दिखाना है। इसी विचार को लेकर श्री ए० एन० भारद्वाज ने 'अस्पृश्यता एवं मानवता' शीर्षक प्रस्तुत पुस्तक लिखी है। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक इस दिशा में भारतीय समाज का पूरा-पूरा पथप्रदर्शन करेगी और एक ओर अपने अन्त्यज भाइयों में आत्म-विश्वास एवं अभ्युदय की धारणाओं को जन्म देगी और दूसरी ओर समाज-विरोधी तत्त्वों को वास्तविक वस्तुस्थिति के सच्चिन्तन के लिए विवश करेगी। शुभम्।

—डॉ० बालकृष्ण शास्त्री

भूमिका

हर्ष का विषय है कि श्री ए० एन० भारद्वाज ने अस्पृश्यता जैसे सामाजिक अभिशाप को लेकर इस ग्रन्थ की रचना की है। यह हमारे राष्ट्र की एक सुलगती हुई समस्या है, जिस कारण राष्ट्रीय एकता के सूत्र धीरे-धीरे शिथिल होते जा रहे हैं। हिन्दू-समाज के वातावरण के लिए हमारे सामने जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है—वह है अस्पृश्यता और दहेज-प्रथा जैसी कुरीतियों का उन्मूलन। यह कुप्रथाएं हिन्दू-धर्म का कभी अंग नहीं रही हैं। यह धर्म तो इतना उदार और विशाल है कि सर्व हित एवं सार्वजनिक कल्याण तथा विश्व-बन्धुत्व का उपदेश देता है। मानवता के दृष्टिकोण से भी मानव का मानव से घृणा करना निन्दनीय है।

जिस धर्म में 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'सर्वे भवंतु सुखिनः' तथा 'ईश्वरःसर्वभूतानाम्' जैसे ऊंचे आदर्श हों, वहां अस्पृश्यता जैसी हेय कुप्रथाओं का कोई औचित्य नहीं है। महात्मा गांधी जी ने कहा था, "अस्पृश्यता मानवता और ईश्वर के प्रति जघन्य अपराध है।" यह हमारी गौरवमयी सभ्यता पर एक कलंक है, जिसको दूर करना समाज के प्रत्येक घटक का कर्त्तव्य है।

भारत की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक परम्परा इतनी महान, उन्नत तथा समृद्ध है कि शायद ही संसार की कोई सभ्य जाति अथवा देश इसके समक्ष ठहर सके। परन्तु इसके विपरीत जातिगत भेद-भाव के नाम पर जो घृणा मानव-मानव के बीच यहां पाई जाती है, कदाचित् ही संसार में कहीं दिखाई देती हो। ईश्वर ने सब मनुष्य एक समान पैदा किए हैं। कुछ स्वार्थी महाप्रभुओं ने अपने हितों के रक्षणार्थ छूत-छात के इस संक्रामक रोग को जन्म दिया जो आज इस समाज को खाए जा रहा है। यह रोग राष्ट्र की उन्नति में बाधा बना हुआ है। इसे शीघ्र समाप्त करने की जरूरत है। इन स्वार्थी लोगों ने अपनी प्रभुसत्ता को बनाए रखने हेतु धर्म और मर्यादा की आड़ में जिस परम्परा का प्रचलन किया और उसे जितना दृढ़ व विश्वस्त बनाया, उसका उदाहरण संसार के किसी अन्य देश में नहीं मिलता। भारत मानव के प्रति ही नहीं अपितु प्रत्येक प्राणिमात्र के

हुआ जिसे शूद्र का नाम दिया जाता था । उसका काम सबसे कठिन था—उपर्युक्त तीनों वर्गों की सेवा-सुश्रूषा । यह वर्ग समाज का एक अभिन्न अंग होते हुए भी लगभग सभी मानवीय एवं सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया । यहां तक कि विद्याध्ययन, ज्ञानोपार्जन तो दूर धार्मिक उपासना, यज्ञादि अनुष्ठानों में शामिल होना भी उनके लिए वर्जित बना दिया गया था । वे मोक्ष-प्राप्ति तथा आत्मोत्थान के लिए तपस्या आदि भी नहीं कर सकते थे । इनके लिए सम्पत्ति-संचय करना भी निषिद्ध था ।

यह वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे मर्यादा के रूप में हिन्दू-समाज की एक परम्परा बन गई । बाद में समाज के उन विभाजित वर्गों को एक-दूसरे का पूरक कहकर उसे न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयास किया गया । परन्तु भले ही इस वर्ग व्यवस्था के मूल सिद्धांत में तत्कालीन समाज का हित रहा हो, परन्तु समय के व्यतीत होने के साथ-साथ यह वर्ण-व्यवस्था कर्म के आधार पर न रहकर केवल जन्म के आधार पर मानी जाने लगी । इसके परिणामस्वरूप वर्ण-व्यवस्था का यह तंत्र कठोर से कठोरतर होता चला गया ।

मगर यह सब होते हुए उक्त व्यवस्था सदा के लिए शाश्वत और सर्वमान्य न बनी रह सके, इसके प्रति घोर प्रतिक्रियाएं पैदा होने लगीं । इस अप्राकृतिक एवं अमानवीय वर्ग-विभाजन को समय-समय पर विभिन्न प्रबल चुनौतियों का सामना करना पड़ा । निम्न, अस्पृश्य, शूद्र वर्ग के उत्थान तथा उसे समाज में मानवोचित अधिकार दिलाने के लिए कई महापुरुषों और मनीषियों ने अपने जीवन को समर्पित किया । वह सशक्त जन क्रांतियां, जैन, बौद्ध तदनन्तर गुरु नानक, कबीर, रैदास तथा राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी तथा आचार्य विनोबा भावे जैसे महापुरुषों के अनथक प्रयास से इस अभिशाप को समाज से निर्मूल करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य करती रहीं । इस दिशा में आंशिक रूप से थोड़ी-बहुत सफलता भी मिलती रही, फिर भी जाति-पांति के कठोर तंत्र का भारतीय जनसमाज से मूलोच्छेद नहीं किया जा सका । जिसके लिए अभी भागीरथ प्रयत्न की जरूरत है ।

आज की परिस्थितियों में जब संसार-भर में जातियों, समुदायों और क्षेत्रों ही नहीं, अपितु देशों की विभाजक सीमाओं को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है, बन्धुत्व और संयुक्त-विश्व-संसार की बातें सोची जा रही हैं, तब उस शताब्दियों पुरानी अस्पृश्यता की कोई प्रासंगिकता एवं औचित्य दिखाई नहीं देता ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने बड़े परिश्रम से इस समस्या की जटिलता का ऐतिहासिक परिवेश में शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करके सचमुच अस्पृश्यता विरोधी

अभियान में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, इस विषय का गहन अध्ययन कर, उसके इतिहास, कारण और निवारण की ओर ध्यान दिलाकर सामाजिक दृष्टि से बहुत उपयोगी कार्य किया है। यह आज की पीढ़ी के लिए नितांत आवश्यक है। आने वाली पीढ़ियां इस साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करके अस्पृश्यता के इस अभिशाप को दूर करने के लिए अवश्य तत्पर रहेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

मेरी शुभकामनाएं लेखक के साथ हैं।

—**डॉ० कर्णसिंह**
भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री

उद्देश्य

इस पुस्तक में हिन्दू-समाज की कुरीतियों, काल्पनिक धारणाओं एवं प्रचारित भ्रांतियों—विशेषतः अस्पृश्यता के विरुद्ध हिन्दू-ग्रन्थों के आधार पर समस्त राष्ट्र और विशेष रूप से हिन्दुओं को यह चेतावनी दी गई है कि यदि तथाकथित उच्च वर्ग ने अपने कर्त्तव्यों और मर्यादाओं का पालन नहीं किया, यदि पारस्परिक बन्धुत्व और सौहार्दभाव, प्रेम तथा स्नेह को अपने जीवन में क्रियात्मक रूप से क्रियान्वित न किया और यदि अन्त्यज भाइयों के साथ अस्पृश्यता का ही व्यवहार जारी रखा, तो उस अवस्था में हिन्दू-समाज का एक बलिष्ठ अंग इससे कटकर हमेशा-हमेशा के लिए पृथक् हो जाएगा। इस अलगाव के परिणाम केवल भयंकर ही नहीं होंगे, अपितु विनाशक और विस्फोटक भी होंगे। इस महानाश का अनुमान करना कठिन है। इस तथाकथित उच्च वर्ग की संकीर्ण मनोवृत्ति का एक दुष्फल—पाकिस्तान, आपके सामने है। यदि इस संकीर्णता और भेद-भाव का समूल नाश न हुआ, तो पता नहीं कितने और 'स्तान' इस देश में बनेंगे और यह देश कितने खण्डों में विभक्त हो जाएगा। यह राष्ट्र के लिए चिन्ताजनक स्थिति है।

संसार में हिन्दुओं की जनसंख्या घटकर अब केवल भारत और नेपाल तक ही सीमित हो गई है। दिन-प्रतिदिन यदि इसी अनुपात से जनसंख्या कम होती गई तो इनका मिस्र की कापट जाति की तरह कोई नामलेवा भी नहीं रहेगा। मगर विश्व में यही एक ऐसा देश है, जिसकी सभ्यता का अविच्छिन्न प्रवाह जारी है और जो अपनी प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृति की शृंखला बनाए हुए है। आज इस सभ्यता में जो मिलावट हुई है, उसे समझना चाहिए। वह हिन्दू-समाज के लिए प्रशंसनीय नहीं है। राष्ट्र को अपनी परम्परा की मर्यादा में संगठित करने का उत्तरदायित्व अब युवा पीढ़ी के कंधों पर है। युवा वर्ग अपने पूर्वजों के पदचिह्नों पर चलता हुआ सामाजिक कुरीतियों तथा भ्रांतियों के विनाश का भरसक प्रयत्न करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है। हिन्दू धर्म के मूल सिद्धांतों के साथ-साथ इसके आदर्श तत्वों का आप तक प्रसार करना इस पुस्तक का मूल उद्देश्य है। सच्चे धर्म

के प्रचार-प्रसार से ही हिन्दू-समाज को पवित्र तथा स्वच्छ बनाया जा सकता है। समाज में धर्म के नाम पर फैलाई गई नीतियों, भ्रांतियों और विमूढ़ताओं का मूलोच्छेदन करना हर हिन्दू धर्मावलम्बी का पुनीत कर्त्तव्य है। ये कुरीतियां हिन्दू-समाज में बुरी तरह घुस चुकी हैं। इनका निराकरण ही इस पुस्तक का एक-मात्र लक्ष्य है।

ऐसी सम्भावना है कि मेरे इस सत्य के प्रति हिन्दू-समाज के कई एक तथा-कथित अभिभावक कटु आलोचना करेंगे और कई प्रकार के कटाक्ष करते हुए अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमाना चाहेंगे। इसमें भी सन्देह नहीं कि सत्य हमेशा कड़वा होता है। और उन्हें यह बुरा लगेगा। वे निराधार और युक्तिहीन भाषणों द्वारा अमानवीय धारणाओं को उचित तथा यथार्थ ठहराने का प्रयास करेंगे। यथार्थ के इस सन्देश को मैंने आप तक पहुंचाने का प्रयास किया है। अब यह उत्तरदायित्व आज की युवा पीढ़ी पर आता है कि वह अपने समाज में फैली हुई उन भ्रांतियों और मिथ्या विश्वास तथा अन्य विषैली रूढ़ियों की मिलावट से समाज को पवित्र करे।

यह पुस्तक जिस भावना से लिखी गई है, उसे हिन्दू-समाज समझने का प्रयास करेगा, ऐसी मुझे आशा है। मैंने इसमें जो कुछ भी लिखा है, वह किसी की भाव-नाओं को ठेस पहुंचाने के लिए नहीं, अपितु निष्पक्ष और विशुद्ध भाव से प्रेरित होकर लिखा है। मैंने मानवता के आह्वान पर उत्पीड़ित पिछड़े वर्गों की मानसिक उद्विग्नता का सजीव चित्रण आपके सामने रखा है, ताकि आप उन पिछड़े वर्गों के लोगों को जो प्रगति की दौड़ में आपसे पीछे रह गए हैं और जिनको आप स्पर्श करना नहीं चाहते, उन्हें मानवता और अपनी सभ्यता के नाम पर दया के पात्र बनाएं। मुझे विश्वास है कि पाठक इसे पढ़कर इसका मनन करेंगे और अस्पृश्यता के अतिरिक्त अन्य सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए प्रयत्न करेंगे। यदि इस प्रयास में लेश मात्र भी सफलता मिलती है तो आप यश के भागी बनेंगे और मुझे अपने परिश्रम के सार्थक होने की प्रसन्नता होगी।

—ए० एन० भारद्वाज

भारद्वाज बिल्डिंग्ज
विनायक बाजार,
जम्मू तवी।
26-1-1984

प्राक्कथन

लेखक ने अपने जीवन का अधिकांश भाग दबे, कुचले और उपेक्षित समाज की सेवा में व्यतीत किया है। इसलिए दम्भियों, ढोंगियों और आततायियों द्वारा उत्पीड़ित वर्ग के क्रंदन से व्याकुल होना उनके लिए स्वाभाविक था। इन निर्दोष लोगों पर होने वाले दानव अत्याचारों की पाशविकता से उद्विग्न होकर उन्होंने हिन्दू-समाज को अपनी कर्त्तव्यपरायणता के प्रति एक चेतावनी दी है। इस शोषित वर्ग के लोगों के आंसुओं की अविच्छिन्न धारा 'अस्पृश्यता एवं मानवता' नामक पुस्तक के रूप में हमें देखने को मिलती है, जो इन लोगों का वास्तविक चित्रण करती है। ऐसे प्रेरणादायक साहित्य की आज समाज को आवश्यकता है। मुझे आशा है कि यह साहित्य जो श्री भारद्वाजजी ने हमें दिया है, वह हमारे समाज के रूढ़िवादी लोगों का मानसिक परिवर्तन करने में सहायक होगा।

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में पैदा होता है कि अस्पृश्यता कब और कैसे पैदा हुई ? वैदिककालीन समाज का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विषयों पर अध्ययन करने पर स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उस पुरातन काल में अस्पृश्यता नामक कलंक का नाम तक नहीं था। उस समय सामाजिक आवश्यकताएं कम थीं। धर्म द्वारा ही समस्त सामाजिक व्यवस्थाओं का संचालन होता था क्योंकि समाज में धर्म की प्रधानता थी। धर्म के प्रति लोगों की अगाध श्रद्धा थी। आज तक कोई भी परिस्थिति उस निष्ठा को शिथिल नहीं कर सकी। इसलिए ये लोग अपने सनातन धर्म को मानने वाले हैं। वैदिककालीन समाज में किसी प्रकार की विषमता नहीं थी। वर्ण-व्यवस्था कर्म के अनुसार थी। मगर जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा, अन्ध श्रद्धा में बदल गई। समाज के स्वार्थी लोगों ने इसका दुरुपयोग करना शुरू किया। एक समय ऐसा भी आया, जब समाज में उच्छृंखलता और अव्यवस्था ने जोर पकड़ा और देश अराजकता के गर्त में खिसकने लगा।

ऐसी परिस्थितियों में महर्षि मनु ने शासन-सत्ता को अपने नियन्त्रण में लेकर देश में फैली अराजकता को समाप्त करने के लिए कुछ सामाजिक नियम निर्धारित

किए। सभी वर्णों के लिए आचरणसंहिता तैयार की गई। यह आचरणसंहिता या कर्त्तव्यसंहिता 'मनुस्मृति' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्मृति ने समाज को नियमों और कर्त्तव्यों के सूत्र में अनुशासित किया। मनु महाराज के नियमों को तत्कालीन समाज ने श्रद्धा और निष्ठा से अपनाया। मगर कुछ समय व्यतीत होने पर वे सब नियम रूढ़ियों में बदल गए और कर्म के वैज्ञानिक और शाश्वत आधार पर बनी वर्ण-व्यवस्था जन्म पर रूढ़ हो गई जो स्थायी सामाजिक स्वभाव बनकर रह गया। यद्यपि महर्षि मनु ने भी स्पष्ट रूप से लिखा है कि—

जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा द्विज उच्यते।

अर्थात् मनुष्य जन्म से शूद्र ही पैदा होता है। गुण, कर्म, स्वभाव और संस्कारों से 'द्विज' (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) कहलाता है। आज भी यह प्रक्रिया ऐसी ही है। मगर शताब्दियों के अवैज्ञानिक और रूढ़िवादी स्वभाव के कारण मान्यताएं दूषित हो गईं। इसलिए ऐसा नहीं माना जाता है कि यदि भ्रांति और अनभिज्ञता के कारण यथार्थ को अयथार्थ माना जाए तो भी वास्तविक दृष्टि से ऐसा नहीं होता। अविवेकपूर्ण दृष्टि से चाहे जैसा भी मान लिया जाए।

यह स्पष्ट है कि यदि तालाबों और बावलियों इत्यादि का जल जब अधिक समय तक स्थिर रहता है तो उसमें दुर्गन्ध और नाना प्रकार के रोगों के कीटाणु पैदा हो जाते हैं। मनुष्य तो क्या पशु भी ऐसे दूषित पानी को नहीं पी सकते। ठीक इसी प्रकार हिन्दू-समाज भी शताब्दियों की रूढ़ियों के जाल में फंसकर विवेकहीन हो गया है। कोई भी स्वस्थ और विवेकवान् समाज रूढ़ियों को अधिक देर तक अपनाकर नहीं चल सकता।

ऐतिहासिक विश्लेषणों से पता चलता है कि स्वार्थी लोगों ने धर्म के नाम पर व्यर्थ के रीति-रिवाज और रूढ़ियों को शुरू कर हिन्दू-समाज का शोषण प्रारम्भ किया। यज्ञों में कई प्रकार की पशु बलियों और अन्य पाखण्डों ने लोगों में आतंक पैदा किया। फलस्वरूप इन आडम्बरों और अन्याय के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। ऐसी परिस्थितियों में सिद्धार्थ जैसे विचारशील राजकुमार की भावनाओं को भी ठेस पहुंची, जो बाद में महात्मा बुद्ध के नाम से विख्यात होकर बुद्ध मत के संस्थापक हुए। उस समय हिंसा अपनी चरमसीमा पर थी। उस प्रतिक्रिया में वह व्याकुल हो उठे। उन्होंने फैले हुए अत्याचारों और हिंसा से समाज को शुद्ध करने के लिए 'अहिंसा परमो धर्मः' का संदेश घर-घर तक पहुंचाया। बुद्ध मत का प्रचार ब्राह्मणवाद के विरुद्ध एक विद्रोह था जिसने ब्राह्मणों की सार्वभौम सत्ता को खण्डित कर उनकी हिंसा से त्रस्त मानव को संरक्षित किया। ईश्वर की बनाई हुई प्राकृतिक परम्परा पर किसी को भी एकाधिकार स्थापित करके दूसरों को उनसे वंचित रखने का कोई अधिकार नहीं है। यदि अन्धकार युग में कतिपय भ्रष्ट ब्राह्मणों ने ज्ञान और शिक्षा पर अपना अधिकार स्थापित कर समाज को

पथभ्रष्ट किया तो उस धांधली का विरोध करने वाले विचारशील श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने रूढ़िवाद और जड़ता के विरुद्ध अपने जीवन को झोंक दिया था, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

जो वर्ण-व्यवस्था समाज को किसी मर्यादा में गठित करने के लिए गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुसार बनाई गई थी, वह यथावत न रही। उसने अपना रूप बदल लिया और रूढ़ि बनकर रह गई। समय-समय पर इन सामाजिक कुप्रथाओं को लेकर देश में बड़े-बड़े भीषण आन्दोलन हुए, जिसके तूफान में उन बुराइयों की नींव अपनी जड़ता से खिसकने लगी। आधुनिक युग में राजा राममोहन राय, महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी श्रद्धानन्द, डा० हेडगेवार, वीर सेनानी सावरकर, डा० अम्बेदकर, महात्मा गांधी तथा अन्य समाज-सुधारकों ने सामाजिक बुराइयों और मानसिक परतंत्रता के विरुद्ध अपने अमूल्य जीवन को दांव पर लगा दिया था। उन्होंने रूढ़िवाद, जातिवाद, वर्गवाद जैसी सभी प्रकार की सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने के लिए क्रान्तिकारी आन्दोलनों को जन्म देकर सारे मानव समाज का कर्त्तव्यपरायणता के प्रति सतर्क रहने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। यदि वे महापुरुष वर्ण-व्यवस्था को जन्मानुसार मानने वाले होते तो सामाजिक अत्याचारों के विरुद्ध क्रान्ति की ज्वालाएं प्रज्वलित न करते।

हम पूरे समाज को अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। यह ठीक है कि जातिवाद, वर्गवाद, अस्पृश्यता, ऊंच-नीच, घृणा तथा अन्य सामाजिक बुराइयां स्वार्थपरत लोगों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए शुरू कीं। मगर फिर भी आज तथाकथित उच्च वर्ग ठाकुरों द्वारा हरिजनों के ग्राम के ग्राम बर्बाद किए जाते हैं। नित्यप्रति इन पर होने वाले अत्याचारों की घटनाएं हम समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं। यह सब हमारी परम्परा और सभ्यता के अनुरूप नहीं है। हम यह भी देखते हैं कि इन तथाकथित हरिजनों में भी परस्पर ऊंच-नीच का भेद है। वे परस्पर एक-दूसरे के साथ सामाजिक तौर से पृथक् हैं। उनका परस्पर का रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं है। वे जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संघर्षरत हैं यदि वह आदर्श उनमें नहीं है, तो दूसरों को उस आदर्श को अपनाने के लिए किस प्रकार उपदेश दे सकेंगे। मानव सभ्यता सबको समानता का उपदेश देती है। हिन्दू धर्म भी इसी आचरण का अनुयायी है। मानव किसी ऊंच-नीच के भेद में बंधा हुआ नहीं है। यह सब मनुष्य-कृत कुरीतियां हैं जिसे आज हमने समाप्त करना है।

हिन्दू-समाज के लिए यह एक चुनौती है कि इसी जातिवाद, वर्गवाद, अस्पृश्यता और ऊंच-नीच के भेद-भाव से तंग आकर करोड़ों लोग इस समाज से कटकर पृथक् हो गए हैं। मुस्लिम तथा ईसाई धर्म ग्रहण करके हमेशा के लिए हिन्दुओं के शत्रु बने। हमें इस भूल के लिए पश्चात्ताप करना चाहिए। इन सामाजिक परिस्थितियों और परस्पर घृणा करने के व्यवहार ने श्री ए० एन०

भारद्वाजजी की अन्तरात्मा को चुनौती दी है। उन्होंने इस ललकार को सहर्ष स्वीकार करके इन सब बुराइयों तथा रूढ़ियों को स्पष्ट करके प्रदर्शित अभियान का श्रीगणेश किया है। उन्होंने इस पुस्तक की रचना करने बुद्धिजीवियों का मार्गदर्शन किया है। आज ऐसे साहित्य की बहुत जरूरत है। मुझे आशा है कि आज की युवा पीढ़ी संकीर्णता की इन रेखाओं को तोड़ती हुई हिन्दू-समाज को पवित्र तथा निर्मल बनाने के लिए आगे बढ़ेगी और साहित्य की यह नवीन पुस्तक उन्हें सदैव प्रेरणा देती रहेगी।

—**डॉ० धनीराम शास्त्री**

1

वर्ण-व्यवस्था

'मानव की उत्पत्ति कब हुई ?'—यह एक संकुल विषय है । इस पर संक्षिप्त प्रकाश डालना ही प्रस्तुत पुस्तक के मूल विषय से सम्बन्ध रखता है । मानव की उत्पत्ति का वर्णन महाभारत के 'शांति पर्व' में मिलता है । पद्म पुराण—'स्वर्ग खंड' में भी कहा गया है और उसके अनुसार हिन्दुओं की धारणा भी यही है कि सर्वप्रथम अंतरिक्ष में एक तेजोमय एवं दिव्य पद्म की सृष्टि हुई थी । उस पद्म से ब्रह्मा पैदा हुए । ब्रह्मा से मानव-सृष्टि की उत्पत्ति हुई । प्रजा-सृष्टि के आरम्भ में ही प्रजापति ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड की सृष्टि की । ब्रह्माण्ड में अग्नि और सूर्य उग्र तेज से प्रदीप्त होकर जगमगाते थे । इसके बाद सत्य, धर्म, तप, ब्रह्मपदार्थ आचार और शौच आदि भी ब्रह्म से ही पैदा हुए । उनके बाद देव-दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, महोरग, यक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच और मनुष्य की रचना हुई । उस दीर्घातिदीर्घकालीन युग के समाज में परस्पर घृणा नहीं थी । तदनन्तर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामों के चार वर्ण हुए । आर्य-संस्कृति के अनुयायी हिन्दुओं का विश्वास है कि सृष्टि की उत्पत्ति इसी क्रम से हुई है । इसमें तर्क-वितर्क के लिए कोई स्थान नहीं है । मगर विवेकशील मानव इससे आगे बढ़कर कुछ अन्य प्रकार के विचार रखते हैं । उनकी उपर्युक्त धारणा पर बिल्कुल आस्था नहीं है ।

मानव-उत्पत्ति के विषय में ऐन्थ्रोपोलोजिस्ट अर्थात् प्राणी-शास्त्र के वैज्ञानिकों का अपना सिद्धांत है । इस विषय में उन्होंने इतनी सामग्री पैदा की है कि इस पर कई ग्रंथ लिखे जा चुके हैं, इस पर विवेचन करना इस पुस्तक का विषय नहीं है । इस पुस्तक में मात्र परस्पर मानव में समानता और वर्ण-व्यवस्था के प्रचलन के विषय में यह जानकारी देने का प्रयास किया गया है कि मानव-सभ्यता में वर्ण-व्यवस्था का कहीं भी ब्यौरा नहीं है और न ही वह किसी वर्ग से ही सम्बद्ध है । हमें समाज में जो भी विभाजन रेखा दिखाई देती है, वह सब अप्राकृतिक और मनुष्यकृत है ।

मानव में परस्पर भेद-भाव कब पैदा हुआ ? वे वर्णों में कब और कैसे विभक्त हुए ? उनमें अहंकार और ऊंच-नीच की भावना कब पैदा हुई ? यही इस पुस्तक की विषयवस्तु है। इस पर पाठकों की जानकारी के लिए संक्षेप से कुछ लिखना परम आवश्यक है। इसमें तो रंचमात्र भी संदेह नहीं कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने मानव को इस धरती पर समान रूप से पैदा किया था। उसके दरबार में वे सब एक समान हैं। किसी का स्थान बड़ा या छोटा नहीं है। वर्ण-सिद्धांत ईश्वर-प्रगति नहीं है; इस पर किसी को तर्क-वितर्क करने का अधिकार भी नहीं है। इसके साथ ही मानव का ध्यान धर्म के संविधान की ओर आकृष्ट होता है। धर्म का संविधान भी किसी काल में लिपिबद्ध होकर मानव का पथ-प्रदर्शक बना था। इसके अंतर्गत ही मानव ने मर्यादाओं और सीमाओं का निर्धारण किया था। अतीत का वह युग मानव-समानता का स्वर्ण युग था। किन्तु थोड़ा-सा समय बीतने के बाद ही मानव अपने स्वार्थ के वश में फंसकर परतंत्र हो गया। इसीलिए उसमें अपनी शक्ति के आधार पर अहंकार पैदा हुआ और परिवार अपने-अपने स्वार्थ के अनुसार विशिष्ट समुदायों में विभक्त होने लगे। इन्होंने एक-दूसरे पर अपनी प्रभुसत्ता का आतंक जमाने के लिए संघर्ष शुरू किए। फलस्वरूप ईश्वर का यह प्राकृतिक समाज अनेक समुदायों में विभक्त होता गया। उन्होंने धर्म की मर्यादा का स्वरूप भी अपने अभीष्ट स्वार्थों के अनुसार विकृत करना शुरू किया और दुर्भाग्यवश धर्म के उसी विकृत रूप को आने वाली पीढ़ी ने सच्चा-सनातन व मूल धर्म समझकर ग्रहण किया। इस प्रकार धर्म के मूल सिद्धांतों का लोप होता गया। जनसाधारण के सामने वही कुछ आया, जिसका उन्होंने झूठा प्रचार किया था।

आर्य-सभ्यता संसार की पुरानी सभ्यताओं में गिनी जाती है। इस पर हर हिन्दू को गर्व होना चाहिए। परन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ इसमें जो विकार आए और विविध संस्कृतियों के अंशों का इसमें जो मिश्रण हुआ, उस पर भी ध्यान देना आवश्यक है। आर्य-सभ्यता में निम्नलिखित जिन तत्त्वों के कारण आज हमें लज्जा का अनुभव होता है, उनको स्पष्ट करना भी हमारा कर्त्तव्य है। इसी सभ्यता के नाम पर आज वर्गवाद, ऊंच-नीच और अस्पृश्यता की दुहाई दी जाती है, किन्तु वर्गवाद और ऊंच-नीच के इस सिद्धांत को आर्य-सभ्यता की देन नहीं कहा जा सकता। आर्य-सभ्यता तो मानव को समानता तथा विश्व-बन्धुत्व का सन्देश देती है और मानव को मानव से घृणा के बदले प्रेम करना सिखाती है।

इसके प्रतिकूल जिन लोगों ने उन विजयी आर्य लोगों की सत्ता को चुनौती दी, उन्हें दस्यु कहकर अपनी प्रभुसत्ता के अधीन किया। इस प्रकार इन लोगों (आर्यों) ने अपने धर्म और सभ्यता के प्रचार-प्रसार के लिए उन लोगों (दस्युओं)को मार भगाया। वैदिक साहित्य ऋग्वेद आदि में आर्य और दस्यु शब्दों का सभ्य और असभ्य, सज्जन और दुर्जन शब्दों की तरह विपरीत अर्थों में प्रयोग हुआ है। आर्य

लोग दस्यु लोगों को निकृष्ट तथा हीन समझते थे और उनका सामाजिक बहिष्कार करने में कोई कसर उठा न रखते थे । उदाहरणार्थ—

(1) विद्वान् बज्रिन् दस्येव होतिमस्यार्य्यां द्मनभिन्द (1/2-3/3) ।

"हे बज्रिन ! हमारी प्रार्थना समझकर दस्युओं पर अस्त्र छोड़ो और आर्यों का हे इन्द्र ! धन और बल बढ़ाओ ।"

वे इस मंत्र द्वारा ईश्वर से दस्युओं के विरुद्ध उन्हें हनन करने के लिए प्रार्थना करते हैं । वे दस्युओं के साम्राज्यवाद का प्रसार नहीं देखना चाहते । उनका नाश कर उनके पैत्रिक अधिकारों पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते थे ।

(2) अभिदस्युं बकुरेणा धमन्तोरूज्योंष्चक्र थुरामार्य । (1/1-17/81)

"हे अश्वि द्वय ! बज्र से दस्यु को मारकर आर्यों पर ज्योति डालो ।"

इस मंत्र द्वारा दस्यु के विनाश और अपनी आर्य जाति की समृद्धि के लिए प्रार्थना की गई है ।

(3) हिरण्यमयमुतभोग समान हत्वौ दस्यून वर्णभावत ।

"इन्द्र ने हिरण्यमय धन दिया और दस्युओं को मारकर आर्यों को बचा लिया ।" अर्थात् वे कल्पना करते हैं कि ईश्वर दस्युओं का सर्वनाश कर आर्यों का संरक्षण करें । उन (दस्युओं) के प्रति आर्यों की क्या भावना थी, उस प्रतिक्रिया का प्रतिबिम्ब इन मंत्रों में मिलता है । मानवों में ऊंच-नीच तथा जातिवाद की सार्वभौमिकता किस प्रकार पैदा हुई ।

(4) यथादासान्यार्याणि वृत्राकरो बज्रिन् । (6/22/10)

सास्यामदा समार्यम् त्वया युजा सह हक्र तेन सहसा सहस्वता ।

(10/83/1)

(5) नव दशमिरस्तु वत् शूद्रार्यावसृज्येताम् । (शू-भजु 14/30)

(6) तयो हं सर्वं पश्यामि यश्चशूद्र उतार्य्य । (अथ-4/20/4)

(7) शूद्रार्य्यो चर्म्माण व्यायच्छेते । (ताण्डय 5/5/14)

ऊपर लिखित मंत्रों में दास, दस्यु और शूद्र शब्दों का प्रायः एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है । अपनी एकछत्र शक्ति के बल पर आर्य सर्वमान्य व प्रतिष्ठित बने । इस प्रकार दास आदि जातियां असहाय होने के कारण उनकी मर्यादा के अनुसार निरन्तर परतंत्र रहने से निम्न श्रेणी की हो गईं । यह मानव की मानव में ऊंच-नीच के आधार पर पृथकता की रेखा थी जो सशक्त आर्य जाति ने अपने स्वार्थ के लिए जातियों के मध्य खींची । इसी कारण समाज दो रेखाओं में विभक्त होकर इन विघटनकारी संस्कारों और परम्पराओं के अंतर्गत संगठित होने लगा । यही कारण था कि कुछ काल के बाद इस जाति के लोगों को निकृष्ट तथा हीन समझा जाने लगा । इस प्रकार मानव-समाज की समानता का संगठन स्वार्थों की पूर्ति हेतु

अपनी शक्ति के आधार पर ऊंच-नीच, श्रेष्ठ व निम्न की संकीर्ण भावनाओं में विभक्त होकर विश्रृंखलित होने लगा। इन विचारों के अंतर्गत आर्य मर्यादा को वचनबद्ध किया गया, जिसका उदाहरण पुरातन शास्त्रों में इस प्रकार मिलता है कि—

अकर्मादस्युः अभिनो असन्तु अन्य व्रतो अमानुषः ।
तवं तस्य अमित्र हन व धोदास दम्भ्ये ।।

अर्थात् दस्यु को कर्महीन, मननहीन, विरुद्ध व्रती और मनुष्यता से भी हीन कहकर वध करने का आदेश देता है और दास-दस्यु को अभिन्नार्थी सूचित करता है। दास का अर्थ यदि आज की तरह सेवक होता तो वध करने का आदेश न होता।

इस मंत्र से यह स्पष्ट होता है कि आर्य-सभ्यता के ऋग्वेदकालीन युग में मानव-समाज में जिसने समानता में कई युग व्यतीत किए थे, इतनी संकीर्ण व संकुचित मनोवृत्ति पैदा हो चुकी थी कि वह अपने तथाकथित कर्त्तव्य के आधार पर दस्यु जाति के लोगों को वध करने में पाप नहीं समझते थे। वे इतना भी सहन नहीं कर सकते थे कि उनका अस्तित्व भी उन्हें दिखाई दे। इस कारण उनका वध करने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं था। यह उस काल की दशा थी। यहां तक कि वृत्र, शम्बर और नमुचि नाम के असुरों को भी जगह-जगह दास और दस्यु कहा गया है। उस पुरातन काल में असुर जाति की सर्वश्रेठता थी। मगर वे आर्य लोगों द्वारा पददलित हुए। उनके निकृष्ट होने की धारणा बना दी गई। छान्दोग्य उपनिषद् में असुर जाति के प्रति आर्य लोगों के जिन संकीर्ण विचारों का पता चलता है उससे मालूम होता है कि उन्हें हीन बनाने के लिए किस-किस प्रकार के आक्षेपों से उन्हें बदनाम किया गया, जैसा कि—

"जो मनुष्य श्राद्ध, यज्ञ और दान से रहित हैं, वे असुर-धर्म्मा हैं। असुरों का यही सनातन धर्म है। वे अपने शवों को अर्थ, वस्त्र और अलंकारों से सजाते हैं। वे समझते हैं कि ऐसा करने से इस लोक का पुरुषार्थ सिद्ध होता है।"

दस्यु का अर्थ केवल शत्रु है। हिन्दू-दर्शन में प्रकाश के विरुद्ध आने वाले बादलों को जिस प्रकार वेद साहित्य ने 'दस्यु' कहा है, उसी प्रकार आर्यों से विरोध करने वाले लोगों को भी 'दस्यु' कहा है और उन आर्य लोगों ने विजयी होकर उन्हें दस्यु कहा और इस नाम से समाज को दो भागों में बांट दिया। यजुर्वेद में ऐसा उल्लेख मिलता है कि "विजानीह्यार्यान ये च दस्यवः" अर्थात् आर्यों और दस्यु को पृथक्-पृथक् जानो।

उन विजयी आर्य लोगों ने देखा कि समाज में कई लोग ऐसे भी हैं जो नित्य क्रिया की मर्यादा का पालन करने में असमर्थ हैं। वे यज्ञ और दान आदि की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं। उन्हें असुर-धर्म्मा, निकृष्ट तथा हीन कहकर उनका समाज

में बहिष्कार किया गया। वे अपने सम्बन्धियों के शवों को अपनी धारणा के अनुसार अलंकारों से विभूषित करते थे। वे अपनी इस सामाजिक रीति से हीन नहीं हो सकते थे। मगर उन (आर्य) लोगों की धारणा कुछ और ही थी। इस कारण उन्हें बदनाम किया जाता रहा। इस प्रकार की रीति आज भी देश के जंगलों और सुदूर पहाड़ों में रहने वाले आदिवासियों में पाई जाती है। यदि उस पुरातन युग में समाज वर्ण-व्यवस्था में आबद्ध होता तो वेदों में उन ऋषियों के नाम से जो मंत्र मिलते हैं, उनका संकलन इनमें नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन युग में जन्म के आधार पर वर्ण नहीं था, बल्कि कर्मानुसार ही समाज में वर्ण-व्यवस्था चलती थी।

युग-परिवर्तन के साथ मानव की सामाजिक अवस्था में भी समयानुसार परिवर्तन होता गया। मनुष्य कई प्रकार के स्वार्थों, ईर्षा-द्वेष और षड्यंत्रों में फंस कर अपने मूल सिद्धांतों से पथभ्रष्ट होकर विभिन्न कुरीतियों में फंसने लगा। मनु के युग में सामाजिक व्यवस्था विश्रृंखलित हो चुकी थी। परस्पर सामाजिक मर्यादा न रहने के कारण समाज किसी इकाई के संगठन में नहीं था। मनु को तत्कालीन समाज में श्रेष्ठ तथा उच्च समझा जाता था। उन्होंने समाज को किसी मर्यादा की इकाई में संगठित करने का प्रयास किया और इसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से चार भागों में कर्म-सिद्धांत के आधार पर विभक्त किया। उन्हें विश्वास था कि किसी सामाजिक उत्तरदायित्व के अंतर्गत समाज की इकाई संगठित रहेगी। उन्होंने चार वर्णों की परिभाषा इस प्रकार की कि ब्राह्मण का कर्म अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और त्याग होगा। शास्त्रों में इस वर्ण के कामों की यही व्याख्या है। वह एक ऐसा आदर्श है, जिसे मनन करके प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् ब्राह्मण वे हैं, जो दान करें, वेदों के अध्ययन में लीन रहें और यज्ञादि द्वारा देवताओं की अर्चना करते हों। आजीविका के लिए वे यज्ञ और अध्ययन करें। जिस व्यक्ति ने वैध उपायों से धन पैदा किया है, उससे ही दान लें। वे सबके उपकारी बनें। कभी किसी का अहित तथा अनिष्ट न करें। सबसे मैत्री स्थापित करना ही ब्राह्मण का परम धर्म है। वे उपनीत तथा एकाग्रचित्त होकर वेदाभ्यास में लीन रहें तथा नियमस्थ होकर पवित्र बुद्धि से वेद पढ़ें। वे वेद-अध्ययन, तीर्थ-स्थान और देश-दर्शन, इन तीन कार्यों के लिए समस्त पृथ्वी का भ्रमण करें। ब्राह्मण के शास्त्रों ने जो गुण बताए हैं, क्या वे गुण आज के ब्राह्मणों में हैं? आज का ब्राह्मण क्या ब्राह्मण कहलाने का अधिकार रखता है? इस आदर्श के अनुसार आज का ब्राह्मण पूज्य तथा श्रेष्ठ नहीं है। ब्राह्मण होने के लिए उसे अपने जीवन को साधने और एकाग्रचित्त होकर तपस्या करनी होगी।

इसी प्रकार क्षत्रिय का कर्म रक्षा, दान, यज्ञ, अनुष्ठान, स्वाध्याय में आत्यन्तिक आसक्ति है। वैश्य का कर्त्तव्य पशु-पालन और कृषि कार्य है। इसके

अतिरिक्त वे दान, यज्ञ, स्वाध्याय करें। वाणिज्य तथा कुसीदवृत्ति होना चाहिए। शूद्र का कर्म है कि वह असूयाहीन होकर उक्त तीनों वर्णों की सेवा-सुश्रूषा करे।

मनु की इस व्याख्या को तत्कालीन समाज ने अपनाया और इसका प्रभाव समाज पर इतना गहरा पड़ा कि लोग वर्ण-व्यवस्था के मूल सिद्धांतों से भटक गए। फलस्वरूप वे कर्म-सिद्धांत के स्थान पर जन्म-सिद्धांत के आधार पर विभक्त होने लगे। ब्राह्मण के घर पैदा होने वाले को ब्राह्मण ही कहा जाएगा। भले ही वह कितना ही अयोग्य और भ्रष्टाचारी क्यों न हो। इसी प्रकार शूद्र के घर पैदा होने वाला 'शूद्र' ही होगा, चाहे वह पंडित तथा विद्वान ही क्यों न हो। क्षत्रिय और वैश्य के घर पैदा होने वाला भी उसी वर्ण का होगा। वह ब्राह्मण या शूद्र नहीं हो सकता। वह अपने गुण और कर्म के अनुसार अपना वर्ण नहीं बदल सकता। इसी परिपक्व धारणा में समाज पनपने लगा। कुल्लूक ऋषि ने 'मनु-स्मृति' की टीका में कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों में जो क्रियाहीनता के कारण जातिच्युत हो जाते, वे चाहे मलेच्छभाषी हों या आर्यभाषी, सभी 'दस्यु' कहलाते। कुल्लूक ऋषि की इस परिभाषा से सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज के विभक्त वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, अपने पूर्वों के द्वारा निर्धारित कृत्यों का परिपालन करने के लिए उत्तरदायी थे। इसके विपरीत जो नियमों और मर्यादा का पालन नहीं करते थे, उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया। इन्हें दस्यु कहकर समाज में निकृष्ट तथा हीन स्थान दिया गया। मगर इन वर्णों की व्याख्या करते समय रामायणकाल में श्री नारद ने मान्धाता की शंका का समाधान करने के लिए उसे बताया कि वर्णों में कोई विशेषता नहीं है। यह समस्त जगत् ही ब्रह्ममय है। ब्रह्मा सबके सृष्टिकर्ता हैं। ब्रह्म-सृष्टि में सभी ब्राह्मण हैं परन्तु कर्मानुसार एक-एक सम्प्रदाय पृथक्-पृथक् वर्ण हो गया। उन्होंने व्याख्या करते हुए बताया है—

> "जो ब्राह्मण स्वधर्म का परित्याग करके काम-भोग में रत रहते थे, जिनका स्वभाव कठोर था, जो क्रोधी और लोहितांग थे—वे ही क्षत्रिय हुए थे; जो कृषि कर्म में लिप्त रहकर उसी से आजीविका चलाने लगे, गावादि पशुपालन में जो आसक्त हुए और जिन्होंने स्वधर्म का परित्याग कर इस विधि को अपनाया, उनकी गणना वैश्य वर्ण में की जाने लगी। फिर जिन्होंने हिंसा और असत्य का आश्रय लिया, जो किसी भी कर्म से निर्वाह करते। जिन्होंने शौचाचार त्याग किया और अत्यन्त लुब्ध स्वभाव के हो उठे, वे द्विज होते हुए भी शूद्र कहलाए।"

अर्थात् कर्म से वर्ण-विभाग था न कि जन्म से। रामायण-काल के विश्वामित्र क्षत्रिय थे, मगर वह अपने कर्मानुसार ब्राह्मण हुए। उनको दीक्षा रघुवंश के कुल-

पुरोहित वसिष्ठ ने दी थी। विश्वामित्र की दूसरी स्त्री का नाम उग्रा था जो दक्षिण की दैत्य जाति से सम्बन्ध रखती थी। वह आर्यों की दृष्टि से निम्न श्रेणी की थी। उसका पुत्र शुनःशेप हुआ। वह प्रकांड विद्वान और वेदों का मंत्रद्रष्टा था। इसके नाम से ऋग्वेद और यजुर्वेद में कई मंत्र मिलते हैं। इस प्रकार महाभारत-कालीन मातुंग ऋषि भी शूद्र से ऋषिपद को प्राप्त हुए थे। समाज में उनकी मान्यता थी। यदि जन्म से उन्हें हीन समझा जाता तो उन्हें समाज में प्रतिष्ठा और सम्मान न मिलता और न ही उनके प्रवचनों को ईश्वरकृत समझकर वेदों में शामिल किया जाता। अतः शूद्र के घर पैदा होने वाला शूद्र ही होगा, यह सिद्धांत निर्मूल तथा निरर्थक है। इस प्रकार कर्मानुसार ब्राह्मण ही विभिन्न वर्णों में विभक्त हुए। जो ब्रह्मवाणी अर्थात् अपने आदर्श कर्त्तव्यों को भूल गए, उनकी गणना दूसरे वर्ण-धर्म में की जाने लगी। जो अपने पुरातन धर्मतंत्र में एकाग्रता से आसक्त रहे और अपनी ब्रह्मवाणी को नहीं भूले वे सर्वश्रेष्ठ अगुआ ब्राह्मण कहलाए अर्थात् जो दस प्रकार के संस्कारों से सुसंस्कृत हैं, जो शुचि और स्वाध्याय में लीन हैं, जो शौचाचार में रत रहकर यजन, भजनादि षटकर्मों में अवस्थित हैं, जो नित्य गुरु-प्रिय, नित्यव्रती और सत्यनिष्ठ, अद्रोह, कृपा, सहानुभूति और तपस्या में विश्वास रखते हैं, उन्हीं को 'ब्राह्मण' कहते हैं।

'दस्यु' शब्द के अनुशीलन से पता चलता है कि वैदिक युग में पहले तो आर्य शब्द मनुष्य मात्र के लिए प्रयुक्त होता था और ईश्वर के पुत्र तथा मनु के पुत्र का नाम आर्य इसी संगति से हुआ था। फिर धीरे-धीरे आर्य, देव आदि शब्द श्रेष्ठ तथा उच्च लोगों के लिए और अनार्य, असुर, दस्यु आदि शब्द अभद्र, निकृष्ट तथा हीन लोगों के लिए प्रयुक्त होने लगा। तदनन्तर उक्त परिभाषा में तथाकथित संशोधन हुआ। उसके अनुसार दैवी सम्पत्ति वाले देव, आर्य और आसुरी सम्पत्ति वाले दस्यु, दास, अनार्य आदि कहलाए। ये चारों वर्णों के लोग होते थे। जैसे कुल्लक की टीका से स्पष्ट है कि क्रियाहीन हो जाने से उन्हें जाति-च्युत किया जाता था। इसी पतित दशा में इनकी वंश-परम्परा एक नये रूप में आरम्भ हुई। इस प्रकार संस्कार-हीन लोगों की जाति ही अलग चल पड़ी। चाहे उनका सम्बन्ध किसी भी वर्ण से क्यों न हो, उन्हें 'दस्यु' ही कहा जाएगा। समाज की इस मर्यादा में इनकी बस्ती गांव से दूर पृथक् बसने लगी। वे समाज से दूर-सुदूर जंगलों में रहने के कारण असभ्य तथा जंगली हो गए। निम्नलिखित कहावत से यही सिद्ध होता है—

"यदि वांछसि मूर्खत्वं ग्रामे वस दिन त्रयम्"

अर्थात्—"मूर्खता के लिए तीन दिन का ग्रामवास ही काफी है।"

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जंगल या ग्रामों में निरन्तर पृथक् रहना और सुसंस्कृतों से सम्पर्कहीन हो जाना वंश के पतन का निश्चित कारण है।

देश के ये जंगली और नगरों से दूर रहने वाले या पहाड़ों की कन्दराओं के निवासी मनुष्यकृत सामाजिक वर्ण-व्यवस्था के कारण हीन तथा अस्पृश्य हो गए। आज भी जरायमपेशा जातियां जो समाज से अलग-थलग ही रहती हैं, इनमें अनेक ब्राह्मण और राजपूत सम्मिलित हैं जो सभ्य समाज से अलग रहने के कारण जंगली, हीन तथा अस्पृश्य हो गई हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सभ्य, श्रेष्ठ लोगों और शहर तथा गांव से दूर रहने वाली जंगली और अस्पृश्य जातियों में जो बड़ा अंतर है, उसका कारण यह है कि ये वे लोग हैं जो एक युग से संस्कार और सभ्यता का सम्पर्क खो बैठे हैं। पुराणों में अनेक स्थलों पर पतित जातियों, इस प्रकार के दस्युओं तथा चांडालों का वर्णन है। महाभारत के 'सभा पर्व' में ईशान कोण के दरद, कम्बोज आदि दस्युओं की बस्तियों की चर्चा है। भीष्म ने शांतिपर्व में कहा है—

> "एक गौतम नाम का कुलीन ब्राह्मण भिक्षा की आशा से एक समृद्ध किन्तु ब्राह्मण-हीन गांव में गया और सब वर्णों का सम्मान करने वाले धर्मात्मा, सत्यवादी और दानी धनवान दस्यु के घर ठहर गया। धीरे-धीरे वह ब्राह्मण भी दस्यु की तरह हो गया और सुख-शान्ति में रहने लगा। इस बीच एक दूसरे ब्राह्मण ने आकर उस गौतम ब्राह्मण से कहा कि तुम मोहान्ध होकर यहां क्या कर रहे हो? उत्तम मध्य देशीय ब्राह्मण के शरीर से तुम्हारा जन्म है। किन्तु तुमने दस्यु भाव क्यों ग्रहण किया है?"

इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि महाभारतकाल में भी वर्ण-व्यवस्था अपनी चरम सीमा पर थी। इसी प्रकार अर्जुन के भाई भीम के साथ हिड़िम्बा का विवाह भी इसी तथ्य को सूचित करता है। हिड़िम्बा का पुत्र घटोत्कच ही रहा। वह अपने दूसरे भाइयों के समान प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त न कर सका।

उस युग में पतित एवं अनार्य जातियां अलग बस्तियों में रहती थीं। इनका सम्पर्क आर्य जातियों से वर्जित था। यहां तक कि उनमें जाकर बस जाने वाला आर्य भी पतित हो जाता था। अर्थात् दस्यु वही जातियां थीं जो आर्य संस्कृति, वर्णाश्रम, धर्म-संस्कार और आर्य स्मृतियों का अनुकरण नहीं करती थीं।

इस प्रकार उत्तमवर्णीय कहलाने वाले ब्राह्मणों का समाज में उन्माद बढ़ने लगा और नीच कही जाने वाली जातियां उनके आतंक में पिसने लगीं। समाज में फैली इस अव्यवस्था को देखकर श्रीकृष्ण ने दुर्दान्त ब्राह्मणों की शक्ति से लोहा लेकर उसे समाप्त किया था। उन्होंने अनथक एवं अपार परिश्रम से शांति की स्थापना की थी। उन्होंने भगवद्गीता में धर्म का विवेचन किया और इस थोथे वाद-विवाद को समाप्त किया। उन्होंने असुर भावों के बढ़ने तथा फैलने की शंका और भय को भी दूर करके समाज को एक निर्मल वातावरण में परिवर्तित किया।

किन्तु भगवान कृष्ण द्वारा स्थापित यह शांति अधिक देर स्थिर न रह सकी। ज्योंही श्रीकृष्ण स्वर्ग सिधारे, ब्राह्मणों के मस्तिष्क में एक बार फिर संकीर्णता की भावनाएं उद्वेलित होने लगीं और वे ब्राह्मणों के निरंकुश अधिकारों की सत्ता में पिसने लगे। भगवान बुद्ध ने अपने जीवन को दांव पर लगाकर ब्राह्मणवाद का डट कर मुकाबला किया। बुद्ध के अभियान ने ब्राह्मणों की शक्ति को खूब क्षीण किया और उनके सभी नवनिर्मित शास्त्र तथा अस्त्र-शस्त्र मंद होकर रह गए। उनके स्वार्थपूर्ण आतंक की आधारशिलाएं डगमगाने लगीं। भगवान बुद्ध ने अपनी तपस्या से अर्जित ज्ञान की ज्योति का प्रकाश किया, जिससे सर्वसाधारण ब्राह्मणों द्वारा समाज को विभक्त करने वाली रेखाओं को अमान्य करके, लोग धड़ाधड़ उनके अनुयायी बनने लगे। बुद्ध के इस अभियान में ब्राह्मणवाद की सत्ता मृतप्राय हो गई। फलस्वरूप देश में कुछ काल के लिए फिर सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित हुआ। मगर वह चैन तथा स्थिरता चिरकाल तक स्थिर न रह सकी। भगवान बुद्ध के आन्दोलन को उनके अनुयायी संभाल न सके। सम्राट् अशोक की राजनीति ने उनके अभियान को शिथिल किया, जिस कारण ब्राह्मणवाद की प्रचंड सत्ता ने फिर से अपना अधिकार जमाना शुरू किया और सम्पूर्ण देश ब्राह्मणों की एकछत्र शक्ति के नीचे पिसने लगा। महात्मा बुद्ध के दिन-प्रतिदिन शिथिल हो रहे अहिंसावादी सिद्धांत पर भगवान शंकर ने अद्वैतवाद का सशक्त प्रहार किया। बौद्धों के शून्यवाद को 'सच्चिदानन्द' के अस्ति, भरति, प्रिय आदि सिद्धांतों से खंडन किया। बुद्धमत के आंदोलन ने जिस समानता का प्रसार करके ब्राह्मणों के एकाधिकार को खंडित किया था, शंकर भगवान के उग्र प्रचार से वह प्रभावहीन होकर रह गया। भेद-भाव पुनः पनपने लगा और समाज एक बार फिर वर्ग-विभाजन का शिकार हुआ। फिर से देश में ब्राह्मणवाद का डंका बजने लगा और वे एक बार फिर समाज के अगुआ बनकर सम्मान के उच्च सिंहासन पर आसीन हुए। दूसरे वर्णों के लोग विशेषतः शूद्र उनके बंधक बनकर रहने लगे। शंकराचार्य पुरातन विचारों के गुरु थे, इसलिए उन्होंने अपने विचारों की दृढ़ता के अंतर्गत अन्य वर्णों के लोगों की भावनाओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। वह यह समझते थे कि धर्म और वैदिक सभ्यता इन ब्राह्मणों के आधार पर ही सुरक्षित रह सकती है। इससे दूसरे वर्णों के लोगों में विद्रोह की चिंगारियां उठने लगीं। इसका फल यह हुआ कि उनके बाद समाज में एक क्रांति आई, जिसमें उनका सामाजिक ढांचा चरमराकर गिरता हुआ एक नये मार्ग की ओर अग्रसर हुआ।

समय अपने पथ पर चलता गया। समाज में मानव के पारस्परिक भेद-भाव और अन्याय के विरुद्ध पुनः उथल-पुथल होने लगी। एक वर्ग दूसरे वर्ग पर तथाकथित वरिष्ठता के आधार पर अपनी सामाजिक सत्ता जमाने के लिए

पाशविक अत्याचार करने लगा। फलतः ब्राह्मणवाद फिर से प्रबल हो उठा। उसकी छत्र-छाया में समाज एक बार फिर बंधक बना। सामाजिक बहिष्कार की घुटन में उन लोगों की स्थिति दयनीय थी। उनकी परछाईं तक को भी देखना अशुभ समझा जाता था। उनके आने-जाने के मार्ग अलग थे। वे अपने गले में घंटियां बांधकर चलते थे, ताकि उसकी आवाज सुनकर आने वाला ब्राह्मण एक ओर छिप जाए। राम और कृष्ण के ये भक्त सामाजिक दृष्टि से बिल्कुल कट गए थे। उस समय देश के दक्षिणी भाग में इन अछूत लोगों पर जो बड़े-बड़े अत्याचार हो रहे थे, उनकी चर्चा केवल देश में ही नहीं अपितु सारे संसार में थी। उस समय अरब देश के समाज-सुधारक यवनाचार्य का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। उन्होंने उनकी करुण वाणी को सुना। वह 9वीं शताब्दी के प्रसिद्ध देशसेवक थे, जिन्होंने मानवता के लिए अन्याय के विरुद्ध घोर संघर्ष किया। उन्होंने इन अछूत लोगों की करुणाजनक पुकार सुनकर यहां आने के लिए प्रस्थान किया। उस समय महात्मा शटकोट उनके अत्याचारों के अमानुषिक अत्याचारों की चुनौती का मुकाबला कर रहे थे। यहां आकर उन्होंने महात्मा जी के आंदोलन की सहायता की जिससे एकाधिकार वालों की सामंतशाही कांपने लगी। ब्राह्मणों की हिंसा के शिकार, त्रस्त तथा पीड़ित लोगों को अपने अहिंसक आन्दोलन से शांत किया। उनके बाद यह आन्दोलन तत्कालीन समाज में धीरे-धीरे चलता रहा। धर्म-नियम की आवश्यकता पर जोर दिया जाने लगा, जिसमें मानव का मानव के आधार पर सम्मान करने का आह्वान था। जब भी मानव पर आपदा आई, कोई-न-कोई युगपुरुष इस पृथ्वी-लोक पर उतरा, जिसने पाप का नाश और धर्म की वृद्धि की। इसी प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य का जन्म हुआ। समाज में व्याप्त वर्गवाद और वर्णवाद की अराजकता को देखकर उनका मन बहुत दुखी हुआ। संतप्त मानव की पुकार ने उनकी आत्मा को विचलित कर दिया। उन्होंने यवनाचार्य और शटकोट के अधूरे समाज-सुधार कार्य को पूरा करना अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाया। उन्होंने वैष्णव धर्म के अंतर्गत, अस्पृश्यता के विरुद्ध और जाति-पांति का भेद मिटाने के लिए एक व्यापक आन्दोलन किया जिससे ब्राह्मणवाद को गहरा आघात पहुंचा। उन्होंने समाज से बहिष्कृत अंत्यजों को गले लगाकर समानता का सन्देश दिया। कबीर ने भी इन्हीं के पदचिह्नों पर चलकर जाति-पांति का विरोध किया। उन्होंने अपनी प्रगतिशील ओजस्वी वाणी द्वारा जाति भेद के विरोध में प्रचार किया। उन कुरीतियों के विरुद्ध जो हिन्दू-समाज में रूढ़िवाद के कारण प्रचलित थीं, प्रेम और सौहार्द से रहने का प्रचार किया। इस प्रकार भारत की इस कर्मभूमि पर कई अवतार, संत-महात्मा के रूप में पैदा हुए, जिन्होंने समाज-कल्याण-कार्य—अस्पृश्यता और जाति-पांति के विरुद्ध किसी न किसी रूप में भीषण संघर्ष किया। उनके बाद रैदास आए। सदना कसाई का नाम भी इन्हीं संतों में गिना

जाता है। उन्होंने कसाई होते हुए प्रेम की बंसी बजाई और मानवता का सन्देश दिया। उन्होंने इस सन्देश को समाज से ऊंच-नीच का भाव मिटाने के लिए हर घर तक पहुंचाया। ये इतने उच्च सन्त हुए कि आज भी ब्राह्मण प्रातःकाल उठ कर बड़े आदर से इनका नाम स्मरण करते हैं। उस समय देश की सामाजिक दशा शोचनीय थी। लोग रूढ़िवादी सामाजिक कुरीतियों में जकड़े हुए थे। वे इन रूढ़ियों का पालन करना अपना धर्म समझते थे। समाज द्वारा बहिष्कृत लोग हीन दृष्टि से देखे जाते थे। इस प्रकार सामाजिक-समानता की इकाई निजी स्वार्थों के वर्गवाद में विश्रृंखलित हो गई।

उस युग में देश निराशा और रूढ़िवादिता के घोर अंधकार में सिसक रहा था। महाराजा विक्रमादित्य के शासनकाल में समाज नैतिक पतन और चरित्र-हीनता की चरम सीमा पर पहुंच गया था। सामाजिक अव्यवस्था के फलस्वरूप उस युग में धार्मिक क्रांति के लिए जो विप्लव हुए वे सब मानवीय अधिकारों की समानता के लिए ही हुए। समाज के जिस वरिष्ठ एवं सजीव अंग को सामाजिक अधिकारों से वंचित करके दस्यु, अनार्य आदि घृण्य नामों से पुकारा जाता था, वह वर्ग ब्राह्मणों की सार्वभौम सत्ता को जर्जरित करने और मनुष्य को मनुष्य न समझने की मनोवृत्ति के विरुद्ध घोर संघर्ष करता रहा। इतिहास से पता चलता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य को अभिजात कुलोत्पन्न नहीं माना जाता था। इसलिए यूनानी राजकुमारी हेलेन के साथ उसके विवाह को बहुत बड़ा जातीय महत्त्व नहीं दिया गया। इसी तरह बापा रावल का गजनी की शहजादी के साथ विवाह को प्रेम के स्थान पर पतन का ही परिचायक माना गया। फलतः उन्होंने शहजादी के लड़के को कोई हिन्दू नाम नहीं दिया। उसका मुस्लिम नाम 'खुमान' रखा गया। यह सब देश के सामाजिक पतन के ही चिह्न थे। यह ब्राह्मणवाद समाज के पतन की ही एक दुःखद यात्रा थी। उस युग से आगे बढ़कर जब हम सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के शासन काल का अवलोकन करते हैं तो पता चलता है कि उस समय समाज की अवस्था काफी शोचनीय थी। स्वयं पृथ्वीराज की यह दशा थी कि वह अपनी प्रिय पत्नी संयोगिता के साथ विलास-वाटिका में विहार करता रहा और मुहम्मद गौरी उस पर ताबड़तोड़ आक्रमण कर उसके राजसी ठाट और विशाल साम्राज्य को पांव तले रौंदता हुआ आगे बढ़ता रहा और अंत में वह उसका बंदी बनकर निःसहाय जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हुआ। भारत के सामाजिक पतन का इससे बड़ा उदाहरण भला और क्या होगा। सामाजिक पतन की अब कोई सीमा नहीं रही। पुरातन युग में जब शत्रु आक्रमण करते थे, तब यहां के वीर योद्धा अपनी शक्ति का प्रयोग किया करते थे। भारत का विदेशियों के आगे बार-बार पराजित होना सामाजिक पतन का ही सूचक है। उस काल में यहां की शूद्र कहलाने वाली जाति किस तरह पीड़ित थी, उनकी उस दयनीय

अवस्था का सहज में ही अनुमान किया जा सकता है ।

मुस्लिम युग में भी हिन्दुओं की देखा-देखी विदेशी शासकों ने शूद्रों के साथ जो व्यवहार किया, वह भी किसी प्रकार से प्रशसंनीय नहीं था । दूसरी ओर वे स्वयं घोषित उच्च जातियों द्वारा घृणित दृष्टि से देखे जाते थे । इन दीन-हीन शूद्रों ने उच्च जातियों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर मुस्लिम शासकों से लोहा लिया । वे संघर्ष एक प्रकार से धार्मिक थे । यद्यपि अस्पृश्य जातियों के साथ उच्च जातियों का राम और कृष्ण के भक्त होने के नाते परस्पर एक धर्म सम्बन्ध विद्यमान था । फिर भी वे सामाजिक दृष्टि से बहिष्कृत इन लोगों को अपने समाज का एक सामान्य अंग न बना सके । फलतः हिन्दू-समाज के राम और कृष्ण के भक्त ये अन्त्यज हिन्दुओं से तंग आकर इस्लाम को ग्रहण करने पर विवश हुए और मुस्लिम समाज में समानता का जीवन बिताने लगे । यह सामूहिक धर्म-परिवर्तन ब्राह्मणवाद के कारण ही हुआ । इसके बाद अंग्रेजी शासन में देश की सामाजिक व्यवस्था कुछ अलग प्रकार की थी । उस विदेशी शासन के कानून के डंडे से समाज में असमानता पैदा हुई । राजनैतिक तलवार से अस्पृश्य जातियों को हिन्दू समाज से काटकर पृथक् करने का प्रयास किया गया । उन अस्पृश्य लोगों ने अंग्रेज सरकार की नीति से विभ्रांत होकर अपनी भावनाओं का प्रदर्शन किया । अंग्रेज की कुचाल के वशीभूत इन विवेकहीन लोगों ने अंग्रेज शासन का गुण-गान करना शुरू किया और उनमें श्रद्धा दिखाने लगे । इस पर भी वे उनके शासन-प्रबंध में प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न कर सके, जिससे इनकी दशा शोचनीय ही रही । मगर अंग्रेज शासक की हिन्दू-समाज को विभाजित करने की नीति इन अभिमानी लोगों का हृदय परिवर्तित न कर सकी और समाज में अस्पृश्यता पूर्ववत् बनी रही । उस कोप में स्वामी दयानन्द ने एक प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन का सृजन किया । उन्होंने हिन्दू-समाज को झंझोड़ा । उनके विचारों की प्रतिक्रिया और अस्पृश्यता के अभियान के फलस्वरूप उन्हें आत्म-बलिदान करना पड़ा । इसी प्रकार उनके शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द ने अछूतोद्धार के इस कार्य को करने के लिए अपना जीवन दांव पर लगाया और यह क्रम धीरे-धीरे अपने प्रशस्त पथ पर चलता रहा ।

जब हम महात्मा गांधी के युग में आते हैं तो पता चलता है कि अपने पूर्वजों की तरह उन्होंने भी अस्पृश्यता के विरुद्ध अपना बहुमूल्य जीवन दांव पर लगा दिया था । उन्होंने देशाटन करके हिन्दू समाज को जागृत किया और अंग्रेजों की कूटनीति को विफल करके अन्त्यज भाइयों को गले लगाया । कांग्रेस सरकार ने महात्मा गांधी के उद्देश्य के अनुसार संविधान और कानूनों में इस अस्पृश्यता के सभी रूपों के सर्वथा उन्मूलन का प्रावधान किया । फिर भी इसका पूरी तरह उन्मूलन नहीं हुआ । ग्राम्य अंचलों पर इसका अब भी बड़ा प्रभाव है ! इस दिशा

में अभी निरन्तर काम करने की आवश्यकता है ।

वर्तमान युग में महामान्य महाराजा डा० कर्णसिंह जी का नाम भी राष्ट्रवाद के आधुनिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह उनकी दूरदर्शिता ही है कि उन्होंने हिन्दू-समाज को अपना नेतृत्व प्रदान करने की पहल की है । यह उनका ही साहस है कि उन्होंने सनातनधर्मावलम्बी चार मठों के शंकराचार्यों, सभी समुदायों के धर्माचार्यों और विभिन्न मतों के गुरुओं को विराट हिन्दू-समाज के मंच पर एकत्रित किया। उन्होंने एक स्वर से हिन्दू समाज में फैली हुई कुरीतियों विशेषतः अस्पृश्यता के विरुद्ध सभी देशवाशियों को सावधान किया और अन्त्यज भाइयों के साथ समानता का व्यवहार करने का सन्देश दिया । उन्होंने अस्पृश्यता के विनाशकारी परिणामों से हिन्दू-समाज को अवगत कराया । डा० कर्णसिंह ने घोषणा की है—"हिन्दू समाज में फैली हुई ये कुरीतियां विशेषतः अस्पृश्यता, वेदांत के उन महान आदर्शों और सत्य की सर्वथा अवहेलना हैं, जिस पर हिन्दूत्व आधारित है ।" वे उपर्युक्त मंच द्वारा दहेज प्रथा और अस्पृश्यता जैसी अवांछनीय सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन में प्रयत्नशील हैं। वे वर्तमान युग में समाज-सुधार का अद्भुत ऐतिहासिक कार्य कर रहे हैं । इससे पूर्व राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी ने भी यही किया था । यह सच है कि गीता के अनुसार 'यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाभ्यहेम् ।।' अर्थात् जब-जब देश में धर्म की हानि होती है और पापाचार बढ़ता है, तब-तब उसके विनाश के लिए भगवान मनुष्य के रूप में अवतार लेते हैं। इस सत्य को बनाए रखने के लिए सर्वशक्तिमान ईश्वर ने डा० कर्णसिंह को इस देश में पैदा किया । उन्होंने अपना राजर्षि जीवन त्यागकर भगवान बुद्ध की तरह त्याग और तपस्या का मार्ग अपनाया है। वे अपने प्रयास में संलग्न हैं । आशा है कि उनके अनथक परिश्रम और प्रयत्नों से हिन्दू-समाज में व्याप्त अस्पृश्यता जैसी भयंकर कुरीतियों का उन्मूलन होगा और ईश्वर उन्हें अपने पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता अवश्य प्रदान करेगा। यह उनकी उद्घोषणा है कि लोकतांत्रिक समाज में अस्पृश्यता हर रूप में गर्हित है। देश के सभी हिन्दुओं को इस अभियान में उन्हें सहयोग देकर अपने समाज को विनाश से बचाना चाहिए । उनका हिन्दूत्व तभी सुरक्षित रह सकेगा, जब वे इस अस्पृश्यता के संक्रामक रोग को दूर करने के लिए आगे बढ़ेंगे ।

हिन्दू-समाज के लोगों को अपनी कर्त्तव्यपरायणता के प्रति सतर्क रहना चाहिए । उनका हिन्दुत्व अपनी नींव पर तभी स्थिर रह सकेगा, यदि वे सौहार्द और बन्धुत्व का व्यवहार कर तथाकथित अस्पृश्य भाइयों को गले लगाएंगे। विगत हजारों वर्षों से देश के इतिहास में हिन्दूत्व पारस्परिक सौहार्द और एकता की आधारशक्ति रहा है। स्वतंत्र भारत में भी जब देश के विभिन्न भागों में विघटन-

कारी प्रवृत्तियां पैदा हो रही हैं, हिन्दूत्व ही एकता स्थापित करने में आज भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। यदि हिन्दू-समाज के लोगों को हिन्दू-धर्म पर थोड़ा-सा भी विश्वास और आस्था हो तो उन्हें पता होना चाहिए कि वेदांत मानव मात्र को एक परिवार में अनुस्यूत करता है। हरिजन हमारे भाई हैं और हिन्दू-समाज में समान अधिकार रखते हैं। सवर्ण हिन्दुओं के प्रेम और सौहार्द के पात्र हैं। अतः सवर्ण हिन्दुओं को इन्हें अपने समाज में पूरी प्रतिष्ठा तथा सम्मान देना चाहिए। यह हिन्दू-सभ्यता, संस्कृति और धर्म का उद्घोष है।

2

हिन्दू-धर्म में समानता

आज हमारा देश छुआछूत के रोग से पीड़ित है। हिन्दू-समाज के लिए यह एक गम्भीर समस्या है। आज के उन्नतशील युग में मनुष्य-मनुष्य के बीच वैर-भाव किसी भी जाति की उन्नति के लिए बाधक हो सकता है। परस्पर घृणा करना और एक-दूसरे से अपने आपको उच्च तथा प्रतिष्ठित समझना मानवता और हिन्दू-धर्म के प्रतिकूल है। यह एक ऐसा घुन है जो हिन्दू-समाज को खाए जा रहा है। देश के माथे पर यह एक कलंक है, जिसके कारण विश्व-समाज में लज्जा से झुक जाना पड़ता है। अपनी पुरानी रूढ़िवादी परम्पराओं के पिछड़ेपन में सिसकता हुआ यह दलित वर्ग राष्ट्र के भविष्य को धुंधला कर रहा है। इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। भेद-भाव के इस दुर्व्यवहार को दूर करने के निरन्तर प्रयत्नों के बावजूद भी यह पिछड़ा हुआ अछूत वर्ग हिन्दू-समाज में सम्मान का स्थान प्राप्त नहीं कर सका। हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति और धर्म छुआछूत की अनुमति नहीं देते। हिन्दुओं का कोई भी धार्मिक ग्रंथ इस बात की आज्ञा नहीं देता कि इस समाज का एक वर्ग दूसरे को अछूत समझे और न ही मनुष्य-मनुष्य से परस्पर घृणा करना ही सिखाता है। वह तो इसके विपरीत 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सन्देश देता है। वह न केवल अपने देश को बल्कि विश्व की मानव जाति को परस्पर प्रेम और बन्धुव की शिक्षा प्रदान करता है। वैदिक सभ्यता का उत्थान हिन्दू-समाज का उदयकाल माना जाता है। यदि हम वैदिककाल के धार्मिक ग्रंथों, तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था तथा परम्पराओं का अध्ययन करें, तो हमें कहीं भी मनुष्यों के प्रति इस कलुषित व्यवहार के चिह्न नहीं मिलेंगे। यह राष्ट्र के लिए दुर्भाग्य की बात है कि ये पिछड़े हुए लोग दरिद्रता की कीचड़ में अभी तक गरीबी की रेखा के नीचे अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं और पेट की भूख शांत करने के लिए इधर-उधर भटकते हैं और अपने कोमल तथा अबोध बच्चों को रोटी देने के लिए तरसते हैं। इनमें तन ढकने के लिए कपड़ा खरीदने की शक्ति

नहीं है । इनके पास रहने के लिए कोई मकान नहीं है । आज भी सभ्य राष्ट्र का यह वर्ग खुले आसमान के नीचे रात काटने को विवश है । इनकी झोंपड़ियों में जब वर्षा का पानी टपकता है तब इनकी दयनीय स्थिति को देखकर हर दयावान का हृदय करुणा से दहल जाता है । इनकी बस्तियां इतनी गंदी तथा बदबूदार होती हैं कि वहां बैठा नहीं जा सकता । क्या ये लोग हमारे राष्ट्र से उपलब्ध उन्नति के साधनों का उपयोग करने के योग्य नहीं हैं ? क्या एक स्वतंत्र प्रजातंत्र देश में इन्हें भरपेट भोजन प्राप्त करने का अधिकार नहीं है ? क्या ये रहने के लिए मकान की सुविधा प्राप्त करने योग्य नहीं हैं ?

ये लोग समाज का निम्न से निम्न काम करके दूसरे वर्ग के लोगों की सेवा करते हैं और उसके बदले इन्हें मिलती है—घृणा, उपेक्षा और लताड़ । इन्हें दिन-भर काम करके जो पारिश्रमिक मिलता है, वह इतना कम होता है कि उससे इनका निर्वाह नहीं होता । यह कुल मिलकर नहीं के बराबर होता है । इस प्रकार इन्हें काम की पूरी मजदूरी प्राप्त न होने के कारण इनकी आर्थिक स्थिति दयनीय है । इन्हें जो खाना दिया जाता है, वह मनुष्य के खाने योग्य नहीं होता । उनके और उनके बच्चों की प्लेटों से जो जूठन बच जाती है, वह गंदा खाना इन गरीब लोगों को बड़े ठाट के साथ दिया जाता है, जिसे उच्च वर्ग के लोग दान समझते हैं । इस पर वे इनके कृपापात्र होने का दावा करते हैं । इन्हें सद्व्यवहार तथा सहानुभूति प्राप्त होना तो दूर की बात है बल्कि अभिमानी सवर्ण वर्ग के लोगों ने इन्हें अपनी बस्तियों तथा गांवों से पृथक् रखा हुआ है । फलतः इन दरिद्र-नारायण गरीब लोगों की झोंपड़ियां गांवों और शहरों से दूर पृथक् देखने को मिलेंगी । ये लोग उनकी सेवा करने, पाखाना साफ करने और उनकी गंदी बदबू वाली नालियों की सफाई करने के लिए उनके घरों में तो दाखिल हो सकते हैं, मगर उनके साथ स्पर्श करने का अधिकार इन्हें नहीं है । ये जहां रहते हैं, वहां इतनी दुर्गंध होती है कि थोड़ी देर के लिए भी ठहरा नहीं जा सकता । वह स्थान मनुष्य मात्र के रहने के योग्य नहीं होता फिर भी इन्हें वहां पर विवशता से रहना पड़ता है । वहां पानी और रोशनी का भी प्रबन्ध नहीं होता । गन्दगी में जीवन-यापन करने वाले मनुष्यों की ये बस्तियां तथाकथित सभ्य समाज का ऐसा घोर नर्क हैं, जहां इन लोगों को धर्म के नाम पर पथभ्रष्ट कर अवसरवादी अपनी स्वार्थमयी इच्छाओं को पूर्ण करने हेतु इन्हें दबाए हुए हैं । आज के प्रगतिशील समाज में मनुष्य का मनुष्य के प्रति यह घृणित व्यवहार, अत्याचार और उपेक्षा की पराकाष्ठा है । दुर्भाग्य से अपने कथित उत्तरदायित्व के बोझ से यह वर्ग इस प्रकार दबा हुआ है कि वे यही समझते हैं कि गंदी नालियां साफ करना, पाखाना उठाना, गलियों और बाजारों की सफाई करना, मृतक जानवरों को उठाना व उन्हें दफनाना या उनकी खाल उतारना, शिष्ट लोगों के लिए मुफ्त में मजदूरी करना

ही इनकी जिम्मेदारी है। वे तो यही समझते हैं कि ईश्वर ने इन्हें केवल यह निकृष्ट काम करने के लिए ही पैदा किया है। उच्च, लाभप्रद और प्रतिष्ठित काम करने के लिए समाज के दूसरे लोग हैं। पीढ़ियों से चले आ रहे हीनता के भाव के कारण इनकी बुद्धि इतनी जड़ हो चुकी है कि वे इनसे आगे सोच ही नहीं सकते कि वे उन तथाकथित सवर्ण हिन्दुओं का धंधा तथा व्यापार करने के योग्य हैं। इन लोगों में इस प्रकार के विचार अब भी पाए जाते हैं।

यह कैसी विडम्बना है कि विज्ञान के इस युग में आज जब मानव सभ्यता के नाम पर केवल देशों तथा जातियों में ही नहीं, बल्कि महाद्वीपों की सीमाओं को चीरकर पारस्परिक घृणा और द्वेष को दूर करने के प्रयास में प्रयत्नशील हैं, मगर दूसरी ओर हमारे देश में मनुष्य जाति के एक बहुत बड़े वर्ग को कथित उच्च वर्ग के लोगों ने सामाजिक दृष्टि से अपने अधीन रखा हुआ है और इन गरीबों पर उन अवसरवादी लोगों का आधिपत्य है। वे अभी तक बिना रोक-टोक परमात्मा का घर और सबके लिए एक समान मन्दिरों में दाखिल नहीं हो सकते। ये लोग निरन्तर स्वार्थी लोगों की पराधीनता और सामन्ती परम्परा में अपना जीवन काटने के लिए विवश हैं जिसे उन्होंने अपनी प्रभुसत्ता की निरंकुशता में जकड़ा हुआ है। अभी तक ये बिना रोक-टोक सार्वजनिक कुओं और तालाबों से पीने के लिए पानी प्राप्त नहीं कर सकते। वे उनको केवल अपने लिए ही सुरक्षित समझते हैं। मानव व्यवहार की यह हृदयविदारक घटनाएं कितनी आश्चर्यजनक हैं कि अन्त्यज बढ़िया, बहुमूल्य नये कपड़े और आभूषण पहनकर अपने घरों से बाहर नहीं निकल सकते। कारण तथाकथित उच्च जाति के हिन्दुओं को यह पसन्द नहीं कि ये लोग उन जैसे अच्छे, स्वच्छ और बढ़िया वस्त्र पहनें। यहां तक कि वे उनके सामने घोड़े पर भी नहीं बैठ सकते। ब्याह-शादियों में भी इस वर्ग का दूल्हा घोड़े पर बैठकर नहीं जा सकता और न ही दुल्हिन पालकी में बैठकर आ सकती है। ये सब परिवर्तन उन अवसरवादी उच्च वर्ग के लोगों को पसन्द नहीं हैं। उन्हें यह सब असह्य है कि वे पददलित लोग उन जैसा साफ-सुथरा जीवन बिताने के बारे में भी सोचें और उन जैसे रीति-रिवाजों को अपनाएं। वे इस भ्रांति में हैं कि ये खुशियां और सुविधाएं केवल उनके लिए ही सुरक्षित हैं। आर्य-सभ्यता के इस देश में आज भी ऐसे गांव देखने को मिलेंगे, जहां ब्याह-शादियों और मेलों-उत्सवों आदि में इस वर्ग के लोगों को देखना अशुभ समझा जाता है। यदि वे बेचारे कहीं बाहर जाना चाहें तो उन्हें अपने गले में घंटियां बांधकर जाना पड़ता है, ताकि चलते समय घंटियों की आवाज से तथाकथित सवर्ण जाति के लोगों को उनके आने का पता चल सके और वे उनका मुंह न देख सकें और न ही उनकी परछाईं उन अभिमानी लोगों पर पड़ सके। देश के दक्षिणी भाग में कुछ विशेष सड़कें ऐसी थीं जहां इन वर्गों के लोग घूम नहीं सकते थे। यदि किसी ब्राह्मण से

बात करने की जरूरत पड़े, तो वे किसी ओट या परदे के पीछे खड़े होकर बातचीत कर सकते थे। इन स्वार्थी घमंडी लोगों की यह सामंतशाही इस सीमा तक आगे बढ़ चुकी थी कि इन हीन लोगों के लिए ब्राह्मण की भाषा तक का प्रयोग करना अपराध माना जाता था। इस प्रकार कई अमानवीय घटनाएं देवताओं की इस पवित्र भूमि पर दृष्टिगोचर होती थीं और आज भी होती हैं। इस प्रकार की घटना का ब्योरा उदाहरणस्वरूप पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दिया जाता है—

> "मालाबार के अतपल्म गांव में इजवा वर्ग का शिव रामन नामक 17 वर्ष का लड़का एक सवर्ण हिन्दू की दुकान पर नमक खरीदने गया। उसने मलयालम भाषा में 'अल्पों' मांगा। वहां रिवाज है कि सवर्ण हिन्दू ही नमक को 'अल्पों' कह सकते हैं। अछूत होने के कारण उसको 'पुली चुन' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था। उस सवर्ण दुकानदार को क्रोध आया और लड़के को इतने जोर से पीटा कि वह मर गया।"
>
> —बम्बई समाचार 4 नवम्बर, 1936

मानव जाति के इस वर्ग के प्रति इस प्रकार के क्रूरतापूर्ण अत्याचारों के असंख्य उदाहरण आज भी इस देश में दृष्टिगोचर होते हैं। राजनैतिक नेता और समाज-सुधारक इस अमानवता तथा पाप के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। मगर उनमें अपने सामंतशाही व्यवहार में तनिक भी परिवर्तन करके दूसरों के प्रति सौहार्द तथा दया करने का विचार नहीं आया।

प्राचीन काल से लेकर मुस्लिम काल तक हिन्दू-समाज के तथाकथित उच्च वर्ग ने सम्पूर्ण समाज के आर्थिक ढांचे को अपनी चालाकियों और कूटनीति के चंगुल में इस प्रकार चित्रित कर रखा था कि किसी में यह सोचने का भी साहस नहीं हुआ कि वे अपनी कर्त्तव्यपरायणता की ओर आकर्षित हो सकें और उनके अत्याचारों के प्रति विरोध प्रदर्शित करके उनके सर्वाधिकार को चुनौती दे सकें। यहां तक कि अंग्रेजी शासनकाल में भी इस वर्ग का एक भाग जन्म से अपराधी समझा जाता था जिन्हें 'अपराधी अनुसूचित जन जाति' (Criminal Tribes) कहा जाता था। पुलिस चौबीस घंटे उनकी निगरानी करती थी। उनकी दिनचर्या और उनके घूमने-फिरने पर पुलिस का कठोर अंकुश रहता था। इधर-उधर आने-जाने के लिए उन लोगों को पुलिस से आज्ञा प्राप्त करनी होती थी। उनकी आज्ञा के बिना वे अपने स्थान को नहीं छोड़ सकते थे। उस अंग्रेजी राज्य के कानून के अनुसार इस वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति व्यावसायिक अपराधी माना जाता था जो स्वेच्छा से इधर-उधर घूमने के अधिकारों से वंचित था। मानव के मौलिक अधिकारों पर यह एक बड़ा डाका था अर्थात् वे अपने जीवनयापन के लिए इस प्रकार का अपमान सहन करते थे।

कानून को भंग करने की अवस्था में इन्हें केठोर दंड भुगतना पड़ता था। पुलिस को सूचना दिए बिना इनमें से कोई यदि अपनी इच्छा से इधर-उधर जाने का साहस करता तो उसे कई प्रकार की यातनाएं सहन करनी पड़ती थीं। कभी-कभी तो ऐसे दंड के प्रकोप से वे काल का ग्रास भी हो जाते थे। इनको दिए जाने वाले दंड के विरुद्ध कोई युक्ति एवं आवेदन का प्रावधान न था। हाईकोर्ट तक को भी यह अधिकार नहीं था कि इनकी याचिका पर विचार कर सके। मगर ईसाई प्रचारकों की देख-रेख इन पर होती थी और ये उनके दया के पात्र बनने के लिए उनकी हर आज्ञा को प्रसन्नचित्त होकर पालन करने के लिए हर समय तत्पर रहते थे। अंग्रेजी शासन की इस धांधली के विरुद्ध तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं ने अपनी आवाज बुलन्द की और इनके साथ किए जा रहे अमानवीय व्यवहार के विषय में सरकार को सावधान किया। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि मानवीय अधिकारों की स्वतंत्रता पर इस प्रकार की लूट जारी रही तो उसके परिणाम गम्भीर होंगे। उन नेताओं ने इस काले कानून के विरुद्ध अपना आन्दोलन जारी रखा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस अस्पृश्यता तथा घृणा की भावना ने हिन्दू-समाज को इतना कमजोर कर दिया है कि देश की प्रगति को प्रत्येक पग पर बाधाओं का सामना करना पड़ता है। भारत का स्थान ऐसे देशों की सूची में सर्वोपरि होगा, जहां परस्पर अस्पृश्यता के आधार पर मनुष्य से घृणा की जाती है। मानव-जाति के एक वर्ग को सभी प्रकार के मानवीय अधिकारों से वंचित करके उसे भेद-भाव की दृष्टि से देखा जाता है। दुर्भाग्य से अछूत के घर पैदा होने के कारण हिन्दू-धर्म के अनुयायी होने पर भी वे मानव अधिकारों की मानवोचित प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं कर सकते। आज जबकि विश्व मानव विज्ञान के प्रकाश में उन्नति की ओर अग्रसर है, सामाजिक बुराइयों और अन्य त्रुटियों को दूर करने हेतु प्रयत्नशील है; मगर हमारे देश के इस अभागे जन-समुदाय का बहिष्कार सभ्यता के माथे पर कलंक के समान है जो हिन्दू जाति के लिए अपमानजनक है। इस संघर्ष में स्वार्थी लोगों का आतंक होने के कारण दिन की चकाचौंध में श्री करपात्री के नेतृत्व में अवसरवादियों ने इन्हें बुरी तरह से संकीर्णता तथा आतंक का निशाना बनाया। उन पर यह एक ऐसा आक्रमण था जिससे मानवता की जड़ें हिल जाती हैं। उन्होंने अपनी संकीर्णता और सर्वाधिकार का जो प्रदर्शन किया, उससे ऐसा लगता था कि यदि किसी ने उनके इस तथाकथित जन-हितकारी व्यवहार, जो वास्तव में अमानवीय और अभद्रतापूर्ण व्यवहार था, में जरा भी हस्तक्षेप करने का साहस किया तो पूरी शक्ति तथा तीव्रता से उसका मुकाबला किया जाएगा। यह कितना खेदजनक है कि उन लोगों की सोच में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा। वे यह भी सहन नहीं कर सकते कि इन अछूत लोगों के उत्थान के लिए कोई छोटे-से-

छोटा कदम भी उठाया जाए। यह सब किए जाने वाले अमानवीय व्यवहार हिन्दू जाति को कहां ले जाएंगे, कहना कठिन है।

हिन्दू-समाज में छुआछूत की बीमारी कब पैदा हुई, यह एक दूसरा प्रश्न है जो विचारणीय है। मगर यह तो प्रमाणित हो चुका है कि ये हिन्दू-जाति के धर्म के अनुसार नहीं है कि एक-दूसरे से छुआछूत के आधार पर घृणा करें या अत्याचार करें। हिन्दू सभ्यता इन सब बातों के विरुद्ध है। मगर इसके बावजूद भी धर्म के नाम पर पुरानी परम्पराओं को बनाए रखने के लिए लोगों को पथभ्रष्ट किया गया जो उनकी जड़ों को खोखला कर रही हैं। छठी शताब्दी में जब बौद्ध मत की प्रतिष्ठा कम होने लगी और शंकराचार्य के नेतृत्व में हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान शैव मत के रूप में हो रहा था, तब ब्राह्मणवाद का नाद हिन्दू-समाज को अपने स्वार्थमय अभिप्राय हेतु अपने अधीन रखने का इच्छुक था। जिस मत के प्रचार के लिए किए जाने वाले अत्याचार उचित समझे जाते थे, जिसने तनिक भी उसके विरुद्ध सर उठाया या जिसने भी विरोध करने का साहस किया, उसका चिह्न तक मिटा दिया जाता था। कोई पूछने वाला नहीं था। उस समय विचारों की भिन्नता रखने वाले का वध करना एक साधारण बात समझी जाती थी। शैव मत के अनुयायी यह समझते थे कि उनका विरोध करने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। इस स्वयंनिर्मित आदेश के आडम्बर में राजा सिंधवा की सेना शंकराचार्य के साथ विजयी की तरह धर्मोन्माद में बड़ी जोशीली भावनाओं के साथ आगे बढ़ती थी और जो उनके सामने आते थे, उन्हें अशुद्ध शब्द की तरह समाप्त कर दिया जाता था। कोई ऐसा वीर योद्धा देश में नहीं था, जो उनका मुकाबला कर सकता। इस पर भी उनकी प्यास शांत न हुई। उस क्रूर राजा ने रामेश्वर से लेकर हिमालय तक बौद्धों का वध करने की शाही घोषणा जारी की। "उनके सब लोगों यहां तक कि उनके बूढ़े और बच्चों तक को भी न छोड़ा गया था। और जो उन पर दया करे या उन्हें क्षमा कर देना चाहे, उसका भी संहार कर दिया जाए।" बौद्धों के इतिहास से पता चलता है कि पुष्यमित्र शुंग ने पाटलिपुत्र के सब बौद्ध मठों को भस्मीभूत कर उनके चिह्न तक मिटा दिए थे और घोषणा की थी कि जो मनुष्य बौद्धों के सर काट कर लाएगा, उसे प्रति सर सोने के एक सौ सिक्के पुरस्कार के रूप में दिए जाएंगे। अपने व्यक्तिगत निकृष्ट इरादों और स्वार्थों को पूरा करने के लिए, अपने मत के नाम पर कई तरह की भ्रांतियां पैदा कर मिथ्या एवं उल्टी-सीधी निरर्थक बातें फैला दी गईं। उस अराजकता में पैदा होने वाली बुराइयों में अस्पृश्यता की बीमारी ने और भी जड़ पकड़नी शुरू कर दी। उस समय भी जागरूक बुद्धिजीवियों ने इस ब्राह्मणवाद के आन्दोलन का तीव्र विरोध किया था। मगर इनकी बढ़ती हुई शक्ति की इस लहर में मानवता को स्थिर रखने की करुणाजनक प्रार्थनाएं किसी को प्रभावित न कर सकीं। सबसे

बड़ी आश्चर्य की बात तो यह है कि शताब्दियों तक इन लोगों को पांव तले कुचल-कर भी अपने को कुलीन तथा उच्च कहने वाले हिन्दू-समाज के इस वर्ग की प्यास शांत न हुई। फलतः उन संकीर्ण लोगों के दुस्साहस के कारण हिन्दू-समाज में ऊंच-नीच की बुराई को फैलने का बढ़ावा मिला। किसी प्रकार की रुकावट न होने पर यह आन्दोलन फैलता ही चला गया। इसका प्रभाव यह हुआ कि हिन्दू-समाज का जो वर्ग सेवा और सफाई करने का काम करता था, उसके बच्चे भी वही निम्न काम करने के लिए विवश होने लगे। इस तरह जन्म के आधार पर ये दूसरों का पाखाना, गंदी नालियों और सड़कों की सफाई करने के काम के लिए बाध्य कर दिए गए। ब्राह्मणवाद की ओर से समाज को विभाजित करने का यह एक ऐसा आक्रमण था जो उस काल में मानवता के लिए एक कलंक था। ये धीरे-धीरे पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह काम करने के अभ्यस्त होते गए और इसे अपने तथाकथित परम्परा के काम को अपना धन्धा बनाया। दूसरा कोई और प्रतिष्ठित धन्धा करने का विचार इनके दिमाग से समाप्त हो गया। इनके लिए इस कार्य को छोड़कर किसी दूसरे व्यवसाय को करना कठिन हो गया। इस प्रकार विभाजन के बाद और विभाजन होने से समाज पृथकता के कई टुकड़ों में बंटता चला गया औन इस संगठित भारतीय समाज का ढांचा विश्रृंखलित होने लगा। एक वर्ग दूसरे वर्ग को अपने अधीन करने के लिए संघर्ष करने लगा। शताब्दियों से चले आ रहे वैमनस्य और संघर्ष के आधार पर अंग्रेज सरकार ने भी लाभ उठाया। उसने इस समाज को तीन भागों में विभाजित किया था। हिन्दू, आदिवासी और अछूत। शहर से दूर जंगलों और पहाड़ों की कंदराओं में रहने वाले नंगे तथा मानव सभ्यता से दूर निवास करने वालों को 'आदिवासी' कहकर हिन्दू-समाज से पृथक् कर दिया गया। उपेक्षा की पीड़ा एवं घृणा के विष को मूक होकर पीने वाले इस विभाजनग्रस्त दंडित वर्ग को अंग्रेजों ने कहीं का भी न रखा। ये हिन्दू-समाज की मुख्य धारा से पूर्णतः विच्छिन्न कर दिए गए। इसके साथ—'विभाजन कर, शासन करने की' की कूटनीति के अंतर्गत अंग्रेज सरकार ने हिन्दू-समाज में सेवा का काम करने वालों को अछूत कह कर इसे समाज का एक पृथक् वर्ग बनाने की घोषणा की। यह विभाजन आंतरिक रूप से हिन्दू-समाज को क्षत-विक्षत करने वाला था। अंग्रेजों का उद्देश्य तो कूटनीतियों द्वारा अपने साम्राज्य की नींव को सुदृढ़ बनाना था ताकि इस सम्पन्न उपनिवेश की धन-दौलत से अपने देश को समृद्ध कर सकें। वे जानते थे कि उनका यह काम इस देश के सामाजिक ढांचे को विश्रृंखलित कर और भी सुगम बना सकता है।

यदि हम वैदिक काल की सामाजिक व्यवस्था पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि उस पुरातन काल में छूतछात का कोई चिह्न नहीं था। धार्मिक एवं साहित्यिक ग्रंथों में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है, जिससे यह कहा जा सके कि उस काल में

परस्पर घृणा करने और ऊंच-नीच समझने का प्रचलन था। यदि कहीं 'अस्पृश्य' शब्द मिलता भी है तो उसका तात्पर्य यह नहीं कि उस समय समाज ऊंच-नीच की रेखा से विभाजित था। समाज का कोई भी वर्ग उस समय घृणा तथा निकृष्टता से नहीं देखा जाता था। यह 'अस्पृश्य' शब्द सुर तथा असुर की लड़ाइयों में, जो परस्पर सचाई और न्याय के नाम पर एक-दूसरे को अपनी प्रभुसत्ता के अधीन करना चाहते थे, उनके लिए प्रयोग में आया था, जिसका मनुष्य के साथ छुआछूत करने का दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। उस समय असुर तथा दस्यु आदि देश में ऐसी जातियां थीं, जिन्हें आर्यों की घृणा और प्रकोप का निशाना बनना पड़ता था। परन्तु वे विजेता आर्यों को पीड़ा देने के दृष्टिकोण से उनके धार्मिक अनुष्ठानों में बाधा पहुंचाते थे और उनकी प्रभुसत्ता को मानने से इन्कार करते थे। इस प्रतिरोष में उन नवागन्तुक आर्यों ने संकीर्णतावश इन मूल निवासी जातियों को अस्पृश्य कह कर सम्बोधित किया था। उस समय परस्पर भेद-भाव करने की कोई कुरीति नहीं थी। हिन्दुओं के पवित्र और धार्मिक ग्रंथ ऋग्वेद के अध्ययन से हिन्दू-सभ्यता तथा संस्कृति की वास्तविकता का यह पता चलता है कि उस समय के समाज में जाति-पांति, छुआछूत और ऊंच-नीच के लिए कोई स्थान नहीं था। भ्रातृत्व की भावना तथा पारस्परिक मेल-जोल और सहानुभूति उनके जीवन के मुख्य नियम थे। समाज का गठन और चलन एक-दूसरे से आपसी बन्धुत्व की नैतिकता से सम्बन्धित था। समाज का समूचा ढांचा एक-दूसरे के प्रति भाईचारे के स्नेह से बंधा हुआ था। अथर्ववेद के अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में उन लोगों का परस्पर सम्बन्ध बिना किसी जात-पांत तथा ऊंच-नीच की बुराइयों के था। मगर ये सभी आदर्श स्थायी रूप से स्थिर न रह सके। कई कारणों से उन आदर्शों का ढांचा बिखरने लगा और जाति-पांति, भेद-भाव तथा ऊंच-नीच की बुराइयों की दलदल में फंसने लगा। छुआछूत की यह बीमारी एक-दूसरे के विरुद्ध घृणा तथा स्वार्थप्रधान पुराने विचारों और कई तरह की रूढ़ियों एवं आडम्बरों से हिन्दू-समाज की एकता को भीतर ही भीतर चाटने लगी जिससे विनाश की बुराइयां पनपने लगीं।

यदि हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था का गम्भीरता से अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि जिस समय हिन्दू-समाज को चार भागों में विभाजित किया गया था उस समय इसका उद्देश्य किसी बुरी भावना से नहीं था। उस समय की आवश्यकता और मांग को अनुभव करते हुए ऐसा किया गया था। मगर इसका यह अभिप्राय नहीं था कि यह विभाजन आगे चल कर समाज में छुआछूत की कुरीति पैदा करे। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि समाज के हित तथा कल्याण हेतु किया गया कार्य-विभाजन भविष्य में लोगों के पतन का कारण बना और जन्म के आधार पर विभाजन का सिलसिला शुरू हुआ। और इसका यह भी अभिप्राय

नहीं था कि उन्हें कोई दूसरा धन्धा करने का अवसर ही न दिया जाए, वे अपने पूर्वजों की विरासत से प्राप्त होने वाले इस तथाकथित खानदानी पेशे में ही फंसे रहें, जिसे समाज का कोई दूसरा व्यक्ति करने को तैयार न हो। समाज का एक स्वार्थी वर्ग अपने स्वार्थों के लिए इन्हें अपने बंधुआ बना कर रखे। यह मनुष्य के अपने दृष्टिकोण के अनुसार है जो अपने धर्म से विमुख होकर कमजोर वर्ग को अपने स्वार्थों के लिए उपयोग करता है और फिर उन्हें अछूत कहकर घृणा करता है। उनके इस अमानवीय एवं असभ्य व्यवहार के विरुद्ध तत्कालीन नेताओं और समाज-सुधारकों ने आन्दोलन किए और इस प्रकार के घृणित व्यवहार की भरपूर निन्दा की जाती रही।

हिन्दुओं के पुराने धार्मिक कथानकों से मालूम होता है कि ब्रह्मा ने भी विचार-विनिमय करते समय ब्राह्मणवाद और उनकी सर्वश्रेष्ठता का विरोध और निन्दा की थी। उन्होंने बताया था कि मनुष्य एक-दूसरे के समान है और वह किसी विभाजन के अन्तर्गत एक-दूसरे से बड़ा-छोटा या श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं है। उसके शरीर में वह सब कुछ है जो दूसरे के शरीर में है। ईश्वर ने तथाकथित अछूत के शरीर में कोई ऐसी त्रुटि पैदा नहीं की, जो तथाकथित ऊंची जाति के लोगों में अधिक हो। इन सबकी धमनियों में एक जैसा ही रक्त बहता है। जब परमात्मा के सामने सब समान हैं तो मनुष्य, जो ईश्वर की देन है, समाज में कैसे वैमनस्य पैदा कर सकता है। यह सब विभाजन स्वार्थों का है, जो स्थायी नहीं हो सकता। हिन्दू दर्शन के उपनिषद भी मानव की समानता का प्रमाण देते हैं। ये भी इस वैमनस्यता तथा पृथकता के विरुद्ध हैं। समाज में फैलाई गई भ्रांतियों के विरुद्ध जिसने अपना तथाकथित ईश्वरीय निर्णय दिया है, वह धर्म के अनुकूल नहीं है और उसने गुमराह करने का प्रयास किया है। जन्म के आधार पर समाज का कोई भी वर्ग छोटा-बड़ा नहीं है और इसमें सब वर्गों के लोग समानता के भागीदार हैं। सबके शरीर एक तरह की बनावट के हैं। सबमें मांसपेशियां और उनका गठन एक ही तरह का है। अत: हिन्दू-दर्शन मानव स्वार्थ पर आधारित जाति-पांति और अस्पृश्यता के विरुद्ध लोगों को जानकारी देता है। इसी प्रकार भगवद्पुराण भी हिन्दू-सभ्यता पर प्रकाश डालता है जो हिन्दुओं का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है और जो समानता तथा भ्रातृत्व व्यवहार करने की शिक्षा देता है। बाहरी और आंत-रिक रूप से ब्राह्मण और दूसरे लोगों में कोई अन्तर नहीं है। ब्राह्मण को दूसरी जाति के लोगों से अपने आपको उच्च घोषित करके सर्वश्रेष्ठ बनने का कोई अधिकार नहीं है। इस सांसारिक मानव की प्रत्येक भावनाएं तथा कामनाएं एक जैसी हैं। सबके विचार और त्रुटियां एक जैसी हैं। उनके शरीर में बहता हुआ रक्त एक जैसा है। काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार के रूप में परमात्मा ने मानव को विरासत में जो गुण और अवगुण दिए हैं, वे सबमें समान हैं। जिस

प्रकार लड़के का अपने पिता से सम्बन्ध होता है, उसी तरह मानव का ईश्वर से, जिसके सम्मुख सब बराबर हैं। इसी तरह मानव के समक्ष भी सब समान हैं। यदि कोई सामाजिक मर्यादा को भंग करता है तो वह मानवता का अपमान है और वह घोर पाप है। जब हम भगवान् राम के समय की आर्य (हिन्दू) सभ्यता का अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि उस समय भी किसी प्रकार की छुआ-छूत नहीं थी। साफ-सुथरा न होने पर उसे केवल शूद्र कहा जाता था। मगर वह कोई जाति नहीं थी। त्रेता युग के कुलपुरोहित भगवान् राम के गुरु का जन्म शूद्र परिवार में हुआ था। इसी प्रकार महर्षि वाल्मीकि भी एक शूद्र के घर पैदा हुए थे। यद्यपि प्राचीन समय में कोई छुआछूत की बीमारी नहीं थी, तथापि उन्होंने माता सीता को अपने आश्रम में आश्रय दिया था और उनके पुत्रों (लव और कुश) का पालन-पोषण करके उन्हें सैनिक शिक्षा भी दी थी। आत्रेय महीदास शूद्र का लड़का था। इस अपराध में उसके पिता ने उसे शिक्षा प्राप्त करने से रोका था। मगर उसने अपने पिता से विद्रोह कर शिक्षा प्राप्त की। वह इतना योग्य तथा कुशाग्रबुद्धि था कि उसने वेदों का अध्ययन कर बड़ी योग्यता और निपुणता का प्रदर्शन किया तथा एक प्रकाश-स्तम्भ बनकर चमका और लोगों को आध्यात्मिकता का सन्देश दिया। यह वही विद्वान था, जिसने उस ऐत्तरेय ब्राह्मण की रचना की जो आज हिन्दू-समाज में एक पवित्र और मन्य धर्मग्रन्थ के रूप में मान्य है। यह एक ऐसा उदारण है, जिसे देखते हुए आज के युग में हिन्दू-समाज के हर व्यक्ति को इस छुआछूत के विरुद्ध प्रयत्नशील रहना चाहिए। रामायण में हमें यह भी पढ़ने को मिलता है कि भगवान् राम ने भीलनी के जूठे बेर खाकर उसके अतिथि-सत्कार को स्वीकार किया था। भीलनी जंगल में रहने वाली जाति की स्त्री थी। वह सभ्यता से दूर रहने के कारण शूद्र थी। वह अपने भगवान् राम को मीठे बेर खिलाने के लिए पहले उन बेरों को चखकर देखती थी। जो बेर मीठा होता था, उसे वह भगवान् के आतिथ्य के लिए सहेज कर रख लेती थी और जो खट्टा होता था, उसे फेंक देती थी। भगवान् राम ने भीलनी के इस आतिथ्य को बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया और उसके जूठे बेर खाकर उस शूद्र का सम्मान किया। भगवान् कृष्ण की गीता भी हिन्दू-समाज को मानव की समानता का सन्देश देती है। भगवान् कृष्ण ने विस्तार से लिखा है, जिसमें समाज के सब लोगों को बराबर समझने का उपदेश दिया है। हिन्दू-सभ्यता तथा संस्कृति और धर्म ऐसा नहीं है जो इस कमजोर वर्ग को पृथक् करने का उपदेश देता हो। समाज में इनका स्थान उतना ही सम्मानित है, जितना कि दूसरों का, जो अपने आपको सर्वश्रेष्ठ समझते हैं, अतः जन्म के आधार पर उन्हें निकृष्ट समझकर अछूत कहना हिन्दू-धर्म के अनुसार नहीं है। उनके इस व्यवहार को न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

अस्पृश्यता के विरुद्ध धर्मयुद्ध

इस देश के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि सामाजिक बुराइयों विशेषतः छूतछात के विरुद्ध धर्मयुद्ध होते रहे हैं। घोर कुंभकरण की निंद्रा से हिन्दू जाति को जागृत करने के प्रयास बार-बार होते रहे, इसके फलस्वरूप कुछ-कुछ चेतना भी पैदा होती रही। छूतछात को मानव के पारस्परिक बन्धुत्व, प्रेम और स्नेह के विरुद्ध और धर्म के मौलिक नियमों के प्रतिकूल माना जाता रहा है। अतः इस बुराई के विरुद्ध तत्कालीन सुधारकों ने मानवता के नाम पर आन्दोलन शुरू किए। ब्राह्मणों ने अपने निहित स्वार्थ को बनाए रखने हेतु धार्मिक ग्रंथों के माध्यम से जो प्रचार किया, उसे निस्सार करने के लिए उन सुधारकों ने संघर्ष किया। 15वीं शताब्दी में स्वामी रामानन्द और उनके प्रमुख शिष्य रामानुज के उपदेशों के परिणामस्वरूप कई साधु-संत और धर्म-प्रचारकों ने ब्राह्मणवाद द्वारा फैलाए गये छूतछात के उन्मूलन के लिए प्रयास किए। उस समय रामानुज आचार्य के जीवन में जो परिवर्तन हुआ, वह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर एक करारी चोट सिद्ध हुआ जो हिन्दू-समाज के लिए एक उपदेश है। वह जब एक बार गंगा के किनारे स्नान करने जा रहे थे, तब उनके मार्ग में शूद्र जाति की एक स्त्री आ गई जिसे उन्होंने मार्ग से एक ओर हट जाने के लिए कहा। तानाशाही जैसी यह आज्ञा उसे अच्छी नहीं लगी। उसके स्वाभिमान को चोट लगी और उसका मानवीय गौरव आहत होकर कराह उठा। उसने हिन्दुओं के परमपूज्य आचार्य से निर्भयतापूर्वक प्रश्न किया—"जब यह संसार, भूमंडल ईश्वर ही का है तो फिर आप ही बताएं कि मैं यहां से हटकर कहां खड़ी होऊं ? वह स्थान कौन-सा है, जहां पर वह परमेश्वर नहीं है ?"

वे निम्न जाति की उस निर्भीक स्त्री के चुनौतीभरे प्रश्नों से निरुत्तर हो गये। उसके प्रश्नों ने उनके चिन्तन-मनन और सोच की धारा को ही बदल दिया। वही आचार्य जो स्व-निर्मित धर्म के अनुसार शूद्र का साया तक देखना पाप समझते थे,

जब गंगा-स्नान से लौटे, तो उन्होंने उस मनुष्य के कंधे पर हाथ रखा हुआ था जो तथाकथित शूद्र जाति का था। उनमें आए इस आश्चर्यजनक परिवर्तित विचारों को देखकर जब लोगों ने उनके इस महान परिवर्तन के विषय में पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया—मैंने उन गरीब पिछड़े हुए लोगों के साथ किए गये अत्याचार के विरुद्ध अपने अपराधों का प्रायश्चित्त किया है। ये लोग समाज में प्रतिष्ठा के उतने ही अधिकारी हैं जितने तथाकथित ऊंची जाति के ब्राह्मण। उन्होंने रूढ़िवादी परम्परा और इस अवांछनीय व्यवहार के विरुद्ध धर्मयुद्ध आरम्भ किया। आतंकवादी परिस्थितियों से विवश होकर उन्हें अपना गांव छोड़कर मैसूर भाग जाना पड़ा। वहां का चौल राजा शैव मतावलंबी था। वह उनके (रामानुज) आन्दोलन के विरुद्ध था। उनके चोरी से भाग जाने पर राजा को बुरा लगा। राजा के हाथ और तो कुछ नहीं आया, उसने उनके अनुयायियों पर बहुत अत्याचार किए। उन्हें तरह-तरह की यातनाएं दीं। आचार्य उस राजा के मरने के बाद ही वापस लौट सके। खेद है कि हिन्दुओं ने उनसे भी कुछ सीखने का प्रयत्न नहीं किया। वे अपनी पुरानी रूढ़ियों की भ्रान्ति में सामाजिक बहिष्कार की अपनी घृणास्पद नीतियों पर अड़े रहे। उन लोगों ने अपने दुर्व्यवहार के प्रति कभी प्रायश्चित्त नहीं किया। उन्होंने कभी यह भी अनुभव नहीं किया कि समाज में अस्पृश्य समझे जाने वाले वे लोग भी उसी धरती पर, उसी सूर्य-चन्द्र की छाया में पैदा हुए हैं, जहां पर उनका भी जन्म हुआ है। ये भी उसी मिट्टी से बने हैं, जिससे उनके अंगों का निर्माण हुआ है।

उत्तरी भारत में पैदा होने वाले संत कबीर और दादू और उनके अनुयायियों ने जात-पांत और अंधविश्वासों के विरुद्ध प्रखर आन्दोलन किया। मानवता पर विश्वास रखने वाले उन सन्तों के उपदेश बहुत हितकारी थे। उन्होंने सामाजिक बुराइयों और छूतछात का विरोध करते हुए कथित सवर्ण हिन्दुओं को कुमार्ग की विनाशकारी बुराइयों से सावधान किया और बताया कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को एक समान पैदा किया है। अतः किसी को अछूत के नाम से सम्बोधित करना नैतिक रूप से अपराध है और यह हिन्दू-सभ्यता के अनुरूप नहीं है। उनकी वे सब भ्रांतियां स्पष्ट रूप से हिन्दू-धर्म के प्रतिकूल हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत के प्रसिद्ध संत एकनाथ का आश्चर्यजनक उदाहरण भी हमारे सामने है। यह तथाकथित शूद्र जाति के एक बालक को अपने कंधे पर उठाकर उसके घर ले गए थे। वह उसे वहां छोड़ने के बाद वापस नहीं आए। उन्होंने सब परम्पराओं और लोक-लाज की परवाह न करते हुए समाज के ठेकेदार ब्राह्मणों के सामने उस बालक को अपने हाथ से खाना खिलाया और स्वयं भी उसके साथ बैठकर खाना खाया जो उस समय की एक अनहोनी बात थी। यह उन लोगों के लिए एक चुनौती थी कि वे इस आदर्श के अनुसार समाज में पैदा होने वाली इस बुराई को दूर करें। गुरु नानक ने राष्ट्र के नाम जो सन्देश दिया, वह भी कम महत्त्व का नहीं था। उनके

उपदेश हिन्दू सभ्यता के एक स्वच्छ दर्पण के तुल्य थे। उस समय एक समुदाय दूसरे समुदाय के रक्त का प्यासा हो रहा था। धर्म और जाति के नाम पर मार-काट और लूट-खसूट जारी थी। उन्होंने उस अंधेरे में राष्ट्र को बन्धुत्व और प्रेम से रहने का अमर सन्देश दिया। देश में छूतछात के विरुद्ध अभियान का नेतृत्व किया। देश में घूमघाम कर मानवता का प्रचार किया।

इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द जैसे मनीषी पैदा हुए, जिन्होंने अपने सांसारिक सुख और भोगों को त्यागकर हिन्दू-समाज को विनाश से बचाने के लिए संघर्ष किया। उन्होंने बताया कि ईश्वर एक है और सर्वशक्तिमान् है। हम सब समान हैं। कोई छोटा या बड़ा नहीं है। उन्होंने सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए तथाकथित सवर्ण हिन्दुओं के विरुद्ध डटकर लोहा लिया।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने एक पग और आगे बढ़कर लोगों को यह बताया कि गंदे से गंदा काम करने पर भी मनुष्य अछूत नहीं हो सकता। उन्होंने स्वयं एक अछूत का पाखाना साफ करके हिन्दू-समाज में एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जो दूसरों के लिए अनुकरणीय है। इस क्षेत्र में देश में गुरु गोविन्दसिंह महाराज ने जो सुकृत्य किए हैं, वे इतिहास की अविस्मरणीय घटनाएं हैं। उन्होंने अपने राष्ट्र को इस अभिशाप से बचाने के लिए अपना अमूल्य जीवन दांव पर लगा दिया था। उन्होंने देश को परस्पर मेल-मिलाप से रहने और अस्पृश्यता के विरुद्ध सन्देश दिया।

उनके बाद स्वामी दयानन्द ने इस विषय में जो कार्य किए, राष्ट्र उसके लिए उनका सदैव ऋणी रहेगा। उन्होंने समाज में फैली बुराइयों और कुरीतियों के विरुद्ध धर्मयुद्ध का बिगुल बजाया। वे वेदों और अन्य सब धर्मों के ज्ञाता थे। वे बहुत विद्वान् तथा प्रख्यात पंडित थे। उन्होंने धर्मग्रंथों के आधार पर धर्म के ठेकेदारों को ललकारा। उनके द्वारा फैलाई गई भ्रांतियों और आडम्बरों के विरुद्ध अपने जीवन को झोंक दिया। उनके प्रचार से हिन्दू-समाज में जागृति पैदा होने लगी। उन अवसरवादी शोषकों ने अपने स्वार्थों को खतरे में पड़ा जानकर उनके विरुद्ध एक मिथ्या अभियान शुरू किया, मगर इन विवेकहीन लोगों का उन्हें बदनाम करने का यह षड्यंत्र भी सफल न हो सका। वे पापाचारी लोग उनकी आध्यात्मिक और आत्मिक शक्ति के सम्मुख टिक न सके। फलतः इस सचाई और यथार्थवाद के युद्ध में उन स्वार्थी षड्यंत्रकारियों को मुंह की खानी पड़ी। उन्होंने सचाई की खोज में 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने भारतीय सभ्यता की वास्तविकता के विषय में बताते हुए ब्राह्मणों और शोषकों के पाखंडों और आडम्बरों का रहस्योद्घाटन किया है। उन्होंने हिन्दू-समाज की सामाजिक बुराइयों को मिटाने और ब्राह्मणवाद के एकाधिकार को

समाप्त करने के लिए आर्य-समाज की स्थापना की। उन्होंने इस संस्था के अंतर्गत समाज-सुधार का काम किया। उन्होंने कथित अछूत लोगों को 'महाशय' के नाम से सम्बोधित करने का उपदेश दिया। हिन्दू-सभ्यता में 'महाशय' एक प्रतिष्ठा-वाचक शब्द है, ताकि उन लोगों में नैतिक बल बढ़े और भेद-भाव समाप्त हो सके। मगर खेद है कि 'महाशय' शब्द केवल अछूत लोगों के लिए ही सीमित होकर रह गया। हिन्दू-समाज ने इन्हें अपने में विलीन नहीं किया। यह शब्द स्वामीजी ने उन्हें प्यार और सम्मान से दिया था, यह इसके विपरीत अछूतों का सूचक होने लगा। तथाकथित अहंकारी सवर्ण हिन्दुओं ने तो इस शब्द का प्रयोग करना छोड़ दिया पर साम्प्रदायिकता के शिकार संकीर्ण लोग उनके प्रचार से तिलमिला उठे और उन्हें अपने लाभ और षड्यंत्रों में फंसाने का प्रयास करने लगे। अंत में वह स्वार्थी लोगों के षड्यंत्र का शिकार होकर शहीद हुए। यद्यपि वह अब इस नश्वर संसार में नहीं हैं, मगर उनके द्वारा दिखाए हुए मार्ग की सहायता से स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दुओं में जागृति पैदा करने के लिए बहुत बड़ा कार्य किया। उन्होंने 'अछूतोद्धार मंडल' नामक एक संस्था स्थापित कर छूतछात को समाप्त करने के कार्य को संगठित किया।

इस आन्दोलन में पंजाब केसरी लाला लाजपत राय का योगदान भी बहुत प्रशंसनीय रहा है। उन्होंने बताया कि उन अछूतों को समाज में सम्मानपूर्वक स्थान मिलने पर ही हिन्दू जाति उन्नति कर सकेगी। अतः अन्होंने इस छुआछूत की बीमारी को दूर करने के लिए अपना सारा जीवन ही समर्पित कर दिया था।

इस अभियान को जारी रखने का जो काम महात्मा गांधी ने किया वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने इस वर्ग को हिन्दू-समाज में विलीन करने के लिए अपने बहुमूल्य जीवन को इस बलिवेदी में झोंक दिया था। उन्होंने समाज में फैली बुराइयों—विशेषकर छुआछूत को दूर करने के लिए हिन्दू-जाति को झंझोड़ा। ये उनकी सहनशक्ति से बाहर था कि छोटा और अच्छा न समझा जाने वाला काम करने वाले लोगों को समाज के मर्यादित सम्मान से वचित रखा जाए और उनके साथ अभद्रता, असभ्यता का व्यवहार किया जाए, जिससे इस जाति का विनाश और बरबादी हो। उन्होंने इस बीमारी के विरुद्ध सत्याग्रह करके सामाजिक शस्त्र का प्रयोग किया जो सचाई और अहिंसा पर आधारित था। उन्होंने लोगों को सावधान किया कि हिन्दू-धर्म छूतछात की आज्ञा नहीं देता। इसका इस धर्म में कोई स्थान नहीं है बल्कि यह एक पुराने रूढ़िवादी तथा मनघड़ंत आडम्बरों पर आधारित ऐसा पाप है, जिसका प्रायश्चित्त होना आवश्यक है। अतः इस छुआछूत के महापाप से लोगों को बचना चाहिए। घृणा और निकृष्टता से वैमनस्य, विरोध और पारस्परिक भ्रांतियां बढ़ती हैं जो मानव धर्म के अनुरूप नहीं हैं। अतः इन लोगों को समानता के आधार पर एक-दूसरे से मेल-मिलाप से रहना चाहिए। इस

प्रस्तावित प्रोग्राम को कार्यान्वित करने के लिए गांधीजी ने देश का भ्रमण किया। उनका यह प्रवास 'हरिजन टूर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने अपनी इस यात्रा में निर्धन हरिजनों के लिए चंदा इकट्ठा करके हरिजन फंड में जमा किया, जिसका उपयोग उनकी भलाई और उन्नति के लिए हुआ।

जब अंग्रेज सरकार ने 'कम्यूनल एवार्ड' से इन अछूतों को हिन्दू-समाज से पृथक् करने का प्रयत्न किया तब उन्होंने अपना जीवन उक्त एवार्ड के विरुद्ध दांव पर लगा दिया। सरकार की इस नीति के विरुद्ध सत्याग्रह के द्वारा युद्ध का बिगुल बजाया। मनुष्य को समान समझने के सिद्धांत पर इनको 'हरिजन' के नाम से सम्बोधित करने का उपदेश दिया ताकि इनको परमात्मा के प्यारे समझकर इनसे प्यार किया जाए। महात्मा गांधी का 'हरिजन-आन्दोलन' धर्म के ठेकेदार कट्टरपंथी हिन्दुओं को पसंद नहीं आया। उन्हें कत्ल करने का षड्यंत्र किया जाने लगा। उक्त आन्दोलन को लोगों में सर्वव्यापी बनाने और सबका सहयोग प्राप्त करने के लिए जब उन्होंने 1932 में देश का भ्रमण किया तो पूना में उन पर बम्ब फेंक कर उनका जीवन समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। मगर वह ईश्वर का काम था। व्यक्तिगत स्वार्थ से दूर था। अतः उनका बाल भी बांका न हुआ। इस पर भी उन स्वार्थी लोगों ने अपने कुकृत्यों और अनैतिकता पर विचार न किया।

इनकी मनोवृत्ति पर खेद है जो अपने बोझ को दूसरे के कंधे पर लादकर उन्हें पशुओं की तरह हांकने का अपना ईश्वरीय अधिकार समझते हैं। उन्होंने शोषण करने की मनोवृत्ति को बदलने की कोशिश नहीं की। नतीजा यह हुआ कि महात्मा गांधी का दिया हुआ यह 'हरिजन' नाम केवल अछूत के नाम का संकेत-वाचक ही बनकर रह गया और केवल इस वर्ग के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। महात्मा गांधी ने जिस विशाल दृष्टिकोण से उन्हें 'हरिजन' कहा था, संकीर्ण हिन्दुओं ने अपने पाखंड की नुमाइश बनाए रखने के लिए उनके उपदेश को अपनी लात की एक ठोकर से ठुकरा दिया। उनकी जड़ मनोवृत्ति के कारण सामाजिक बुराइयों को दूर करने में जो रुकावटें पैदा हुईं उनसे कठिनाइयां और उलझनें अधिक ही हुईं। उन तथाकथित सवर्ण हिन्दुओं को यह पसंद नहीं था कि उनके अधीन रहने और उनकी सेवा करने वाले कथित अछूत हिन्दू-समाज में उनके बराबर स्थान प्राप्त करें। अतः अपने स्वार्थों के वशीभूत उन्होंने उन्हें अपने में सम्मिलित कर लेने का कभी विचार ही नहीं किया बल्कि जिसने भी उनके अन्याय के पाशविक अत्याचार का विरोध किया, उन्हें भी कुचलने के षड्यंत्र किए। इस पर भी अपनी स्वयंनिर्मित तानाशाही प्रथाओं तथा कुरीतियों के अंतर्गत उन्होंने इन लोगों को अपनी इच्छाओं और कामनाओं का निशाना बनाने में संकोच नहीं किया। वे उन्हें अपनी स्थानीय सामंतशाही में कुचलते ही रहे। गांधीजी को मानव से कितना प्रेम था, छुआछूत की बुराई दूर करने में उनके

हृदय में कितनी तड़पन थी, इसका पता उनके उपदेश से चलता है कि—

> "चाहे मैं जेल में रहूं या बाहिर रहूं, हरिजनों की सेवा मेरे लिए परमावश्यक है और मेरे जीवन के सांस से अधिक कीमती है और दैनिक भोजन से अधिक बहुमूल्य है।"

महात्मा गांधी मानव की समानता के पक्षधर थे। वे सामाजिक बुराई और छुआछूत के अभिशाप को दूर करना चाहते थे। वे समाज के एक वर्ग को सिसकता हुआ नहीं देखना चाहते थे। इसलिए उन्होंने उन बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष किया और उन्हें इस क्षेत्र में किसी सीमा तक सफलता भी मिली।

4

अधिनायकवाद बनाम ब्राह्मणवाद

यह सच है कि एक-दूसरे पर अधिकार करने की प्रवृत्ति से स्वयंनिर्मित जात-पांत, विशेषतया ब्राह्मणवाद से, हिन्दू-समाज की इकाई को असह्य धक्का लगा। उसे बहुत क्षति पहुंची। इस समाज के विकास के विभिन्न साधनों के अध्ययन से यह तथ्य निर्विवाद रूप से सामने आता है कि निहित स्वार्थ की मनोवृत्ति से उक्त समाज के इस वर्ग ने अपनी प्रभुसत्ता का केन्द्रीयकरण योजना-बद्ध रूप से किया, जिससे इस समाज का सारा तानाबाना बिखरकर रह गया। परन्तु इसने जिस घातक विष को जन्म दिया, उसे आज तक इस समाज को पीना पड़ रहा है। परिणामस्वरूप ब्राह्मणवाद के इस अभियान से इस समाज की उन्नति और प्रगति में रुकावट पैदा हुई। इस समाज के उक्त वर्ग के लोगों की जीवन प्रणाली प्रशंसनीय और आदर्श नहीं थी। इससे यह जाति आगे नहीं बढ़ सकी। उनके कृत्य उनके अपने धर्म के प्रतिकूल थे। ये लोग अपने निहित स्वार्थभरे भाष्यों और टिप्पणियों द्वारा धार्मिक तथ्यों की समीक्षा करते थे। उन्हें केवल अपने स्वार्थ साधन की ही चिन्ता थी। भले ही राष्ट्र को कितनी भी हानि क्यों न उठानी पड़े। उन्होंने अपने इस संकीर्ण दृष्टिकोण से अपने समाज के संगठित तत्त्वों को विघटित किया। उनकी समाज को पथभ्रष्ट करने की यह स्वार्थनीति हिन्दू-धर्म की आत्मा के अनुकूल नहीं थी। उन्होंने अगुआ और गुरु बनने के लिए अपने समाज के भविष्य ही को दांव पर लगा दिया। अपनी सर्वो-परि सत्ता को बनाए रखने हेतु अपनी कूटनीतियों और षड्यंत्रों से कई प्रकार के सन्देह एवं भ्रम की सृष्टि करके उनका प्रचार व प्रसार किया। उन्होंने अत्यंत सतर्कता तथा सफाई के साथ राष्ट्र को अपनी इच्छानुसार ढालना और हांकना शुरू किया।

जनसाधारण में यह धारणा बिठा दी गई कि ब्राह्मण की पूजा करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। निजनिर्मित शास्त्र और ग्रंथों द्वारा यह भी सिद्ध किया

कि समाज का कोई भी काम ब्राह्मण के आशीर्वाद और सौजन्य के बिना सम्पन्न होना कठिन है। इस प्रकार विश्वासों, पाखंडों और आडम्बरों को फैलाने में बढ़ावा दिया। ऐसे प्रचार से इस समाज के अन्य वर्ग के लोग हीन भावना का शिकार होकर धीरे-धीरे कमज़ोर होते गए और अपने अस्तित्व की सत्ता के लिए ब्राह्मणों का मुंह ताकने लगे। इस तरह इस समाज में हर प्रकार की बुराइयां जन्म लेने लगीं। वर्ग-विभाजन का यह सिलसिला हिन्दू-समाज के संगठन और स्वच्छता को खोखला करने लगा और हिन्दू-समाज वर्गों, उप-वर्गों, जातियों, उप-जातियों में बिखर गया। उन्होंने अपने कृत्रिम व्यक्तित्व की श्रेठता का जो डंका बजाया, वह पूरे राष्ट्र को ले डूबा। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की घोषणा करने वाली जाति खंड-खंड होकर रह गई। स्वार्थलोलुपता ने राष्ट्रीय एकता की जड़ काट दी।

ब्राह्मणों ने अपनी इस सुनियोजित योजना की सफलता को सुगम बनाने हेतु 'राजाओं' के साथ गहरा ताल-मेल बैठाया। उन्होंने 'राजगुरु' एवं 'मुख्य मान्य' की उपाधियों पर आसीन होकर प्रशासन में निर्णायक हस्तक्षेप करना शुरू किया। इस प्रकार राजाओं के साथ अपना अटूट सम्बन्ध पैदा करके सर्वोपरि स्थान प्राप्त किया। तभी तो 'मनुस्मृति' में यह वर्णन मिलता है कि राजा ईश्वर का रूप है। "महती देवता ह्योषा नर रूपेण निष्ठति" अर्थात् राजा यदि बालक अर्थात् अबोध भी हो, तो भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए—"बालोऽपि गानमन्तव्या।" प्रशासन उनके संकेत पर चलता था। इसलिए उनकी आज्ञा एक ऐसी ईश्वरीय आज्ञा होने लगी, जिसे कभी अनसुना नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार अपने बुद्धि-कौशल द्वारा समाज और राजदरबार में अपनी गहरी साख बनाकर ब्राह्मण वर्ग अपनी इच्छानुसार शासन करने लगा। और वे धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व का अनुचित लाभ उठाकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कमजोर वर्ग को तंग करने लगे। सामाजिक व्यबस्था और प्रशासन की सारी शक्ति उनकी मुट्ठी में आ जाने से कमजोर वर्ग के लोग अमानवीय अत्याचारों की चक्की में पिसने लगे और उन्हें समाज का हर निकृष्ट कार्य करने के लिए बाध्य किया जाने लगा। उन्होंने समाज में ऐसी भ्रांतिमूलक परम्परा का सूत्रपात कर दिया कि यदि किसी का कल्याण हो सकता है तो केवल ब्राह्मण का ही आशीर्वाद प्राप्त होने से। यदि किसी ने उनकी अवहेलना करने का साहस किया तो वह नर्क का भागी होगा। यदि किसी ने उनके आडम्बरों के विरोध में सिर उठाने का साहस किया, तो उस अवस्था में उसको कई प्रकार के दैवी प्रकोपों का सामना करना पड़ेगा। उन्हें इस प्रकार के भूत खड़े करके भयभीत किया जाता और कई तरह के शाप दिये जाते थे। इस ब्राह्मणीय कुचक्र ने कुछ ऐसा जादू फूंका कि समस्त जाति की विवेकशक्ति

मंद हो गई और उसमें निजी हित एवं अहित को परखने की बुद्धि भी लुप्त होकर रह गई। ब्राह्मणों द्वारा फैलाए गए मिथ्या नियमों और भ्रांतिमूलक धारणाओं ने अटल विश्वास और सुदृढ़ आस्थाओं का रूप धारण किया। उन्होंने अपने को ब्रह्मा के मुख से जन्मा घोषित करके जन-साधारण में अपनी श्रेष्ठता का सिक्का जमाया। यही नहीं, उन्होंने तो भोलीभाली जनता की आंखों में धूल झोंककर सांसारिक भोगों के प्रति अपनी वितृष्णा त्यागकर तपस्वी और त्यागमय जीवन में रहने का मिथ्या प्रचार भी किया, जिससे कि उनके प्रति लोगों की श्रद्धा और आस्था बढ़े। वे अपने-आपको देवलोक का प्रामाणिक प्रतिनिधि सिद्ध करके समाज में अपने लिए ईश्वर के बाद दूसरा स्थान प्राप्त करने में सफल हो गए। उन्होंने आर्थिक क्षेत्र के व्यापारी बनिया (वैश्य) तथा देश की सुरक्षा करने वाले क्षत्रिय वर्ग के साथ ताल-मेल बैठाकर शेष दलित, शोषित और पिछड़े वर्ग को सारे श्रुतियों और स्मृतियों के बल पर मानव अधिकारों से वंचित तथा घोषित करके उनके प्रताड़न के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। शिक्षा प्राप्त करना तो दूर, उनके लिए वेदों का अध्ययन और देवालयों में प्रवेश निषिद्ध करार कर दिया। उनके ये सारे पाखंड हिन्दू-समाज के विनाश का कारण बने। आज यह समाज एक ऐसे फंदे में फंसा है, जहां से निकलना आसान नहीं है।

खेद है कि उनका स्वार्थ मनुष्य-समाज तक ही सीमत नहीं रहा। उन्होंने स्त्री जाति के सामाजिक अधिकारों पर भी छापा मारा और उसे समाज का एक तुच्छ और हीन वर्ग बनाकर अपनी प्रभुसत्ता के अधीन कर लिया। आर्यों के इस देश में जहां नारी को पुरुषों के बराबर दर्जा मिला था, वहां उसे भी समाज में दूसरे नम्बर पर समझा जाने लगा। जिस देश की स्त्रियों ने वेद-मंत्रों की रचना करके उनका गायन किया हो, जो अपनी प्रतिभा के आधार पर प्रतिष्ठा प्राप्त करके राजनीति में अग्रसर रहा हो, उस स्त्री समाज की बुद्धि को उन ब्राह्मणों ने जड़ बना कर एक कोने में बैठा दिया और अपमानित किया। समाज में पैदा किए गए ऐसे परिवर्तन के कारण स्त्री जाति को कई प्रकार की हीनभावना का शिकार होकर तरह-तरह के कष्ट सहने पड़े जो हिन्दू-धर्म और सभ्यता की मर्यादा को शोभा नहीं देते थे। जहां स्त्री और गाय का अनादर होता है, वह घर कभी समृद्ध नहीं हो सकता और न ही सुखी रह सकता है। अतः हिन्दू-समाज की यह सभ्यता इनको समान सामाजिक अधिकार प्रदान करती है। इनको जन्म के साथ प्राप्त मानवता के मौलिक अधिकार इसके साक्षी हैं कि सामाजिक व्यवस्था में पुरुष और स्त्री दोनों समानता के भागीदार हैं। विवेक और योग्यता के आधार से कोई ऊंच या नीच नहीं है। इस समाज की सभ्यता और संस्कृति, प्राचीन परम्पराप्राप्त मानव अधिकार को दृष्टि में रखते हुए भारत सरकार ने भी देश के संविधान में स्त्री जाति को समानता के अधिकार दिए। सामाजिक मोनापली

और छूतछात के विरुद्ध कानून भी जारी किए जोकि सामाजिक व्यवस्था को पवित्र बनाए रखने के लिए ब्राह्मणवाद पर चोट थी। कांग्रेस सरकार ने हजारों वर्षों की बीमारी को अपने कानून की एक धारा से दूर करने का प्रयास किया। यह इस सामाजिक बुराई को कानूनी दृष्टि से दूर करने का महत्त्वपूर्ण कदम था।

इन अवसरवादी ब्राह्मणों ने जन्मजात की धारणा और जात-पांत की रीति समाज में पैदा करने के बाद अपने घृणित षड्यंत्र द्वारा जनसाधारण को यह विचार दिए कि धर्मग्रंथों को पढ़ने-पढ़ाने, जप-तप और देवालयों की पूजा करने के अधिकार केवल उन्हें ही प्राप्त हैं। अन्य लोग इस कार्य को करने के योग्य नहीं हैं कि उन कर्त्तव्यों को निभा सकें। स्वार्थमय प्रचार के इस झटके से दलित वर्ग के लोग इन पवित्र कामों से वंचित कर दिए गए। इस प्रकार विशेषाधिकारों को अपने लिए कर ब्राह्मण एक ओर युग-नेता तथा युग-संरक्षक की भूमिका निभाने के एकमात्र अधिकारी बन गए और दूसरी ओर अपनी स्वार्थरक्षा हेतु श्रुति-स्मृति-साहित्य के अभेद्य दुर्ग में बैठकर साधारण जन और विशेषतः निम्न वर्ग के बगुला अभिभावक बन बैठे।

मनु महाराज ने हिन्दू-समाज को जो विचार दिए, वह मानवता के सिद्धांत के अनुसार प्रतीत दिखाई नहीं देते। उन्होंने अपने ग्रंथ 'मनुस्मृति' में लिखा है—

> "मुख से पैदा होने के कारण ब्राह्मण सबसे उच्च है और संसार का स्वामी है। देवता लोग ब्राह्मणों के मुख द्वारा ही भोजन करते हैं। इसलिए संसार में ब्राह्मणों से बढ़कर दूसरा और कोई नहीं है।"
>
> "संसार में जो कुछ भी है वह सब ब्राह्मणों का ही है, क्योंकि वे जन्म से ही सबसे अधिक योग्य, प्रतिष्ठित तथा उच्च हैं।"
>
> "ब्राह्मण यदि दूसरों से अनाज लेता है या किसी का कपड़ा पहनता है और किसी का रुपया-पैसा या धन लेकर यदि दूसरे को देता है, तो यह सब उसकी सम्पत्ति है, क्योंकि उन लोगों ने जो कुछ उनके पास है ब्राह्मणों की कृपादृष्टि के कारण ही प्राप्त किया है।"
>
> "दस वर्ष के अबोध बालक ब्राह्मण को क्षत्रिय चाहे सौ वर्ष का क्यों न हो, अपने पिता की तरह समझे। जैसे आग चाहे कैसी भी हो वह देवता है, उसी प्रकार ब्राह्मण भी चाहे मूढ़ हो या अयोग्य, एक पूज्य देवता है।"
>
> "जिस प्रकार जल रहे मृतक शरीर से पैदा होने वाली आग अशुद्ध नहीं होती, वैसे ही ब्राह्मण के पाप करने पर भी वह सबसे अधिक

पूजनीय है। साक्षात् देवता की तरह है।"[1]

अपनी तानाशाही को हिन्दू-समाज में स्थायी बनाने हेतु ब्राह्मणों ने सर्व-साधारण में यह भ्रम फैलाया कि ईश्वर की ओर से उनको सब चराचरों की देखभाल करने का दायित्व सौंपा गया है। ब्राह्मणों ने यह भी कहा कि उन्होंने ही क्रोध से लाल-पीले होकर आग को निगलकर हजम किया था। सागर का पानी नमकीन कर उसे उपयोग के अयोग्य बनाया। चांद को क्षय रोग से पीड़ित किया। फिर उस पर दया करके उसे नीरोग किया। ऐसी दैवीशक्ति से सम्पन्न ब्राह्मणों को अप्रसन्न करके कौन ऐसा है, जिसका अशुद्ध शब्द की तरह विनाश नहीं होगा !

ऐसे ही उपदेश अन्य ग्रन्थों में भी भरे पड़े हैं। उन्होंने प्रभुसत्ता के ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए कि उन्हें बिना परिश्रम किए ही सभी प्रकार के भोग-विलास के साधन उपलब्ध होने लगे और वे पूरे राजसी ठाठ से दूसरों की छाती पर बैठकर मूंग दलने लगे।

यदि मनु महाराज के उपदेशों पर गम्भीरता से विचार किया जाए तो पता चलेगा कि उनके द्वारा ब्राह्मणों की सर्वोत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किए गए तर्क और युक्तियां किसी भी विवेकशील व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर सकतीं। जिस समय हिन्दू-समाज को धर्म के नाम पर ये उपदेश दिये गए थे, शायद तब की परिस्थितियों के अनुसार ये किसी सीमा तक उचित रहे हों। इस पर भी यह पूरे विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि ऐसे उपदेश पूरी तरह से न्यायसंगत और क्षमता के सिद्धांतों पर आधारित थे। बीते हुए काल पर तर्क करना उचित नहीं है। जो हो चुका वह उस समय के लोगों ने सहन कर लिया। किन्तु आज का युग विवेक और विज्ञान का युग है। आज का मानव हर बात को तर्क के तराजू पर तोले बिना स्वीकार करने को तैयार नहीं है। यही कारण है कि श्रुतियों और स्मृतियों की ऐसी बातें, जिनमें किसी वर्ग-विशेष के संरक्षण की गंध आती है, आज अपना महत्त्व खो चुकी हैं। उनकी तार्किक बुद्धि उक्त उपदेशों पर विचार करने को तैयार नहीं है। ये कैसे सम्भव है कि ब्राह्मण शेष मानव-समाज से इसलिए उच्च है कि वह ब्रह्मा के मुख से पैदा हुआ है, जबकि ईश्वर के अटल नियम के अनुसार पुरुष और स्त्री का संयोग ही उसके जन्म का कारण है। इस प्रकार की थोथी युक्तियों और बचकाने प्रमाणों को आज का प्रबुद्ध मानव स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है। आश्चर्य तो इस बात का है कि विगत युगों के लोगों के बौद्धिक स्तर को कितना निम्न कहा जाए जो ऐसे तर्कों को अपनी आस्था प्रदान करते रहे।

---

1. सरिता, रत्नलाल बंसल, नवम्बर, 1950।

इस संसार में जो भी कल्याणकारी काम करता है, किसी को पीड़ा पहुंचाने में भय अनुभव करता है, अच्छे गुणों का स्वामी और दयावान है, ऐसा ही मनुष्य प्रतिष्ठा के योग्य है। उसे कुछ भी नाम दिया जा सकता है। मगर 'देवता' नाम का कोई वर्ग नहीं है, जिसे इस नाम से विभूषित किया जा सके। भला यह कैसे सम्भव है कि देवता ब्राह्मणों के मुख से भोजन करते हैं, इसलिए ब्राह्मण उच्च हैं। एक तो किसी के मुख से दूसरे के द्वारा खाना खाने की बात दिमाग में नहीं बैठती, मुख से उगली हुई गंदी चीज कोई खा भी नहीं सकता; दूसरे ये लोग इतने पवित्र और भले होते हैं कि ऐसे पाखंडों से दूर रहकर अपनी योग्यता का परिचय देते हैं। यह धारणा कि संसार में जो कुछ भी है, वह सब ब्राह्मणों का ही है, यह कैसे सम्भव है ! उनमें ऐसे कौन-से गुण हैं कि परिश्रम और लहू-पसीने से कमाई गई सारी सम्पत्ति धर्म के ठेकेदार ब्राह्मणों को अर्पण कर दी जाए। सामाजिक व्यवस्था कोई ऐसा विधान लागू नहीं कर सकती कि भूखे-नंगे रहकर, अपनी शारीरिक शक्ति से अर्जित सम्पत्ति को समाज के इन तथाकथित उच्च श्रेणी के उन ब्राह्मणों की स्वार्थपूर्ति के लिए सौंप दिया जाए, जिनकी अपनी दिनचर्या ही शुद्ध नहीं है, मानवता के सिद्धांत पर आधारित नहीं है और जो हर बुराई से भरपूर हैं। भला उन्हें कैसे चुपचाप सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान् एवं ज्येठ-श्रेष्ठ स्वीकार कर लिया जाए। ये सभी बातें विवेक की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। यह तो केवल प्रहसन की ही सामग्री है जो इस समाज के लिए प्रशंसनीय नहीं है। पिछले किसी युग में ब्राह्मणों का ऐसा कोई चमत्कार देखने में नहीं आया, जिससे प्रकृति से प्रतिकूल कुछ आश्चर्यजनक घटित हुआ हो। उनके मिथ्या प्रचार से अकारण प्रभावित होकर उन्हें परमात्मा का रूप समझना कहां तक न्यायसंगत है ! वे स्वयं सभी त्रुटियों और अवगुणों से भरे हैं। जो अपने कल्याण और समृद्धि के लिए परमात्मा के आगे हाथ फैलाते हैं, वे भला दूसरों की क्या भलाई कर सकते हैं ! विवश की आतुरता में फंसे हुए ये शोषित लोग उस परमात्मा के आगे अपनी मांगों के लिए हाथ क्यों न फैलाएं, जिसके आगे धर्म के व्यापारी ब्राह्मण झुककर अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए याचना करते हैं। यह कितनी हास्यास्पद बात है कि दस वर्ष के अबोध ब्राह्मण बालक को, जिसे बात करने की भी तमीज नहीं है, जो सांसारिक अनुभवों से सर्वदा शून्य है, जो योग्यता, विद्वत्ता, शिक्षा व अनुभव के स्तर पर शून्य है, उसे एक वृद्ध व्यक्ति अपने पिता की भांति समझे, केवल इसलिए कि उसका जन्म ब्राह्मण के घर हुआ है। आज के प्रबुद्ध मानव को भला यह कैसे मान्य हो सकता है ! यदि हिन्दू-धर्म ऐसे पक्षपातपूर्ण और निरर्थक आधारों पर खड़ा है तो यह भला कैसे स्थायी रह सकता है ! मगर वह इस आधार पर स्थिर नहीं है। उसका अपना आदर्श है जो सबके कल्याण और समृद्धि का सन्देश

देता है। अत: समाज के उन स्वयंसिद्ध गुरुओं के उपदेशों से विमुख होकर यदि लोग ब्राह्मणों को ऊंचा न मानकर उनका तिरस्कार करें तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविक न होगा।

ब्राह्मण को देवता इसलिए समझना चाहिए कि वह शेष मानव से श्रेष्ठ है। मनुस्मृति हिन्दू-समाज को यह उपदेश देती है। इस विषय में उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि जिस प्रकार आग शुद्ध व पवित्र है, उसी प्रकार ब्राह्मण यदि कोई पाप भी करता है या उसका आचरण शुद्ध नहीं है तो उस पर भी उसे देवता ही समझना चाहिए। मनु महाराज ने हिन्दू-समाज को यह उपदेश दिया है। यह कितनी आश्चर्यजनक बात है कि आचरणहीन और भ्रष्ट होने पर भी ब्राह्मण को ऊंचे सिंहासन पर बिठाया जाए और उसकी पूजा की जाए। इनके जन्म, रूप-आकार और शरीर के अंगों में भी कोई अंतर नहीं है। खून की रंगत में भी कोई भिन्नता नहीं है। शारीरिक गठन में भी ये निराले नहीं हैं। दूसरों की तुलना में ज्यादा योग्य और विद्वान् भी नहीं हैं, तो फिर इनकी किस विशेषता के आधार पर इन्हें उच्च मान लिया जाए। ये तो केवल अपने स्वार्थ के लिए सर्वसाधारण को पथभ्रष्ट करके, अपने प्रभुत्व के लिए आडम्बर रचे गए थे। वास्तव में यह सब धर्म की मर्यादा के अनुसार नहीं है।

विवेक की कसौटी पर यह उपदेश भी पूरा नहीं उतरता कि ब्राह्मणों ने क्रोध में आकर अग्नि को निगल लिया और सागर के पानी को नमकीन बनाया। चांद को रोगी बनाकर फिर उसे स्वस्थ किया। इसलिए इन्हें रुष्ट करके व्यर्थ में आपत्ति नहीं मोल लेनी चाहिए। सच तो यह है कि परमात्मा के प्यारे, अच्छे, दयावान् और मानवता से प्यार करने वाले मनुष्य को क्रोध नहीं आता। उनके पास क्या शेषनाग जैसी कोई फुंकार थी या कोई ऐसी शक्ति थी, जिससे वे फूंक मात्र से यह चमत्कार करते थे? वह कौन-सी अद्‌भुत शक्ति थी कि जिससे ये अपनी दृष्टि मात्र से सागर के पानी को नमकीन करते थे। चांद की वास्तविक स्थिति तो अब संसार के सामने आ गई है कि वह भी एक वीरान जलवायुहीन शुष्क नक्षत्र है। 'जड़ को बीमार कर फिर उसे स्वस्थ करना' बच्चों को सुनाई जाने वाली लोरी की तरह लगता है। यदि इन सब बेतुकी बातों को मान भी लिया जाए तो भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रह जाता है। वह यह है कि ब्राह्मणों की अभूतपूर्व शक्ति का पतन कैसे हुआ? ऐसा लगता है कि यह सब कुछ ब्राह्मणों के संरक्षणार्थ धर्म के नाम पर उनकी प्रभुसत्ता संगठित करने हेतु जो किया गया, वह एक सुनिश्चित योजना का अंग था। वे सब दूसरे के श्रम को अपने स्वार्थ के लिए प्रयोग करने के षड्यंत्र थे। उन उपदेशों से उनमें क्रमश: परस्पर पृथक् रहने के विचार पैदा होने लगे। फलस्वरूप वे आज तक अनेक प्रयास और प्रयत्न करने पर भी एक-दूसरे के समीप नहीं आ सके। उनके रीति-रिवाज, परम्परा और दृष्टिकोण पृथक्-पृथक्

होकर पीढ़ी दर पीढ़ी पृथकता को ही बढ़ाने लगे। इस प्रकार हिन्दू-समाज में अस्पृश्यों का एक शूद्र वर्ग पैदा होने लगा। उसे आर्थिक तौर से इस प्रकार निर्बल बना दिया गया कि वे आज तक उपेक्षा और घृणा के पात्र बने हुए हैं।

धर्म के नाम पर समाज के तथाकथित उच्च एवं प्रभावशाली वर्ग द्वारा रचे गए इस प्रपंच ने हिन्दू-समाज के एक महत्त्वपूर्ण वर्ग पर अत्याचार करने का कथित जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त किया और समाज के सभी शोषित वर्गों को 'शूद्र' घोषित करके उन्हें अपनी आकांक्षाओं का शिकार बनाया। इस प्रकार वे हिन्दू-समाज पर पूरा अधिकार प्राप्त करने और धर्म के नाम पर आडम्बरों और पाखंडों की मिलावट करने के बाद निर्भय होकर शूद्र वर्ग के लोगों का शोषण करने लगे। उनकी नृशंस हिंसा का शिकार वे असहाय लोग हुए, जो समाज-सेवक के रूप में सबकी सेवा करते थे। उन पर की जाने वाली यातनाओं की घटनाओं से मनुष्य का हृदय दहल जाता है। उनके नृशंस व्यवहार और कुकृत्यों के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं कि कथित मानवता की जिस नैतिकता पर उन्होंने सामाजिक सत्ता प्राप्त की, वह सर्वथा धर्म के प्रतिकूल थी। मनु महाराज ने उनकी प्रभुसत्ता में अकथनीय वृद्धि की। इस विषय में पाठकों की जानकारी के लिए कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :

> "यदि कमजोर वर्ग का शूद्र ऊंचे वर्ग के लोगों की भांति प्रयत्न करके कमाई करने लगे, तो राजा उसकी पैदा की गई सम्पत्ति छीनकर उसे देश से निकाल दे।"
>
> "शूद्र को शिक्षा और ज्ञान नहीं देना चाहिए। उसे यज्ञ में किसी प्रकार का भाग लेने की अनुमति नहीं देनी चाहिए और न ही उसे धार्मिक उपदेश ही देना चाहिए। यदि कोई इस मर्यादा का उल्लंघन करता है और उसे धार्मिक शिक्षा देता है तो वह शूद्र के साथ भयानक नरक में जाएगा।"
>
> "ब्राह्मण बिना हिचकिचाहट शूद्र का धन-दौलत ले ले, क्योंकि उसका अपना कुछ नहीं है।"
>
> "बिल्ली, कुत्ता, बिनौला, चिड़िया, मेंढक, गधा, उल्लू और कौए को मारने से जितना पाप लगता है, उतना ही पाप शूद्र को मारने से लगता है।"
>
> "ब्राह्मण यदि आचरणहीन हो, तो वह तब भी मान्य है और शूद्र यदि योग्य और विद्वान् हो, तब भी वह श्रेष्ठ और मान्य नहीं। ऐसा करने वाला व्यक्ति मूढ़ होगा, जो खराब गाय को दुहेगा।"
>
> "यदि वैश्य अपनी इच्छा से यज्ञ के लिए धन न दे तो उससे भी

बलपूर्वक धन प्राप्त करने के अधिकार दिये गए हैं ।"[1]

यदि धर्म समानता पर आधारित नहीं है और ऊंच-नीच की शिक्षा देता है, समाज में घृणा और हीनता की भावना पैदा करता है, तो उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। शिक्षा का ब्राह्मण वर्ग ने अनुचित लाभ उठाया। फलस्वरूप वह चतुर और एकाधिकारवादी हो गया। परिणामस्वरूप यह समाज नाना प्रकार के पाखंडों और प्रपंचों के जाल में इतना फंस गया, जिसे सही स्थिति में लाने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना होगा। भोले-भाले लोगों में यह भ्रम पैदा करना कि यदि उन्होंने उस वर्ग के लोगों की अवहेलना की या उनकी किसी आज्ञा के पालन करने में कोताही की, तो उस अवस्था में उन पर आपत्तियों का एक बड़ा पहाड़ गिरने की सम्भावना हो सकती है। भला यह कहां का न्याय है कि कमजोर वर्ग का कोई व्यक्ति सम्पत्ति जमा नहीं कर सकता। कठोर परिश्रम से यदि वह कुछ धन-दौलत पैदा करने का प्रयत्न करे, तो राजा को अधिकार होगा कि वह उसकी सब सम्पत्ति छीनकर उसे देश से निकाल दे। धर्म तो मानवता और समानता की शिक्षा देता है। वह लोगों को उलटा और मानवता के विपरीत उपदेश नहीं देता। इस प्रकार के भ्रांति पैदा करने वाले उपदेशों से सर्वसाधारण लोगों को पथभ्रष्ट किया गया और उसे अपने स्वार्थ हेतु धर्म का तथाकथित अंग बना दिया गया। उन शोषक लोगों में ईर्ष्या की आग इतनी अधिक थी कि वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि समाज के किसी वर्ग का कोई व्यक्ति उनके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से उनकी बराबरी कर सके। इसीलिए उन्होंने धर्म की आड़ में कई आडम्बरों से इस कमजोर वर्ग के लोगों को अपमानित करने का निकृष्ट प्रयास किया।

मनुयुगीन समाज में जातिवाद-वर्गवाद इस रूप में नहीं था। यद्यपि समाज में कई प्रकार के दोष आ गये थे। इसलिए उन्होंने उन दोषों को दूर करने और समाज की व्यवस्था के लिए अपने ढंग से वर्ण-व्यवस्था के नियमों को प्रचलित करने के लिए कुछ सिद्धांत निर्धारित किए। यद्यपि उस समय संभवतः ये सिद्धांत तत्कालीन समाज के लिए हितकारी रहे हों, मगर काल-गति के तीव्र प्रवाह के साथ-साथ उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई। मगर स्वार्थी और चालाक लोगों ने इन्हें अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन बनाकर समाज का शोषण प्रारम्भ कर दिया, तो ये सिद्धांत अभिशाप बन गए। इस समूचे विवेचन से एक बात पूरी तरह से स्पष्ट हो जाती है कि शिक्षित और प्रबुद्ध होते हुए भी प्राचीन काल में ब्राह्मण धर्मलीन न होकर स्वार्थभावना एवं सत्तालोलुपता से अभिभूत थे। अपनी इस स्वार्थसिद्धि के लिए उन्होंने साधारण जन के अज्ञान और पिछड़ेपन का अनुचित लाभ उठाकर धर्मध्वज की आड़ में

1. सरिता, रामलाल बंसल, नवम्बर, 1950।

मिथ्या आडम्बरों का ऐसा जाल बनाया, जिससे शीघ्र ही अन्धनिष्ठा का रूप लेकर समाज के पतन का एक घृणित अध्याय शुरू हुआ।

मानव के शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार जन्मसिद्ध और मौलिक हैं। चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, उसका किसी भी वर्ग से सम्बन्ध क्यों न हो, वह हर प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने का अधिकारी है। वह किसी भी धार्मिक ग्रंथ का बेरोकटोक अध्ययन कर सकता है। ज्ञान प्राप्त करने की इस स्वतंत्रता में किसी व्यक्ति को कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। इसके विपरीत यदि यह कहा जाए कि अमुक वर्ग के लोग ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते; कारण, वे कमजोर एवं तथाकथित हीन वर्ग से सम्बन्धित हैं, उन्हें तपश्चर्या अथवा यज्ञ करने का भी अधिकार नहीं है; वैश्य यज्ञ के लिए धन न दे तो उससे बलपूर्वक धन प्राप्त किया जा सकता है तो धर्म के नाम पर यह सीधी लूट कही जाएगी।

ज्ञान अर्जित करने के ये अधिकार किसी वर्ग विशेष को ही हैं। अतः उस वर्ग के लोग ही ज्ञान-लाभ के अधिकारी हैं, उन्हें ही धर्मग्रंथों के अध्ययन की अनुमति प्राप्त है। धार्मिक ग्रंथों में चूंकि ऐसा उपदेश है, इसलिए इन्हें धार्मिक मर्यादा का पालन करना चाहिए, अन्यथा इसके उल्लंघन से दैवी प्रकोप का भय होगा। समाज को टुकड़ों में बांटकर भिन्न वर्गों में एक-दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष और ईर्ष्या फैलाने वाला यह धर्मतंत्र किसी युग विशेष के लिए तो उपयुक्त हो सकता था पर आज वह उचित प्रतीत नहीं होता। यह आज की सामाजिक व्यवस्था में बिल्कुल बेमेल है।

कैसा आश्चर्य है कि शूद्र के धन और सम्पत्ति पर ब्राह्मण का अधिकार है और उसका कुछ भी नहीं है। मानव होते हुए भी उसे कितना हीन और निकृष्ट समझा गया है कि वह कुत्ते-बिल्ली की तरह मामूली प्राणी है। उसकी हत्या करने में इतना ही पाप लगता है जितना उन जंतुओं को मारने में। भेदभाव की यह रीति मानवता पर सीधी चोट है और स्वार्थसिद्धि की चरम सीमा है। एक ही तरह से गर्भ से जन्म लेने वाले और एक ही तरह के रंग-रक्त वाले मनुष्य, जिन्हें धोखाधड़ी और छल-कपट से अस्पृश्य माना गया हो, उन्हें वे शोषण करने वाले चालाक ब्राह्मण इतना हीन, निकृष्ट और हल्का समझने लगे कि उनका मूल्य एक पक्षी के बराबर समझा जाने लगा। जो उपदेश परस्पर भेद या घृणा पैदा करता हो, वह धर्म का हिस्सा नहीं बन सकता। उनके इस संकीर्ण व्यवहार से अनुमान लगाया जा सकता है कि जब इनका जीवन इतना सस्ता समझा जाए कि उनका वध करने पर किसी को भी दंड न मिलता हो, तो उस अवस्था में इन लोगों को कितने ही नृशंस अत्याचारों का निशाना बनना पड़ता होगा। उनके क्रोध की आग को शांत करने हेतु न जाने कितने लोगों को बलि का बकरा बनाया गया होगा। इसका अनुमान उनकी दिनचर्या को नजर में रखकर लगाया

जा सकता है, जो मुंह बोलता प्रमाण है । कैसी विडम्बना है कि 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु सर्वे सन्तु निरामया', 'मा कश्चित दुःखभाग्यवेत्' की घोषणा करने वाली आर्य जाति स्वयं को शिष्ट और सुसभ्य बताने तथा जगद्गुरुत्व का दावा करने वाली अपनी ही धरती पर, अपने ही रंग, रूप, आकार एवं भाषा-भाषी एक वर्ग को युग-युगान्तर के लिए प्राथमिक मानवीय अधिकारों से वंचित रखे । इस भयंकर षड्यंत्र ने हिन्दू-समाज को खोखला कर दिया ।

ब्राह्मणों ने अपने अधिकार कहां तक सुरक्षित किए, धर्म के साथ अपने अधिकारों को जोड़कर जहालत पैदा की, निम्न वर्ग के लोगों को अपने स्वार्थ के लिए कितना गुमराह किया, इसका इतिहास जानने पर घृणा पैदा होती है । यह कैसे सम्भव है कि ब्राह्मण यदि आचरणहीन, अनैतिक और भ्रष्ट हो, तब भी वह प्रतिष्ठा का पात्र है । वह केवल एक मनुष्य है । समाज में मनुष्य को जो अधिकार प्राप्त हैं, वह इन्हें भी हैं । यदि इन स्वार्थी लोगों ने चालाकी और छल-कपट से अपना प्रभुत्व पैदा किया और आत्माभिमान प्रभुसत्ता के अधिकार बढ़ाये तो वे सदैव स्थिर नहीं रह सकते । जागृति और पैदा होना पर उनके कपट और पाखंड समाप्त हो जाएंगे और साफ-सुधरे समाज का गठन होगा । इस प्रकार के उपदेश मानवता के पारस्परिक भ्रातृभाव के अनुसार नहीं हैं । उसमें केवल वर्ग विशेष की प्रभुसत्ता बनाए रखने हेतु तरह-तरह के उपदेश दिये गये हैं । इस प्रकार इन धर्मग्रंथों के माध्यम से अपने शासन व प्रभुत्व को बनाये रखने हेतु उस वर्ग विशेष ने जो धोखे की दीवार खड़ी की, उससे समस्त हिन्दू-समाज का पतन हुआ ।

चूंकि उन ब्राह्मणों ने अपनी प्रभुसत्ता के कारण समाज में सर्वश्रेष्ठता का स्थान प्राप्त किया था, जिनके मुख से निकलने वाला प्रत्येक शब्द ब्रह्मवाक् और कानून ही होता था । यदि उनकी मनमानी धांधलियों पर विचार किया जाए, तो ज्ञात होगा कि इस वर्ग के लोगों ने इस समाज को हर प्रकार की हानि पहुंचाई है । यदि विश्व के मानचित्र पर पाकिस्तान के उभरने के इतिहास पर नजर डाली जाए तो मालूम होगा कि यदि छूतछात न होती और उस मुस्लिम समाज का सामाजिक बहिष्कार न किया गया होता, तो भूखंड पर आज पाकिस्तान का मानचित्र न उभरता । इतना महान् राजनैतिक परिवर्तन होने पर भी संकीर्ण और संकुचित विचार वाले, छूतछात को बढ़ावा देने वाले लोगों के विचारों में परिवर्तन लाने का विवेक पैदा नहीं हुआ । वे मानवता की मर्यादा का पालन न करते हुए अपना प्रभुत्व जमाने की चिन्ता में आज भी रहते हैं । आज हिन्दू-समाज जिन बुराइयों के कारण क्षत-विक्षत हो रहा है, वह सब इन लोगों के कुप्रयास हैं, जिन्होंने अपने निहित स्वार्थों के लिए धर्म की

आड़ में भ्रम के जाल फैलाए। जब तक इस शोषक वर्ग से मुक्ति प्राप्त नहीं होती, तब तक हिन्दू-समाज प्रगति नहीं कर सकता।

ब्राह्मणों ने समाज में न केवल अपनी प्रभुसत्ता की ही स्थापना और शूद्र वर्ग पैदा कर अस्पृश्यता शुरू की, बल्कि उनमें इतना घमंड भी पैदा हो गया कि भिन्न विचारों के वर्ग वालों के साथ उन्होंने रक्तरंजित युद्ध भी किए। अब वे यह तनिक भी सहन नहीं कर सकते कि कोई दूसरा वर्ग भी समाज में अपने विचारों का प्रचार कर सके। इन विचारों की टक्कर में जो रक्तपात हुआ, उसे प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। जब महावीर और गौतम बुद्ध ने ब्राह्मणवाद की ताना-शाही के विरुद्ध धर्मयुद्ध का बिगुल बजाया, तब वे ब्राह्मणों के अत्याचारों से कितने पीड़ित, भयभीत और दुःखी थे, इसका अनुमान इन बातों से लगाया जा सकता है कि उस विप्लव में दुःखी लोगों ने उन महात्माओं को अपना पूरा सहयोग देकर उनकी सहायता की थी। फल यह हुआ कि द्वीप में उन महा माओं की प्रतिष्ठा और संगठन बढ़ने लगा और वे लोगों में सर्वप्रिय हुए। फलस्वरूप उन महान् क्रांतिकारी समाज-सुधारक नेताओं ने धर्म के नाम पर होने वाले आडम्बरों और पाखंडों का जोरदार विरोध किया। यज्ञों के नाम पर की जाने वाली हिंसा का बहिष्कार किया। इन मानवीय विचारों के अंतर्गत पिछड़े और दलित वर्ग को गले लगाकर उनके वंचित अधिकारों को उन्हें वापस लौटाने का सफल प्रयास किया। उनके मानव संरक्षण के उपदेश दावानल की भांि काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक देखते-ही-देखते व्याप्त हो गये और भारत की सीमाओं को पार कर अन्यान्य देशों में भी फैल गए। उनके आन्दोलन ने एक विश्व-व्यापी समुदाय का रूप लिया। इस प्रकार जब बौद्ध-धर्म का डंका गूंजा तो ऐसा अनुभव किया जाने लगा कि उनके इस आन्दोलन से ब्राह्मणवाद का ढांचा चरमराकर भूमिसात हो जाएगा। कई कारणों से जब बौद्ध-आन्दोलन की तीव्रता कम होने लगी, तब फिर शिथिल और मृतप्राय ब्राह्मणवादियों ने करवट बदली और हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के नाम पर विस्मृत परम्परा को पुनः प्रचारित करने का कुचक्र चलाया। उन्होंने फिर अपनी प्रभुसत्ता को बनाए रखने हेतु बौद्धों, जैनियों और भिन्न विचार वाले लोगों का दिन-दहाड़े सफाया करने का निकृष्ट प्रयास किया। इस क्रम में देश के दक्षिणी भाग में शैव मतावलम्बियों के कई मन्दिर ऐसे देखने को मिलेंगे, जो पहले जैन मन्दिर थे। इन्होंने उन मन्दिरों को शिव मन्दिरों में परिवर्तित किया और वहां अपने मत के प्रचार के मठ स्थापित किए, जहां से अब भी निर्दोष जैनियों के रक्तपात की गंध आती है। वहां पर एक चित्र में जैनियों को सूली पर लटकाए हुए दिखाया गया है जिससे ब्राह्मणवाद की घोर साम्प्रदायिकता के प्रमाण मिलते हैं।

दक्षिण भारत के पुराने इतिहास से पता चलता है कि जब वहां का एक राजा

बीमार हुआ तो उसे एक ब्राह्मण वैद्य की दवाई से लाभ हुआ। अपने इस इलाज के बदले कुछ भेंट देने के लिए राजा ने पूछा, तो वैद्य ने राजा से शैवमत ग्रहण करने और राज्य के जैनियों को इस मत का अनुयायी बनाने का वचन लिया। राजा यद्यपि उस वैद्य का आभारी था, अतः उसने उसके उपकार से मुक्त होने के लिए उसकी मांग को पूरा करने का वचन दिया। अपने वचन को साकार रूप देने के लिए राजा ने जैनियों को शैवमत ग्रहण करने के लिए विवश किया। इसके लिए उसने अपनी सैनिक-शक्ति का प्रयोग कर उन पर बहुत से नृशंस अत्याचार भी किए। जिसने भी उस राजाज्ञा को मानने से इंकार किया, उसे लोहे की नुकीली सलाखों पर बिठा कर मौत के घाट उतार दिया गया। चारों ओर रक्त-पात होने लगा। आश्चर्य है कि राजा के इस अत्याचार पर किसी ने भी खेद प्रकट नहीं किया, बल्कि उस जनसंहार की घटनाओं को धार्मिक कृत्य बताकर उसे चित्रों में खुदवाकर स्थायी रूप से प्रदर्शित किया जाने लगा। ये चित्र आज तक उस राजा के अत्याचारों की दुःखद गाथा का वर्णन करते हैं। इसी प्रकार मद्रास के एक जिले में एक ऐसा मेला लगता है जिसमें एक मनुष्य का कृत्रिम सर कील पर लटकाकर उसका जलूस निकाला जाता है। यह सिर **समनाल** (तमिल भाषा में जैन) का बनाया जाता है। सातवीं शताब्दी के आरम्भ में शैवमत के प्रवर्तकों और उनके अनुयायियों ने जैनियों पर कैसे-कैसे भयानक अत्याचार किए, वह सब उनके इतिहास के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है। उनके कई उत्सव भी अपनी-अपनी नृशंस वीरता और पाशविक शौर्य की स्मृति में अभी तक मनाये जाते हैं। ऐसे उत्सवों से कुछ अच्छी शिक्षा तो नहीं मिलती बल्कि गहरी घृणा पैदा होती है। विचारों के इस संघर्ष में मानव का रक्त जिस निर्दयता से बहाया गया, उस विनाश को उनकी वीरता और शौर्य कहना वीरता के मुख पर कालिख पोतने वाली बात है।

उस युग में शैवमत के प्रवर्तकों ने तत्कालीन राजाओं को अपने कुप्रभाव में लाकर अपने विचारानुकूल बनाया और उनके कंधों पर बंदूक रखकर जैनियों पर बर्बरतापूर्वक पाशविक अत्याचार किए। राजा महेन्द्रवर्मन ने पाटलिपुत्र में जैन-मंदिर को खंडित कर उस स्थान पर शैव-मन्दिर का निर्माण कराया था। इसी प्रकार सुन्दर नामक राजा ने शैवमत के प्रभाव से हजारों जैन-आचार्यों का पाशविकतापूर्वक वध कराया था। राजा दिही देव ने हजारों जैनियों को उबलते तेल के कड़ाहों में डालकर उन्हें शैवमत के नाम पर बलि का बकरा बनाया था। उनके ऐसे अनेक नृशंस कृत्यों की गाथाएं इतिहास में भरी पड़ी हैं, जिन्हें पढ़कर मानवता भी लज्जा से झुक जाती है। इसके अतिरिक्त मन्दिरों की दीवारों पर भी उनके पाशविक कुकृत्य चित्रों के रूप में देखने को मिलते हैं। मदुरा के प्रसिद्ध मीनाक्षी मंदिर में शैवों और वैश्यों द्वारा जैनियों पर किए गए रक्तरंजित

अत्याचार के चित्र खुदे हुए हैं। यह सब बर्बर अत्याचार और हिंसा की घटनाएं हिन्दू-सभ्यता के माथे पर एक कलंक की तरह रहेंगी। यह सब देखकर हिन्दू-धर्म पर विश्वास करने वाले कभी भी अपना सर ऊंचा नहीं कर सकते। इसी तरह ब्राह्मण राजा शशांक ने बौद्धों पर असंख्य अत्याचार किए। उसने बौद्धगया के मठों को समाप्त करने का प्रयत्न किया और बोधिवृक्ष को उखाड़कर आग लगवा दी थी। स्थान-स्थान पर बौद्धों का खुलेआम वध किया गया। जब लंका द्वीप के राजा ने अपने पिता का वध कर राज्य-शासन सम्भाला, तो उस वध का प्रायश्चित्त करने हेतु उसने बौद्ध भिक्षुओं को निमंत्रित किया। भिक्षुओं ने उक्त निमंत्रण को स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। उनके इस उत्तर को राजा ने अपना अपमान समझा। प्रतिक्रियास्वरूप उसने शैवमत ग्रहण कर उन बौद्धों का खुलेआम वध करवाना शुरू कर दिया। यह क्रम कई वर्ष तक निरन्तर तब तक चलता रहा, जब तक कि देश से उनका बिलकुल सफाया नहीं हो गया। उनके पुस्तकालयों को आग लगाकर भस्मीभूत कर दिया गया ताकि वे पुनः सिर न उठा सकें।

देश में फैली अराजकता तथा पृथकवादी विचारधारा के कारण हिन्दू-समाज का जो विभाजन हुआ था, उसकी सफाई में कुछ लोग यह कहते हैं कि वह सब उस समय के युग के लिए ठीक ही रहा होगा। परन्तु ध्यान से देखें तो यह मानना पड़ेगा कि यह व्यवस्था कभी भी किसी जाति के लिए हितकर सिद्ध नहीं हो सकती। केवल विचारों की भिन्नता के कारण मानव का इतना संहार धर्म की मर्यादा में नहीं आता। यह उन लोगों का अपना स्वार्थ था। उनके ये नृशंस कुकृत्य हिन्दू-सभ्यता पर कलंक बनकर रह गये हैं। किसी भी स्थिति में समाज के लिए उनका ऐसा आचरण उपयुक्त नहीं ठहराया जा सकता।

धार्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय से पता चलता है कि हिन्दू-समाज में केवल अस्पृश्यता को ही ब्राह्मणों ने प्रचलित नहीं किया अपितु स्त्री जाति के साथ भी उन्होंने घोर अन्याय का व्यवहार किया। उन्होंने नारी-समाज को निम्न श्रेणी का, घटिया और हीन होने का प्रचार किया। फलस्वरूप इस समाज की इकाई तार-तार होकर बिखरने लगी। अपनी तुच्छ कामनाओं और भोग-विलास की पूर्ति के लिए उन्होंने इस पर भी धर्म की कृत्रिम कलई चढ़ा कर धर्म के नाम पर अपने अनधिकृत अवांछनीय और विलासमय जीवन को उचित ठहराने का दावा किया। समाज में सर्वमान्य और प्रतिष्ठित होने के कारण लोगों ने उनके इस भ्रष्टाचार को बुरा नहीं माना और उनके धर्मविहीन कृत्य प्रसन्नचित्त स्वीकार किए। इसके अतिरिक्त विधवा-विवाह को भी अनुचित घोषित किया गया। फलस्वरूप वेश्याओं की संख्या में वृद्धि हुई। समाज में पापाचार फैला। अछूतों की तरह वेश्याओं को भी नागरिक अधिकारों से पूरी तरह वंचित किया गया। निष्कर्षतः

उन ब्राह्मणवादियों ने अपनी तरह-तरह की तुच्छ इच्छाओं और आकांक्षाओं की तृप्ति हेतु जो भी सामाजिक नियम बनाए, वे पुरुषों के लिए ही सुरक्षित थे। उदाहरणतया पुरुषों को प्रसन्न रखने के लिए स्त्री जाति को आभूषण इत्यादि और हर प्रकार की साज-संवार करने की मनु महाराज ने पूरी तरह स्वतंत्रता दी है। मगर दूसरी ओर इनको हर प्रकार के मानव-अधिकारों से वंचित रखा गया। समाज की यह व्यवस्था पक्षपातयुक्त थी कि जो स्त्री कभी समाज में सर्वे-सर्वा थी, समानता का अधिकार रखती थी और मनु जैसे मनीषियों को जन्म देने की शक्ति रखती थी, वही मनु के युग में पराधीन बना दी गई। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि केवल आभूषण पहनने और श्रृंगार इत्यादि करने की स्वतंत्रता तक ही सीमित कर देने पर सामाजिक परतंत्रता में वह समान अधिकार वाली स्त्री कितनी प्रसन्न रह सकती होगी। उस समय वह विवश थी। इस व्यवस्था के अनुसार उसे पुरुष की दासी बनकर ही रहना होता था। उस समय यह भ्रांति व्याप्त कर दी गई कि स्त्रियों का स्वभाव पुरुषों को गलत रास्ते पर ले जाने वाला होता है, अतः मां, बहन और बेटी के पास उन्हें एकांत में नहीं बैठना चाहिए क्योंकि वह यौन सम्बन्धी कामनाएं जागृत होने पर विद्वान् और बुद्धिमान को भी पथभ्रष्ट कर देती है, अर्थात् पुरुष को पथभ्रष्ट करने की उत्तर-दायी स्त्री ही है। उन्होंने तो यहां तक लिख दिया है कि स्त्री पुरुष के बराबर नहीं है। वह उसके अधीन है। इन्हें जीवन-भर पुरुषों के अधीन रहने के लिए मनु की अंकित रेखा मानव के जन्मसिद्ध अधिकारों के नितांत विपरीत है। ये विभाजक विचार केवल उनके दिमाग की उपज थे कि स्त्री बाल्यावस्था में अपने पिता, युवावस्था में अपने पति और वृद्धावस्था में अपने लड़कों के अधीन अपना जीवन व्यतीत करे, मगर वह पुरुष की तरह बराबर नहीं रह सकती। कितनी खेदजनक बात है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपने अधीन रखने के लिए कैसे-कैसे नियम, कैसी-कैसी विधियां और बहाने अपनाता है, कैसे-कैसे जाल बुनता है। स्त्री को अपनी हर आयु में पुरुष का परतंत्र बन कर ही रहना होगा क्योंकि यह मनुजी की आज्ञा है। इसी में मनुजी समाज की उन्नति समझते थे। मनुजी ने अपनी 'मनु-स्मृति' में केवल पुरुषों के लिए ही सब सुविधाएं सुरक्षित कीं और स्त्री के प्रति इनका व्यवहार अत्यन्त कठोर रहा। उन्होंने यह विधान दिया है कि विवाह के लिए स्त्री को अपनी सम्मति देने का कोई अधिकार नहीं है। पिता जहां चाहे वहां उसका विवाह होगा और उसी के अनुसार उसका भाग्य बनेगा। जब तक पति जीवित रहे, उसकी सेवा करती रहेगी। उसकी मृत्यु होने पर वह धर्म का पालन करे। मनुजी की धारणा के अनुसार अपने पति की सेवा करना स्त्री का परम कर्त्तव्य है। पति चाहे जैसा भी हो, उसकी तन-मन-धन से सेवा करना स्त्री का परम कर्त्तव्य एवं धर्म है। वह भले ही कितना निकृष्ट, पतित, व्यसनी

और विलासी हो, उसमें चाहे कोई गुण भी न हो, इस पर भी स्त्री को ऐसे व्यसनी और अवगुणों के आगार पति को देवता समझकर उसकी सेवा करनी चाहिए। पति अपनी पत्नी से सम्बन्ध तोड़कर दूसरा विवाह भी कर सकता है। ये सुविधाएं पुरुष जाति के लिए सुरक्षित हैं। ये स्त्री के लिए पाप की कोटि में आती हैं। इसका एकमात्र घर की रसोई इत्यादि करना ही उत्तरदायित्व है। इसे किसी शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता नहीं है। घरेलू जिम्मेदारियां ही उसके जीवन का परम लक्ष्य है। पुरुषों को तो पूरी स्वतंत्रता है, मगर स्त्रियों के लिए बेड़ियों में बंधे रहने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। इस प्रकार मनु महाराज स्त्री की मृत्यु पर या स्त्री के जीवित रहते भी दूसरा विवाह करने की अनुमति पुरुष को देते हैं, मगर यह सुविधा स्त्री के लिए नहीं है। स्त्री यदि विवाह की वेदी से उठते ही विधवा हो जाय तो उस बाल-विधवा को जीवन-भर वैधव्य के दुःख भोगने होते हैं।

मनु महाराज के ये वचन कहां तक न्यायसंगत हैं कि यदि पति जुआरी, व्यभिचारी तथा व्यसनी हो और सदा बीमार रहता हो, उसको अपमानित करता हो तो भी पत्नी को उसकी तन-मन से सेवा करनी चाहिए। यदि पत्नी ऐसा नहीं करती तो पति उसे तीन महीने के लिए त्याग सकता है और उसके सारे वस्त्राभूषण ले सकता है। यदि स्त्री बांझ हो, विवाह के आठवें वर्ष में भी यदि लड़कियां ही पैदा करती हो, ग्यारहवें वर्ष में यदि बदजुबान हो, तो तुरन्त ही दूसरा विवाह कर लेना उचित है, अर्थात् स्त्री का जीवन केवल पुरुषों को प्रसन्न करने तक सीमित है। जैसे स्त्री के लिए प्रसन्नता-अप्रसन्नता और दुःख-सुख का कोई महत्त्व ही नहीं है। मनु ने ऐसी स्त्री का, जो केवल लड़कियां ही पैदा करती हो, परित्याग करने की आज्ञा दी है। मगर वे यह न सोच सके कि केवल लड़कियों को जन्म देने में दोष स्त्री का ही नहीं पुरुष का भी है। उन्होंने विधवा-विवाह की आज्ञा नहीं दी। भविष्य के जीवन के लिए वह क्या करेगी, इस विषय में मनु का विधान मौन है। याज्ञवल्क्य-स्मृति और नारद-स्मृति में विधवा को अपने पति की सम्पत्ति से बिल्कुल वंचित किया गया है। खेद की बात है कि पति के दूसरा विवाह करने पर मनु के कानून के अनुसार स्त्री कोई आपत्ति नहीं कर सकती, मगर विधवा होने पर स्त्री को दूसरा विवाह करने की आज्ञा नहीं है। वह कंद-मूल और जंगली फल खाकर या भूखे रहकर अपने शरीर को कष्ट तथा यातनाएं दे। अपना जीवन इधर-उधर भटक-कर व्यतीत करे और अपने मृत पति की स्मृति में जीवनपर्यन्त आंसू बहाती रहे। यहां तक कि वह न तो धार्मिक उपदेश सुन सकती है और न ही धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय ही कर सकती है। उसे वेद और शास्त्रों को सुनने के लिए अयोग्य घोषित किया गया। वर्तमान समय की बात यह है कि हिन्दू विश्वविद्यालय

बनारस में एक लड़की को वेद की शिक्षा पाने की इसलिए अनुमति नहीं दी गई थी कि वह ब्राह्मण नहीं थी। आज के युग में भी, पर अब यह एक अपवाद है, इस प्रकार की और भी कई घटनाएं समय-समय पर दृष्टिगोचर होती रहती हैं, जिनसे पता चलता है कि उस स्त्री जाति के अस्तित्व और स्तर को किस सीमा तक अपमानित किया गया है, जिसने अपनी योग्यता और मौलिकता का संसार में चतुर्दिक डंका बजाया था। जिसने वेदमंत्रों की रचना करके समाज का नेतृत्व किया था। उस स्त्री जाति के अधिकार को सीमित कर अपने स्वार्थों के लिए उसे चारदीवारी में बंद करना बहुत बड़ा धोखा था। जिस समाज में स्त्रियों को सम्मानपूर्वक नहीं देखा जाता और उचित स्थान नहीं दिया जाता, वह कभी भी प्रगति नहीं कर सकता। यह उपेक्षा और आडम्बर हिन्दू-सभ्यता को सम्मान नहीं दिला सकते, क्योंकि ये सारे नियम समानता और न्याय पर आधारित नहीं हैं। संकीर्ण दृष्टिकोण के अनुसार केवल पुरुष जाति को सुविधाएं देने का ही ध्यान रखा गया है। जिस प्रकार स्त्री जाति के साथ ब्राह्मणवाद ने कठोरता का व्यवहार अपनाया, जिस तरह उन्होंने अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की और अपने स्वार्थ को बनाए रखने हेतु अनेक आडम्बर और प्रपंचों की रचना की, उसी प्रकार इन तथाकथित ब्राह्मणों ने समाज के एक वर्ग को 'शूद्र' नाम देकर उसका शोषण किया और उन्हें अछूत बनाकर पृथक् फेंक दिया। कितने दु:ख की बात है कि धर्म के ठेकेदार आज तक इसी असामान्य सामाजिक व्यवस्था के कानून की मिथ्या मर्यादा के संरक्षण हेतु तत्पर हैं।

इस विश्लेषण से पता चलता है कि अपनी प्रभुसत्ता की तानाशाही में ब्राह्मणों ने शूद्र के अतिरिक्त स्त्री जाति को भी खुले रूप में धर्म के नाम पर अपने स्वार्थों का निशाना बनाया। स्त्री जाति की सामाजिक आजादी का यहां तक हनन किया कि वह निकृष्ट बनकर अपने स्वामी की बंधक होकर रह गई। इन लोगों ने अपने अंकुश और सरदारी को आजीवन बनाए रखने हेतु स्त्री जाति पर जो अत्याचार और हिंसक बलात्कार किए, जिस तरह इन्हें अपनी वासना का शिकार बनाया, इनके साथ पाशविक खिलवाड़ किए, इस पर ब्राह्मणों को गर्व है। हिन्दू-सभ्यता में स्त्री जाति को सम्मान्य और श्रद्धेय समझा गया है, शक्ति की अधिष्ठात्री माना गया है। वह सामाजिक अधिकारों की समान रूप से मालकिन थी। पिता की सम्पत्ति में उसे पूरे अधिकार प्राप्त थे। वह शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में पुरुषों के समक्ष थी। उन्होंने शास्त्रार्थ और धार्मिक तर्क-वितर्क में पुरुषों का मुकाबला कर उन्हें पराजित किया था। उन्होंने वेद-मंत्रों की रचना कर समाज में अपनी योग्यता का सिक्का जमाया था, जिनके नाम अब भी वैदिक मंत्रों के साथ सुरक्षित हैं। युद्धविद्या में इन्होंने आश्चर्यजनक कुशलता प्राप्त की थी। इन्होंने वीरता के क्षेत्र में ख्याति पैदा की थी, अर्थात् वह पुरुषों

से किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं थीं। बल्कि वह जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों के मुकाबले में एकदम आगे थीं। विवाह के अवसर पर पुरोहित आशीर्वाद देता था कि ससुर और सास पर अपना श्रद्धापूर्वक अधिकार प्राप्त हो, वह पूरे आत्म-विश्वास और अधिकार से बात करें, कल्याणकारी हों। खेद है कि जिस स्त्री जाति ने हिन्दू-समाज के ताने-बाने को बुनने में अद्भुत योगदान दिया था, वह भी तथाकथित शूद्रों की तरह ब्राह्मणों के अत्याचार और पाशविकता का निशाना बनी। रामचरितमानस में तुलसी जी ने स्त्री जाति पर निंदनीय दोषा-रोपण कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यह मानव वर्ग हर बुराई से भरा है और इसमें सब दुर्गुण हैं। **'ढोर, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'** कहकर नारी को ढोरों और गंवारों की कोटि में ही नहीं बल्कि शूद्रों की कोटि में रख दिया है। कवि ने उसके चरित्र को निम्न स्तर पर लाकर दिखाया है, जिससे पुरुष को इस वर्ग से घृणा पैदा होने लगती है। उसके सम्मान और अधिकारों को कुचलने का उपदेश हिन्दू-धर्म और सभ्यता के अनुसार माना नहीं जा सकता।

इसके बाद के युग में स्त्रियों पर अत्याचार और भी चरम सीमा पर पहुंचे। समाज में धर्म के नाम पर अन्य बुराइयां पैदा करने के साथ उसे मृतक पति के साथ चिता में जीवित जला मारने की भयानक और घृणित परिपाटी सती-प्रथा को धर्म से जोड़ा गया। छूतछात की तरह समाज में यह भयानक और अमान-वीय प्रथा भी चालू हुई। इसे धर्म के ठेकेदारों ने गौरव समझा। इस प्रथा की प्रशंसा करके लोगों को पथभ्रष्ट किया जाता रहा। इससे सामाजिक बुराइयों में और भी वृद्धि हुई। जैसे-जैसे स्थिति में परिवर्तन होता गया, स्त्रियों की दशा और भी दयनीय होती गई। उन्हें हर प्रकार से अपमानित किया गया। अवसर-वादी लोगों ने लड़ाइयों में पराजित लोगों की स्त्रियों को अपने अधीन करने की परिपाटी को शुरू किया। विजित क्षेत्रों की लूट के साथ-साथ स्त्रियों को भी अपने अंत:पुरों में एक स्थान पर इकट्ठा कर उन्हें अपनी अपवित्र इच्छाओं का शिकार बनाया जाता रहा। इससे स्त्रियों को और भी अपमानित और पददलित होना पड़ा। इनको जुए के दांव पर लगाने की प्रथा शुरू हुई। इस प्रकार स्त्री वर्ग का स्तर निम्न से निम्नतर होने लगा और वह केवल भोग-विलास की सामग्री बनकर रह गई।

भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन करने पर अनेक ऐसी विचित्र घटनाओं की जानकारी मिलती है, जिन पर गर्व नहीं किया जा सकता। युग के बाद युग बदलते गए और साथ ही देश की राजनीति में भी परिवर्तन होता गया। अद्भुत भौगोलिक परिवर्तन भी देखने में आए। आर्य लोगों ने मूल निवासियों—दस्यु, असुर और नाग जाति के लोगों को अपने अधीन कर अपनी सभ्यता को फैलाया।

ऋग्वेद युग आया, स्त्री जाति को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और समाज में उसका स्थान ऊंचा माना जाता था। छूतछात का कहीं नाम नहीं था। फिर राम और कृष्ण के युग आए तो ब्राह्मणवाद का प्रचलन आरम्भ हुआ और किसी-न-किसी रूप में ऊंच-नीच का भेद पैदा होने लगा। स्त्रियों की प्रतिष्ठा और स्तर में निम्नता आने लगी। साथ-साथ एक पति को कई स्त्रियों के रखने की प्रथा भी चल निकली। उस समय स्त्री को जुए के दांव पर लगाना एक साधारण बात समझी जाती थी। उन्हें कई प्रकार की भयानक यातनाएं सहन करने के लिए विवश होना पड़ता था। फिर आक्रमणकारी शक आए। उनके पाशविक अत्याचारों ने देश को कुचल डाला। राजनैतिक वातावरण में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पैदा हुआ। छूतछात की संक्रामक बीमारी हिन्दू-समाज में फैल चुकी थी। वह बुद्धकाल के समय का आरम्भ था। स्त्रियों का सामाजिक स्तर बहुत नीचे गिर चुका था और ऊंच-नीच का भेद व्याप्त हो चुका था। इसका अनुमान महात्मा बुद्ध के उन विचारों से लगाया जा सकता है, जब उन्होंने अपने शिष्य आनन्द के प्रस्तावित कार्यक्रम को बड़ी हिचकिचाहट के साथ स्वीकृति प्रदान की कि स्त्री भी संघ की दीक्षा लेकर भिक्षु बन सकती है। मगर उन्होंने इसके साथ ही यह भी कहा कि बौद्धमत सैकड़ों वर्ष जीवित रहता, मगर इसमें अब स्त्री के प्रवेश होने से इसकी आयु कम हो जाएगी। अब यह पांच सौ वर्ष से अधिक नहीं चल सकेगा। इससे स्त्री जाति का समाज में स्तर और भी गिरने लगा और बराबर गिरता गया।

पाणिनि, मनु और पातंजलि कालीन युग की सामाजिक व्यवस्था ने स्त्री जाति को बांधकर रख दिया और उसने निम्न और हीन विचार पैदा किए। यह बुराई आज तक भी ठीक नहीं हो सकी। उसने समाज को भी प्रतिबंधों द्वारा जकड़ा। इस प्रकार देश में अराजकता पैदा होने और सामाजिक इकाई का ढांचा बिखर जाने के बाद छोटी आयु में लड़कियों के विवाह की प्रथा शुरू हुई और साथ पति की मृत्यु पर स्त्री को अपने पति के साथ जीवित मरने की भयानक 'सती-प्रथा' ने जन्म लिया।

छूतछात भी अपनी पराकाष्ठा पर थी। सब प्रथाएं धर्म के नाम पर चालू की गईं। कवि कालिदास के समय स्त्रियों को केवल विलास की सामग्री समझा जाने लगा। मौर्य और गुप्तकाल में स्त्री मात्र पुरुष की कामवासना की पूर्ति का साधन होकर रह गई। मुगल काल में वह सम्राटों के हरमों की शोभा बनी। इस प्रकार वह बराबर शोचनीय और दयनीय ही होती गई। इस बीच कई राज्य और साम्राज्य उभरे और कालगति में विलीन हो गए। गुर्जर और अहीर सत्तारूढ़ हुए और देश पर शासन किया। उस काल में लड़कियों को जन्म लेते ही मार देने की प्रथा शुरू हुई। मुहम्मद बिन कासिम से लेकर मुगल शासन की

समाप्ति तक स्त्री जाति ने अमानवीय यातनाएं सहन कीं। उसने शताब्दियों तक बलात्कार और हिंसक अत्याचारों को मूक होकर सहन किया। किसी भी स्त्री का सुन्दर होना दुर्भाग्य समझा जाता था। इस सुन्दरता के कारण कई भयंकर युद्ध भी हुए। इन युद्धों में जन-धन की अपार क्षति हुई और असंख्य लोगों का जीवन-मार-काट में समाप्त हुआ। हुमायूं से लेकर अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह तक स्त्री मीना बाजार की सजावट बना दी गई और बाहुबल से पुरुष की क्रीत दासी बनकर रहने लगी। उस समय प्रसिद्ध कवि सूरदास और तुलसीदास का जन्म हुआ, जिन्होंने स्त्री जाति को एक निम्न स्तर का समझकर उसके विषय में घृणाजनक और निकृष्ट विचार दिए। उन्होंने अपने काव्यग्रन्थों में स्त्री जाति के विषय में बहुत कुछ भला-बुरा लिखकर आग में घी का काम किया। इस प्रकार वे और भी नीचे गिरकर निराश्रित, निःसहाय और निराश होकर जीवन-यापन करने पर विवश कर दी गईं।

इन कवियों ने नारी के अतिरिक्त अपनी कविता में शूद्रों के विषय में जिन क्षुद्र विचारों को प्रकट किया, वह भी सराहनीय नहीं कहे जा सकते। इस सबका हिन्दू-समाज पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। वह स्त्री जिसने ऋग्वेद के कई मंत्रों की रचना की थी, जो वीरता, पौरुष और व्यवहार-कुशलता की प्रतिमूर्ति थी, विदुषी थी, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो पूरी योग्यता और अनुभव रखती थी, जिसके बिना यज्ञ एवं कोई और अन्य धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं हो सकते थे, वह नितांत पददलित अवस्था में अधःपतन के गर्त में गिरकर सिसकने लगी। निष्कर्षतः उसके समूचे सामाजिक अधिकार छीनकर उसे ताले में बंद करके रख दिया गया। उसे केवल रामायण और गीता का पाठ करने का आदेश दिया जाने लगा। इस के अतिरिक्त उसे और कोई साहित्य पढ़ने की आवश्यकता नहीं थी। उसे राम-नाम जपने में इतना उलझा दिया गया कि वह सब बातों को भूलकर पुरातन एवं परम्परागत थोथे और रूढ़िग्रस्त विचारों की दासी बनकर रह गई। स्त्री जाति का कार्यक्षेत्र पति को ईश्वर मानकर उसे प्रसन्न रखना, उसके बाद प्रभु-भक्ति और भूखे रहकर व्रतादि का पालन करने तक ही सीमित कर दिया गया।[1] स्त्री को घूंघट के आवरण में एक लज्जा की मूर्ति बनाकर कमरे में सीमित कर दिया गया। उस समय साधारण-सा सन्देह और विभ्रांति होने पर भी स्त्रियों को कठोर से कठोर दंड देने का विधान था। उसे घर से निकाल दिया जाता था। उसे असहाय होकर अपना स्त्रीत्व बचाने के लिए आश्रय की खोज में, ऐसे लोगों के चंगुल में फंसना पड़ता था जो उसके जीवन से खिलवाड़ करके उसे हमेशा के

1. सरिता, चिरंजीलाल पाराशर, अगस्त, 1960।

लिए तबाह कर देते थे। इस घोर एवं घिनौनी प्रथा के फलस्वरूप हिन्दू-समाज में भ्रष्टाचार द्रुत गति से विस्तार पाने लगा।

यह सब ब्राह्मणों के द्वारा बनाई गई व्यवस्था का परिणाम था। धर्म के नाम पर स्त्री जाति के जीवन का हर क्षेत्र में अपमान होने लगा। पुरुष उसे हर प्रकार से अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में स्वेच्छापूर्वक प्रयोग करने लगा। स्त्रियों को तथाकथित वीर योद्धाओं से विवाह के लिए बल-पूर्वक उठा ले जाने को भी पुरुषार्थ एवं वीरता का न्यायोचित प्रमाण माना जाने लगा। इसी तथाकथित धार्मिक विधान के अनुसार भगवान् कृष्ण के उपदेश से प्रेरित होकर अर्जुन ने उन्हीं की बहन सुभद्रा को बलपूर्वक उठाकर अपनी वीरता का प्रदर्शन करके उससे विवाह किया था। कृष्ण समझते थे कि हो सकता है कि स्वयम्वर के खुले मुकाबले में उसे सफलता प्राप्त न हो।[1]

इस प्रकार स्त्रियों को अपनी इच्छानुसार बलपूर्वक उठाकर उनसे विवाह कर लेना तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल एवं न्यायसंगत माना जाता था। इसके अतिरिक्त उस समय स्त्री को मोल खरीदकर उससे विवाह करने की भी प्रथा थी। पूरे इतिहास में भी एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जब किसी व्यक्ति ने इस कुरीति को चुनौती देने का साहस किया हो। ये पापा-चार धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के नाम पर किए जाते थे। इसलिए लोग ऐसी प्रथाओं का विरोध करना पाप समझते थे। इसके अतिरिक्त स्त्रियों को भेंट करने की भी प्रथा थी। उनके सम्मान, लज्जा और सतीत्व की सुरक्षा अनिश्चित थी। नैतिकता का स्तर गिरने से सत् और असत् का विवेक लुप्तप्राय हो चुका था। समाज में स्त्री की मर्यादा इतनी गिर चुकी थी कि उसे उठाकर ले भागने वाले को घृणा की दृष्टि से न देखकर उसे प्रतिष्ठित, वीरता और भुजबल का धनी समझा जाता था। इन सब बातों पर हिन्दू जाति आज भी गर्व करती है। इस प्रकार शोषण के लिए तरह-तरह की प्रथाएं और रीति-रिवाजों का प्रचलन करके समाज को गर्त में फेंक दिया गया। इस प्रसंग में महाभारत काल के गालव ऋषि की एक कथा पढ़कर उस समय के समाज के रीति-रिवाजों और नैतिक स्तर का पता चलता है। जिस समय गालव को अपने गुरु विश्वामित्र को गुरु-दक्षिणा में बहुत धन-सम्पत्ति और घोड़े इत्यादि अर्पण करने की आवश्यकता थी, तब वह इसके प्रबंध के लिए अपने मित्र गरुड़ सहित राजा ययाति के पास गया। राजा ने अपनी मांग पूरी करने के लिए अपनी लड़की माधवी उसे भेंट करने का सुझाव दिया। राजा ने अपनी लड़की की प्रशंसा में कहा कि उसमें सुर, असुर, आर्य और अनार्य सभी लोगों को मोह

1. सरिता, रतनलाल बंसल, नवम्बर, 1949।

लेने की शक्ति है। अतः उन्होंने राजा ययाति को बदले में अपनी कन्या देने का प्रस्ताव किया। यह आश्चर्यजनक है कि अपनी लड़की को गुरु-दक्षिणा के लिए बेचने का प्रस्ताव प्रस्तुत करने में न तो गालव ऋषि को लेश-मात्र भी लज्जा का अनुभव हुआ और न ही राजा ययाति को स्वीकार करते समय। कदाचित् वह भी इसे सभ्यता की मर्यादा का अंश ही समझता होगा। गालव ऋषि ने माधवी के साथ जो कुत्सित व्यवहार किया, उसकी कथा तो और भी घिनौनी है। निष्कर्षतः उस राजा के प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए उसे क्रमशः तीन राजाओं के पास भाड़े पर देकर उसका सतीत्व भंग किया गया। गालव ऋषि जिस विलासपूर्ण और रसीले हावों-भावों से उसकी मांसल देह की प्रशंसा करके उसका प्रचार करता था और विलासी वृत्ति के शिकार होकर राजा उसे खरीद-कर उसका स्वागत करते थे, वह सब मानव-सभ्यता के नैतिक मूल्यों के नाम पर कलंक है। राजा हरयसू ने यौन की नुमाइश के रसा-स्वाद के बाद उसके शरीर के सब अंगों की विस्तार से जिन शब्दों में प्रशंसा की थी, उन शब्दों को लिखने में लेखनी भी लजा जाती है।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु-दक्षिणा के लिए उस अभागी लड़की को अपने खरीदारों की कैसी-कैसी कामातुर वासनाओं का शिकार होकर आत्म-समर्पण करना पड़ा, उसे भली प्रकार समझा जा सकता है। हम यदि ऐसी सभ्यता पर गर्व करें तो यह कहां तक उचित है!

ब्राह्मणवाद की तानाशाही और उनकी निरंकुशता का कहां तक वर्णन किया जाए। धर्म के नाम पर विधवा को अपने पति के साथ जीते-जी आग में समर्पण करने की पाशविक प्रथा को स्मरण करते ही रोमांच होने लगता है। स्वार्थी लोगों ने मानव-जीवन के साथ यह खिलवाड़ शुरू करके हिन्दू-सभ्यता को कलंकित किया।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और राजा राममोहन राय ने इस कुप्रथा की हृदय-विदारक, आंखोंदेखी भयानक घटनाओं पर जो प्रकाश डाला है उससे ज्ञात होता है कि यह बुराइयों और पापाचारों को छिपाने के लिए इस प्रथा के नाम पर एक ढोंग किया गया था। बेचारी असहाय विधवा को भांग और धतूरे के घोल पीने के लिए विवश किया जाता था। वह नशे से बेहोश हो जाती थी। फिर उसे चारों ओर से लचीले बांस के साथ सीधा करके कसकर बांध दिया जाता था। इसके बाद उस जीवित लाश को उसके पति की जलती चिता की धधकती लपटों पर फेंक कर आग तेज कर दी जाती थी ताकि उसके मुंह से हाय तक भी न निकल सके। आग को अधिक से अधिक प्रचंड करने के लिए उसमें

---

1. सरिता, रत्नलाल बंसल, नवम्बर, 1949।

राल और घी का अधिक प्रयोग किया जाता था। साथ ही कई प्रकार का शोर करने वाले ढोल-मृदंग और शंख आदि बजाए जाते थे। यह सब इसलिए कि कोई उसकी करुणाजनक चीत्कार सुनकर उसकी सहायता के लिए न आ जाए।

रूढ़ियों और स्वार्थ पर आधारित प्रथा एक ऐसा जहर है, जिस पर विश्वास करने वाला मनुष्य पागल होकर विवेक खो बैठता है और बुराई करने में जरा भी नहीं हिचकता, बल्कि अपनी पापमूलक बुराई को गौरव की चीज समझता है। वह अपने कुकृत्यों पर गर्व करता है। इस प्रथा को रोकने वाले कानून के विरुद्ध उन्हीं धर्मांध लोगों ने एक सर्वव्यापी आंदोलन शुरू किया। उनका उद्देश्य यह था कि यदि 'सती' प्रथा अवैध घोषित कर दी गई तो समाज में भ्रष्टाचार फैल जाएगा। अतः इसको धर्म के साथ जोड़कर उसके विरुद्ध प्रचार किया गया। जिस प्रकार करपात्रीजी के नेतृत्व में हिन्दू कोड बिल के विरुद्ध स्वार्थी लोगों ने एक प्रचंड आंदोलन चलाकर और कई प्रकार के संदेह पैदा करके सरकार के विरुद्ध घृणा पैदा करने का प्रयास किया था उसी प्रकार का आंदोलन उस समय भी ऐसे ही लोगों ने उक्त कुप्रथा को रोकने वाले कानून के विरुद्ध चलाया था। देश की तत्कालीन कई रियासतों के राजाओं-महाराजाओं ने भी उन्हें इस आंदोलन को लम्बे समय तक चालू रखने के लिए हर प्रकार की सहायता प्रदान की, ताकि समाज में वह कानून लागू न हो सके। उक्त कानून के विरुद्ध तत्कालीन प्रिवी कौंसिल, लंदन में भी याचिका प्रेषित की गई। उसमें कहा गया था कि यदि इस कानून को लागू किया गया तो देश में भ्रष्टाचार फैलेगा और हिन्दू-धर्म की नींव डगमगा जाएगी। यह था उन ब्राह्मणों का दृष्टिकोण, जो यह चाहते थे कि उक्त कुप्रथा चालू रहनी चाहिए। उनकी यह युक्ति समझ में नहीं आती कि इस प्रथा के बन्द होने से भला हिन्दू-धर्म कैसे लुढ़क सकता है ! क्या इस धर्म की नींव इतनी कच्ची और कमजोर है कि एक कुप्रथा के समाप्त होने पर अपने स्थान से खिसककर किसी दूसरे किनारे पर सरक जाएगी ? यह समझ में नहीं आता कि उक्त प्रथा के समाप्त होने पर समाज में भ्रष्टाचार कैसे पैदा हो सकता था ? यह सब तो केवल उनकी जहालत और पिछड़ेपन का प्रमाण था। क्या उस समय हिन्दू-समाज पापाचार और भ्रष्टाचार से खाली था ? जब स्त्री अपने पति के साथ सती होती थी, उस समय भी समाज में हर तरह की बुराइयां और भ्रष्टाचार व्याप्त थे। उक्त प्रथा केवल स्त्रियों पर ही क्यों लागू होती थी ? स्त्री की मृत्यु पर उसका पति उसके साथ क्यों नहीं जल मरता था ? खेद है कि ऐसा कानून पुरुष पर समाज का कोई लागू नहीं था, क्योंकि पुरुष तो स्वयं कानून बनाने वाला था। उस सारी स्थिति का अवलोकन करते हुए अंग्रेज सरकार ने हिन्दू-समाज के स्वार्थी ठेकेदारों की याचिका को अपनी कलम के एक झटके से ठुकरा दिया। वे अंग्रेज लोग यह समझते थे कि धर्म की झूठी दुहाई की अपेक्षा हजारों स्त्रियों के

जीवन का संरक्षण अधिक मूल्यवान है। अंग्रेज सरकार ने यह सोचकर उनकी अपील को अस्वीकृत करते हुए अपने कानून को स्थगित नहीं किया। इस प्रकार सती-प्रथा कानूनी रूप से बन्द कर दी गयी। इन बुराइयों और प्रथाओं से हिन्दू-समाज की सामाजिक व्यवस्था को जो धक्का लगा, उसका मुख्य कारण यही ब्राह्मणवाद था, जिसने इस समाज में छूतछात पैदा करके एक वर्ग को सदा के लिए परित्यक्त और उपेक्षित बना डाला। स्त्री जाति पर अत्याचार, बलात्कार, उसे उठा ले जाना, उसे बेचना, जीवित जलाना अथवा जन्म होते ही गला घोंट देने की परिपाटी इसी वर्ग विशेष ने चलाई जिसके फलस्वरूप हिन्दू-समाज को सभ्य संसार के सम्मुख कलंकित होना पड़ा।

इसके अतिरिक्त उन स्वार्थी लोगों ने यह भी प्रचार करना शुरू किया कि वे समाज के श्रद्धेय, प्रतिष्ठित, पूजनीय अंग हैं और मानव-जाति में सर्वश्रेष्ठ हैं। अपनी निजनिर्मित उच्चतम स्थिति को स्थिर रखने और लोगों को अहम् और अहं-कार-भरे विचारों से प्रभावित करने के लिए कई प्रकार के अंधविश्वास भी पैदा किए गए। यह भ्रांति भी पैदा की गई कि ईश्वर तो दिखाई नहीं देता और वे ही इस संसार में ईश्वर के जीते-जागते स्वरूप हैं। इसलिए उन्हें अपनी पूजा कराने के पूरे अधिकार हैं। इस षड्यंत्रपूर्ण कार्य-प्रणाली से इन्होंने भोले-भाले लोगों को मूर्ख बनाकर अपना स्वार्थ-साधन जारी रखा। हिन्दू-समाज में जिन ब्राह्मणों ने विशेष सुविधाओं के आधार पर समाज की सारी व्यवस्था पर अपना अधिकार जमाया, उन्होंने यद्यपि अपनी सभ्यता और संस्कृति को एक आदर्श रूप देने के लिए महत्त्व-पूर्ण कार्य किए, मगर बाद में समाज का संगठन और उनकी इकाई को तार-तार करने में उन्होंने जो पाखंडमय प्रपंच किए, ब्राह्मणवाद की प्रभुसत्ता के लिए जो खेल किए, उस जघन्य पाप के अपराध से वे कभी बच नहीं सकते। यही कारण है कि आज सैकड़ों शताब्दियां बीत जाने पर भी हिन्दू-समाज अपना वास्तविक रूप प्राप्त नहीं कर सका। उन्होंने समाज को विभाजित कर तदनन्तर उस विभा-जन की रेखा को पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थायी बनाकर परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध घृणा और हीनता के भाव पैदा किए, यद्यपि आरम्भ में तो सामाजिक व्यवस्था के लिए व्यवसाय के आधार पर समाज का विभाजन हुआ था, मगर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि जन्म लेने पर ही ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण होगा अथवा शूद्र का लड़का शूद्र ही होगा। यह सब स्वार्थों से परिपूर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों की अदूर-दर्शिता और स्वार्थपरायणता का परिणाम था। इसके विरुद्ध बीच-बीच में रोष और आक्रोश भी प्रकट होता रहा। धर्मग्रंथों में ऐसी घटनाएं मिलती हैं, जिनमें ब्राह्मणों द्वारा शोषण और उनके निहित स्वार्थ के विरुद्ध पूरे जोर-शोर से विरोध प्रकट किया गया। विश्वामित्र किस प्रकार क्षत्रिय से ब्राह्मण बनकर श्रद्धास्पद हुए। वे विद्वान् और ज्ञानी होने के कारण प्रतिष्ठा के योग्य समझे जाते थे। इसी प्रकार

राजा जनक भी क्षत्रिय थे। वे ज्ञान का भंडार थे, जिन्होंने ब्राह्मणों को वैदिक ज्ञान और वेदान्त का आध्यात्मिक पाठ पढ़ाया था और प्रतिष्ठा से राजर्षि कहलाए। उन्हें विदेह भी कहा गया। इसके अतिरिक्त शूद्रों ने भी ब्राह्मणवाद का विरोध किया था। वे भी उन द्वारा किए जाने वाले शोषण के विरुद्ध थे। उनके चंगुल से मुक्ति प्राप्त करने के लिए उन्होंने प्रयत्न किए थे जो आज तक हो रहे हैं। यद्यपि व्यवस्था को चलाने हेतु इस ब्राह्मणवर्ग पर आपसी प्रेम-भाव बनाए रखने के लिए एक विशेष कार्यभार सौंपा गया था, जिसके अनुसार पढ़ना-पढ़ाना, मंदिरों की सफाई और पूजा-पाठ, विवाह-शादियां पूरी विधि के साथ करना, दान लेना, पवित्र आदर्श चरित्र और नैतिक व्यवहार पर आस्था रखकर समाज को बुराइयों से दूर रखने का उत्तरदायित्व उन्हें सौंपा गया था ताकि सत्कर्त्तव्यों को अपना पैतृक धन्धा बनाकर उसे अपनी पीढ़ी-दर-पीढ़ी समाज के शेष लोगों का आध्यात्मिक एवं नैतिक पथ-प्रदर्शन करते रहें। अपने इन उच्च आदर्शों का स्तर स्थिर न रखने पर भी उन्होंने समाज में अपना अधिकार उसी प्रकार यथापूर्व बनाए रखा। उनके इस कुप्रचार से कमजोर वर्ग के लोगों में इतनी हीनभावना आ चुकी थी कि वे कभी सोच भी नहीं सकते थे कि अपने पैतृक एवं वर्णगत कार्यक्षेत्र के बाहर वे कुछ और कर भी सकते हैं। इन्हीं बुराइयों के कारण समाज के विभाजन के बाद फिर विभाजन होने लगा और समाज कई छोटी-छोटी साधारण जातियों और उपजातियों में विभक्त होता चला गया। जिस प्रकार शरीर के भीतर के कीटाणुओं की खुराक मनुष्य का खून होती है, उसी प्रकार यह ब्राह्मण वर्ग समाज का वह अंश था, जो मानव-रक्त का शोषण करके अपने-आपको पालता था और जिसके विरुद्ध आज तक संघर्ष जारी है। इस वर्ग ने हिन्दू-समाज में बुराइयां फैलाने और निर्धारित कार्यभार को अपना पैतृक धन्धा बना कर कमजोर वर्ग के लोगों की छाती पर बैठ उनका खून चूसकर समृद्ध होते चले जाने का जघन्य नारकीय अपराध किया, जिससे सारा समाज बेकार होकर रह गया। उसकी इस निरंकुशता ने समाज में शोषण और प्रताड़णा का जो बीज बोया, उससे शोषण का क्षेत्र और भी बढ़ा। परिणामस्वरूप उनका अनुकरण करते हुए अन्य वर्ग के लोग भी अपने से निम्नस्तर के लोगों का शोषण करने लग गए। फलतः सारा का सारा हिन्दू-समाज धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक शोषण के चंगुल में फंसता चला गया।

परम्परा से सौंपे गए पवित्र कार्यभार के अनुसार मन्दिरों के पुजारी के पद के लिए उन्होंने अपना एकाधिकार बनाए रखा। पुजारी केवल वही हो सकता है जो ब्राह्मण है। दूसरी जाति का कोई व्यक्ति कितना भी योग्य क्यों न हो, कितना भी विद्वान् क्यों न हो, उसे अपने धर्मग्रंथों, वेदों और शास्त्रों का चाहे कितना भी ज्ञान क्यों न हो, वह पुजारी बनने का अधिकारी नहीं है। इसकी तुलना में

ब्राह्मण जाति का अयोग्य और अशिक्षित पुजारी बनने योग्य माना जाता है। इस धन्धे पर उनका अपना बनाया गया एकाधिकार है, दूसरों के लिए दरवाजे बंद हैं। यही कारण है कि देश के मन्दिरों में सभी पुजारी ब्राह्मण जाति से सम्बन्ध रखने वाले ही हैं। इससे स्पष्ट है कि उनके स्वयंनिर्मित एकाधिकारों ने लोगों के दिमाग में घृणा पैदा की। यही कारण है आज इसके विरोध में देश के कोने-कोने में इस एकाधिकार के विरुद्ध विद्रोह की चिनगारियां सुलगने लगी हैं।

अब्राह्मणों तथा निम्न वर्ग के लोगों में चेतना पैदा हुई है कि ईश्वर ने जब सब मनुष्य एक जैसे बनाये हैं, सबके खून का रंग एक जैसा है, कोई कारण नहीं है कि उन्हें पुजारी जैसे पवित्र कामों से वंचित रखा जाए और कुछ वर्ग के लोगों को मंदिरों में प्रवेश की छूट तक न दी जाए। अब उन्होंने यह भी अनुभव करना शुरू कर दिया है कि यह कोई ईश्वरीय सन्देश नहीं है कि इस पवित्र कृत्य के एकाधिकार को पीढ़ी दर पीढ़ी मानकर निम्न वर्ग के लोगों को पुजारी न बनने दिया जाए और उनका प्रवेश मन्दिरों में अवैध घोषित किया जाए। इसलिए उन्होंने उनके परम्परागत पेशे के एकाधिकार को समाप्त करने के लिए भी संघर्ष करना शुरू किया है। न्याय और मानवता की पुकार है कि इन कमजोर वर्गों के असहाय लोगों की इच्छाओं को नजर में रखते हुए राष्ट्रीय स्तर पर विचार किया जाय और सामाजिक सहयोग तथा कानून की सहायता से उनके लिए शताब्दियों से बंद किए गए उन्नति के द्वार खोले जाएं।

यह देश पहले परतंत्र था। इसके नागरिकों ने एक पराजित जाति के रूप में बहुत यातनाएं सहन की थीं। हमारे पूर्वज सहस्रों वर्ष तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी परतंत्रता का जीवन व्यतीत करते रहे। पुरानी रूढ़ियों, प्रयासों और संकीर्ण परम्पराओं पर अपनी आस्था रखकर सामाजिक बुराइयों को फैलाने में योगदान करते रहे। उन्होंने अंधविश्वास को अपना धर्म समझा। फलतः देश के चारों ओर जहालत, संकीर्णता और रूढ़िवादिता का अंधेरा फैलता चला गया। वे, ज्ञान, विवेक और सूझ-बूझ का सूर्य डूबने से अंधविश्वासों के अंधेरे में जीवन व्यतीत करने लगे। वे, इस प्रकार के उदासीन वातावरण में भलाई और बुराई का भेद पहचानने में पूर्णतया असमर्थ हो गए। बस, फिर क्या था। जब-जब बुराई को दूर करने के लिए संघर्ष हुआ तो उन लोगों ने उसका डटकर विरोध किया। जिन्होंने भी बुराइयों को दूर करने के लिए सर उठाया, उन्हें कई तरह के षड्-यंत्रों और कुचक्रों द्वारा अशुद्ध शब्द की तरह मिटाने का प्रयत्न किया गया। यही कारण था कि लोगों ने मुसलमानों का सामाजिक बहिष्कार किया और वे नाना प्रकार के प्रयत्न करने पर भी उन्हें अपने में सम्मिलित न कर सके। मगर उनके पूर्वज यूनानी, शक और हूण जातियों के लोगों को आत्मसात् कर चुके थे।

जो बात उनके अनुकूल नहीं होती थी उस कांटे को अपने रास्ते से दूर करने

के लिए धर्म के नाम पर रक्तपात करके ऐसा दबाव डाला जाता था कि उन्हें विवश होकर मौन रह जाना पड़ता था। फिर भी समाज में अच्छे एवं मानवीय तत्त्व जन्म लेते रहे, जिन्होंने सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए हर विरोध, अत्याचार और कष्ट को सहन किया। 'सती-प्रथा' समाप्त करने हेतु देश में जब कार्रवाई हुई तो उसके विरुद्ध भयंकर आन्दोलन छिड़ा। इसी प्रकार विधवा विवाह के विरुद्ध भी इन रूढ़िवादी लोगों ने बहुत शोर मचाया। जिन सामाजिक बुराइयों व कुरीतियों को दूर करने और सुधार के लिये जो प्रयास हुए, ब्राह्मण-वादी स्वार्थी लोगों ने उन सबका डटकर विरोध किया। हर सुधारवादी आन्दो-लन का इन शोषक ब्राह्मणों ने पूरी शक्ति के साथ विरोध किया। कहा जाता है कि हिन्दुस्तान में पहली बार जब आलू की खेती हुई तब इन ब्राह्मणों ने उसे अखाद्य कहकर विरोध किया और भांति-भांति के भ्रम पैदा किए। मगर समय बीतने पर जिस आलू के विरुद्ध प्रचार किया जाता था, वह इतना लोकप्रिय हुआ कि श्राद्ध और धार्मिक उत्सवों के अवसर पर तथा व्रतादि पर लोग आलू का विभिन्न रूप से उपयोग करते हैं। कलकत्ते में जब इसी प्रकार पानी के नल का आरम्भ हुआ तो उसका विरोध शुरू हुआ। तर्क यह था कि नलों की नालियां चूंकि गंदी नालियों से होकर मकानों और रसोईघरों में आती हैं इसलिए उनमें बहता पानी गंदा हो जाता है और उपयोग के योग्य नहीं रह जाता। यह भी कहा गया कि इसमें चमड़े के वासर का प्रयोग होता है। इसमें सारा दोष उन ब्राह्मणों का नहीं था। जहालत और विवेकशून्यता सारे देश के हिन्दू-समाज पर अपनी प्रभुसत्ता जमा चुकी थी। कांग्रेस सरकार ने पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में जब 'हिन्दू कोड बिल' (जिसके द्वारा लड़कियों को भी लड़कों की भांति अपने पिता की चल व अचल सम्पत्ति में समानता के अधिकारों की सुविधा उपलब्ध की गई थी) देश की संसद में प्रस्तुत किया तब रूढ़िवादी संकीर्ण मनोवृत्ति वाले ब्राह्मणों ने उसका ऐसा विरोध किया कि सरकार को बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ा। यह एक दूसरी कहानी है। इसके विरुद्ध देश में एक बड़ा आन्दोलन शुरू हुआ। दंगे और संघर्ष हुए। अनेक लोगों की जानें गईं। जिन रूढ़िवादी स्वार्थी ब्राह्मणों ने उक्त बिल के विरुद्ध धर्मयुद्ध किया, यह उनकी विवेकशून्यता का जीता-जागता प्रमाण है। समाज में हर सुधारवादी बात इन ब्राह्मणों के लिए परेशानी का कारण होती है। इसी प्रकार छूतछात को दूर करने का कानून भी इनकी परेशानी का कारण बना। निःसन्देह ज्यों-ज्यों अब समाज के इन एकाधिकारवादियों में सूझ-बूझ पैदा हो रही है, जागृति आ रही है और इनकी बुद्धि वास्तविकता को समझने योग्य हो रही है, वैसे-ही-वैसे हिन्दू-समाज अपनी सामाजिक बुराइयों को दूर करने में सक्षम हो रहा है। मगर जब तक ये बुराइयां पूरी तरह से दूर नहीं हो जातीं, तब तक हिन्दू-समाज सुधर नहीं सकता। इस तथाकथित अछूत वर्ग

के लोगों को योग्यता, शिक्षा तथा कुशलता के आधार पर जब तक मंदिरों में पुजारी पद का उत्तरदायित्व सौंपा नहीं जाता, तब तक संघर्ष बना रहेगा। इन लोगों को समाज में प्रतिष्ठित स्थान देने के लिए ब्राह्मणों की तरह इनको भी पूरे धार्मिक एवं कर्मकांडी अधिकार प्राप्त होने आवश्यक हैं। जिस प्रकार 'हिंदू कोड बिल' पास हुआ, छूतछात को दूर करने का बिल पास हुआ, उसी तरह देश में सरकारी प्रबंध के अन्तर्गत आने वाले मंदिरों में योग्यता के स्तर पर हरिजनों को पुजारी बनने का अवसर प्रदान किया जाए। इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए महात्मा गांधी के अहिंसा के नियमों के आधार पर शांतिपूर्ण और अहिंसक सत्याग्रह शुरू करने पर विचार करना पड़ेगा। अब समाज का यह वर्ग अपने अधिकार और समाज में उचित स्थान प्राप्त करने हेतु पूरी तरह सजग हो चुका है। अतः अब इनका कदम पीछे नहीं जा सकता।

अब यह सम्भव नहीं है कि हिन्दू-धर्म के अनुकूल न पड़ने वाली पुरानी रूढ़िगत परम्पराएं और पाखंडों को समाज में हमेशा चालू रहने दिया जाए। नए युग की मांग है कि समय और आवश्यकता के अनुसार इनमें परिवर्तन किए जाएं। प्रश्न उठता है कि मन्दिरों में ब्राह्मण जाति के ही पुजारी क्यों हों; दूसरी जातियों के लोग क्यों नहीं? अछूतों (जिनको स्वामी दयानन्द ने 'महाशय' और महात्मा गांधी ने 'हरिजन' का सम्मानपूर्ण नाम दिया था) को पुजारी बनने का अवसर क्यों न प्रदान किया जाए। यह लोग हिन्दू-धर्म के अनुसार समाज में एक समान प्रतिष्ठा रखते हैं। अतः यह भी इसके उतने ही अधिकारी हैं, जितने कि ब्राह्मण। इसके विपरीत वे समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने हेतु शांतिपूर्ण मांग प्रस्तुत करने के अधिकारी हैं ताकि धर्म के ठेकेदारों और अन्य लोगों का ध्यान अपने अधिकारों की ओर आकर्षित करा सकें। इस संदर्भ में वे पहले मन्दिरों में प्रवेश हेतु शांतिमय आन्दोलन कर अपनी उचित मांगों को प्राप्त करने में सफल हो चुके हैं। वे शांतिपूर्ण उपायों से पुजारी का पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

समय की गति के अनुसार ब्राह्मणों को न्यायोचित कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देना चाहिए और उन्हें स्वेच्छा से अछूत भाइयों को गले लगाकर पुजारी बनने का अवसर देना चाहिए। इससे उनका मनोबल और निष्ठा बढ़ने के साथ-साथ ब्राह्मणों की अपनी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। अब समय आ गया है कि उन्हें हमेशा के लिए उनके उचित अधिकारों से वंचित नहीं रखा जा सकता। यदि उनका विवेक पराजय और पराधीनता के प्रभाव से जड़ दिया जाता रहा और उन्हें हीनता की कोटि में सीमित रखकर उसी तरह शोषित किया जाता रहा तो निराशा और ईर्ष्या की चिंगारियां एक भयानक आग बनकर उनके (ब्राह्मणों के) एकाधिकार के भवन को भूमिसात् कर देंगी। अतः ऐसी स्थिति पैदा होने से पूर्व ही उनकी

आकांक्षाओं और भावनाओं पर विचार करना परमावश्यक है। इससे एक ओर उनका मनोबल बढ़ेगा और दूसरी ओर समाज में इस असाधारण परिवर्तन से उनका असन्तोष भी कम होगा। साथ ही दूसरी बुराइयों की भी समाप्ति का रास्ता साफ हो सकेगा। हिन्दू-समाज अपनी रूढ़ियों की पुरानी बुराइयों और संकीर्ण दृष्टकोण से प्रभावित होने तथा मानवीय आदर्शों का जानकार न होने से इस सुधार को शायद अच्छा न समझे। संभव है कि वह अहिंसक उपायों से इसके विरुद्ध 'धर्मयुद्ध' करे, क्योंकि इन कथित धर्म-गुरुओं को यह अच्छा नहीं लगेगा कि इनके सामाजिक अधिकार कम हों या उनके एकाधिकार में कोई हस्तक्षेप करे। फिर भी मानवता की भलाई और समानता के लिए इन बुराइयों का दूर होना अनिवार्य है। अतः सरकार को इस ओर अविलम्ब ध्यान देना चाहिए।

छूतछात की कुत्सित परिपाटी मानव के मौलिक अधिकारों के लिए चुनौती है। यह किसी युक्ति से और हिन्दू-धर्म के स्वभाव की कसौटी पर भी पूरी नहीं उतरती कि जन्म के आधार पर एक वर्ग को अछूत और दूसरे वर्ग को ब्राह्मण ही समझा जाए। समाज में जन्म के आधार पर छोटा या बड़ा अर्थात् उच्च या हीन समझना हिन्दू-धर्म के स्वभाव के अनुकूल नहीं है। लगभग प्रत्येक धर्म और विशेषतः हिन्दू-धर्म तो मानव को एक-दूसरे के साथ प्रेम करना और सबको अपना भाई समझने की शिक्षा देता है। यह छूतछात की बीमारी तो हिन्दुत्व के रक्त को चूस रही है और इसे दिन-प्रतिदिन कमजोर करती जा रही है। यदि पुराने रोग पर काबू पाने के लिए गम्भीरता से विचार न किया गया तो हिन्दुत्व निकट भविष्य में पूर्णतया समाप्त होकर रह जाएगा। हिन्दू-समाज की संस्कृति में जात-पांत और एक-दूसरे से घृणा करने का कोई स्थान नहीं है। हिंदू-धर्म के प्राचीन काल में केवल सभ्य एवं असभ्य जातियों में अर्थात् आर्यों और दस्युओं में ही राष्ट्र विभक्त था। उस पुरानी जाति में जात-पांत की कोई व्यवस्था नहीं थी। रक्त अथवा जन्म के आधार पर न तो कोई ब्राह्मण होता था और न कोई शूद्र। सभी लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार काम करते थे। किसी का कोई पूर्व निश्चित पैतृक धन्धा नहीं था और न ही कोई अपने वंशज को अपने पैतृक धन्धे को अपनाने के लिए विवश ही कर सकता था। सब लोग अपनी इच्छानुसार जो कोई जैसा चाहे वैसा धन्धा अपनाने में स्वतन्त्र थे। उस सभ्यता के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि बहुत समय व्यतीत होने के बाद तक जब आरम्भ में हिन्दू-समाज को मनु ने चार भागों में विभक्त किया, उस समय भी ब्राह्मण का लड़का कभी क्षत्रिय के रूप में बदल जाता था और किसी समय वैश्य जाति में, यहां तक कि किसी समय शूद्र जाति में भी बदल जाता था। इस प्रकार शूद्र जाति का लड़का भी अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय जाति में बदल जाता था। इसके प्रमाण हमें महाभारत में मिलते हैं। जिस व्यक्ति में

सच्चाई, प्रेम, सहानुभूति, मानवता, विद्वत्ता, अहिंसा, सत्यपरायणता आदि सद्गुण हैं, उसे 'ब्राह्मण' कहा जा सकता है। केवल शूद्र के घर पैदा होने से ही कोई 'शूद्र' नहीं हो सकता। इसी प्रकार ब्राह्मण के घर पैदा होने मात्र से उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। गुणों और कर्मों के अनुसार ही 'ब्राह्मण' अथवा 'शूद्र' हो सकता है। यदि ब्राह्मण के घर पैदा होने वाले के कर्म ओछे और नीच हैं, तो वह ब्राह्मण नहीं कहला सकता, उसे 'शूद्र' ही कहा जाएगा, अतः जिसका जीवन मनुष्यता की भलाई के लिए समर्पित है, जो निडरता से सच्चाई में आस्था रखते हुए लोगों को ठीक मार्ग पर चलने के लिए उपदेश दे, वही वास्तव में 'ब्राह्मण' है। यदि ब्राह्मण अपने शास्त्र और धर्मनिष्ठ कर्त्तव्यों को निभाने में कोताही करता है, तो उस अवस्था में वह ब्राह्मण कहलाने योग्य नहीं है। मगर परम्परा को धर्म का आधार मानकर ऐसे व्यक्ति को ब्राह्मण कहना जिसने ब्राह्मण के घर तो जन्म लिया हो, किन्तु वह अनेकानेक दुर्गुणों से भरा हो, ऐसी व्यवस्था धर्म के सर्वथा विपरीत मानी जाएगी।

बौद्धमत के ग्रंथों के स्वाध्याय से यह भी पता चलता है कि जब महाराजा प्रसेनजित को पता लगा कि उनकी महारानी उच्च जाति की नहीं हैं तो उन्होंने अपनी सारी कहानी महात्मा बुद्ध को बताई। उस समय महात्मा बुद्ध ने जो उत्तर दिया, वह उपदेश हिन्दू-समाज के लिए आंखें खोलने वाला है। बुद्ध ने कहा : पहले की पुरानी पीढ़ी के विद्वानों और बुद्धिमानों ने कहा है कि स्त्री किसी जाति से भी संबंध क्यों न रखती हो, उसकी संतान अपने पिता के नाम से ही जानी जाएगी। महाराजा ने महात्मा बुद्ध के उपदेश को माना और महारानी का राजदरबार में पूरे राजकीय ठाठ के साथ सम्मान किया जाने लगा। इसी प्रकार दूसरी जाति के लोग भी सामाजिक एकाधिकार और शोषण से ऊपर थे, गोआकि उस समाज में जात-पांत की दीवार नहीं थी और न ही पैतृक धन्धे को ही अपनाते चले जाने का प्रचलन था। समाज का कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा से जो चाहे धन्धा अपना सकता था। यहां तक कि तथाकथित उच्च जाति के लोगों ने भी गृह-उद्योग और कला-कौशल का धन्धा अपनाया हुआ था। इन ग्रामीण उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त पशु-पालन, अध्यायन आदि करने के साथ-साथ वे जुलाहे, कोचवान का भी काम करते थे। इसी प्रकार उससे निम्न स्तर के लोग मिट्टी के बर्तन-भांडे बनाने, टोकरी बनाने, फूलों के हार बनाने और रसोइये का काम भी करते थे। काम कोई कैसा भी करे, व्यवसाय छोटा-बड़ा नहीं माना जाता था। सभी समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते थे। अतः व्यवसाय के आधार पर कोई भी उच्च और नीच नहीं था और सबको सम्मान एवं प्रतिष्ठा एक समान मिलती थी।

प्राचीन इतिहास से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में विवाह जात-पांत के बंधन से मुक्त था। अर्थात् जात-पांत की संकीर्णता में विवाह नहीं बंधा था।

उच्च जाति के लोग किसी जाति के कुल की स्त्री के साथ विवाह करने में स्वतंत्र थे। इस पर कोई आपत्ति नहीं उठाता था। यह उस समय की साधारण रीति थी। इस प्रकार आपसी सहयोग और मेल-मिलाप रहता था। मनु महाराज ने समाज को विभक्त करने के बाद और भी कई प्रकार के नियम बनाए, जो हिन्दू-समाज में फैलकर धार्मिक व्यवस्था के रूप में उभरने लगे। इसे धर्म का एक अंग समझा जाने लगा। ब्राह्मण जाति पर मनु की विशेष कृपा-दृष्टि थी। उन्होंने ब्राह्मण बनने के लिए सात पीढ़ी का समय निर्धारित किया था। शूद्र का निरंतर सात पीढ़ी तक ब्राह्मण के घर विवाह होने पर वह ब्राह्मण हो सकता है। इस प्रकार की आस्थाओं और व्यवस्थाओं में हिन्दू-समाज विभक्त होता गया। छूत-छात की बीमारी इतनी बढ़ चुकी थी कि शूद्र का चेहरा तक देखना एक महान् पाप और अपशगुन समझा जाता था। उसके दिखाई देने पर आंखें पानी से साफ की जाती थीं ताकि उसे देखने के पाप से अपने को मुक्त किया जा सके। उसकी परछाईं से भी सवर्ण अपने को दूर रखते थे।

पुराने इतिहास में एक घटना आती है कि जब शूद्र जाति के दो लड़के तक्ष-शिला में शिक्षा प्राप्त करने गए तो उन्होंने अपने जन्म और जाति को छुपाए रखा। दोनों में से एक पढ़ाई में तेज था। यह देखकर दूसरों ने उसके जन्म और जाति के विषय में जानना चाहा। वास्तविकता का रहस्योद्घाटन होने पर उसे निर्दयता-पूर्वक पीटा गया। अंत में वह बेहोश होकर मर गया। यह वह समय था, जब ब्राह्मणवाद अपने चरम पर था और धर्म को अपने स्वार्थ के सांचे में ढाल कर लोगों को पथभ्रष्ट कर रहा था। मगर समय की गति के साथ चूंकि मानव की मनोवृत्ति अधिकतर अपने से कमजोर को अपने अधीन कर उसका अधिक-से-अधिक शोषण करने की होती है, अतः इस प्रकार की कुरीतियों और परम्परा के प्रचलन ने धर्म का एक भाग बनकर समाज को छिन्न-भिन्न करना शुरू किया। शोषण करने वालों ने जात-पांत के विभाजन से अपने समय में बहुत लाभ उठाया और समाज उनके स्वार्थों, आडम्बरों तथा पाखंडों के फलस्वरूप कई दलों, गुटों और वर्गों में विभक्त होता चला गया।

महात्मा बुद्ध के समय आर्य लोगों के अतिरिक्त एक जाति और भी थी जो असभ्य और जंगली थी और आर्य लोगों से दूर रहती थी। आर्यों ने इसे 'मलेच्छ' की संज्ञा दी थी। पाणिनि ने इन लोगों को दूसरे नाम से पुकारा है। इसी प्रकार मैगस्थनीज़ ने भी तात्कालिक समाज के विषय में बहुत कुछ लिखा है कि उस समय समाज सात भागों में विभक्त था। अपनी जात-पांत से बाहर कोई विवाह नहीं कर सकता था और न ही कोई एक से अधिक व्यवसाय अपना सकता था। समाज का ढांचा सामाजिक नियमों और उपनियमों में इस कदर बंधा था कि स्वेच्छा से सांस लेना भी कठिन था। हिन्दू-धर्म के अनुसार ब्राह्मण वही हो सकत

है, जिसका रहन-सहन सादा हो, खान-पान सात्त्विक हो, नैतिकता उसके चरित्र की आदर्श हो, जो यौन-संबंधी इच्छाओं से मुक्त रहकर अपने धर्म के विषय में पूरा ज्ञान रखता हो। जो नैतिकता के बल पर दूसरों को अपने कर्त्तव्यों के प्रति अवगत कराकर उन्हें समाज का एक उपयोगी अंग बनाने में सक्षम हो। जो समाज की उन्नति के सुकार्य कर उसमें स्थिरता लाने वाला हो, ताकि लोग बुराई को अपनाकर अपने मार्ग से न भटक सकें।

मगर आधुनिक युग का ब्राह्मण अपने मार्ग से भटक चुका है। वह अपने स्तर से गिर चुका है। हिन्दू-धर्म के अनुसार ब्राह्मण के लिए जो नियम और कर्त्तव्य हैं, आज वह उसके शतांश से भी अपरिचित है। समाज ने उसे जो शक्ति प्रदान की थी, वह उसका अनुचित लाभ उठाकर अपने स्वार्थ हेतु दूसरों का निर्दयतापूर्ण शोषण करना शुरू कर चुका है। कभी वह सादगी तथा सात्त्विक जीवन बिताता था। अब भोग-विलास और तामसिक जीवन के अधीन हो उसे धर्म ने जो कर्त्तव्य सौंपे थे, वह उन सबको भूल गया है। वह पाखंड और झूठ को अपनाकर, कृत्रिम झूठे और अनुचित रीति-रिवाज शुरू करके समाज की जड़ों पर कुठाराघात करने लगा है।

हिन्दू-सभ्यता, संस्कृति और धर्म संसार में सबसे पुराना है और सम्पूर्ण मानवता की सेवा करने की शिक्षा देता है। वह हिन्दू-समाज को सन्देश देता है कि जन्म के आधार पर कोई ब्राह्मण नहीं है। यदि कमजोर वर्ग के किसी व्यक्ति में ब्राह्मणों वाले गुण हैं, तो वह ब्राह्मण कहला सकता है। इसी प्रकार किसी ब्राह्मण में समाज की ओर से निर्धारित सारे गुण नहीं हैं तो उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि किसी शूद्र जाति से संबंध रखने वाले ने यदि अपने में अच्छे गुण पैदा किए तो समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाने लगा। ऐसे कई उदाहरण पढ़ने को मिल जाते हैं। यथा—ऐत्तरेय ब्राह्मण के अनुसार शूद्र जाति की कोशाइल ऊषा में अच्छे गुण होने पर उसे ज्ञानार्जन के लिए ऋषियों की श्रेणी में गिना गया। उसने इतनी विद्वत्ता प्राप्त की कि उसका समाज में सम्मान होने लगा और वह प्रतिष्ठा से देखा जाने लगा। ऋग्वेद में उसके नाम से कई मंत्र मिलते हैं। इसी तरह जबाला अर्थात् 'सत्यकामा' को अपने गोत्र और अपने कुल या पूर्वजों के बारे में कुछ ज्ञान नहीं था। चूंकि उसकी माता का नाम जबाला था, इसलिए उसे भी उसी नाम से सम्बोधित किया जाता था। वह प्रकांड विद्वान् था। उसकी समाज में योग्यता के कारण धाक थी। यजुर्वेद में उसके नाम से कई मंत्र हैं जिनसे उसकी योग्यता का पता चलता है। धर्मग्रंथ हमें बताते हैं कि विश्वामित्र क्षत्रिय और वाल्मीकि शूद्र जाति के ऋषि थे। उन्होंने समाज में जो प्रतिष्ठा और सम्मान पाया उसका दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। वे आज भी हिन्दू-समाज में श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। स्पष्ट

है कि अपने अच्छे कर्म और गुणों के अनुसार ब्राह्मण शूद्र और शूद्र ब्राह्मण बन सकता है। भागवत-पुराण के नवम् स्कंध से ज्ञात होता है कि राजा पैरश्री क्षत्रिय से शूद्र हो गया था और क्षत्रिय राजा धृष्ट का घराना ब्राह्मण हो गया था। इस प्रकार राजा धृष्ट का लड़का नाभाग वैश्य हो गया था। शेष पुराणों में भी राजा ऋषभदेव का लड़का और राजा भरत के 81 सगे भाइयों के क्षत्रियों से ब्राह्मण हो जाने के उल्लेख मिलते हैं।

जातिवाद की संकीर्णता ने कई प्रकार की कुरीतियों, बुराइयों व घृणा को जन्म दिया जिससे हिन्दू-समाज का ताना-बाना बिखरकर रह गया। हमें वे सारे सुधार करने हैं ताकि यह समाज बुराइयों को समाप्त कर अपनी वास्तविक स्थिति में आ जाए और राष्ट्र प्रगतिशील हो सके।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राचीनकाल में धार्मिक व्यवस्था अत्यन्त उदार और पूर्णतया मानवीय धरातल पर आधारित थी। परन्तु समय की गति के साथ-ही-साथ 'वसुधैव कुटुंबकम्' का उद्घोष करने वाली इस जाति की उदारता और गरिमा स्वार्थों की दीमक की नजर होकर एक अत्यंत संकीर्ण और अमानवीय रूप धारण कर बैठी।

5

बीसवीं शताब्दी के सुधारक

हिन्दू-समाज में समय-समय पर जो समाज-सुधारक पैदा हुए, वे छूतछात के विरुद्ध अभियान चलाते रहे। उन्होंने समाज में फैली कुरीतियों और आडम्बरों को दूर करने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने में भी संकोच नहीं किया। उन्होंने समाज को घुन की तरह भीतर ही भीतर खाने वाली इन बुराइयों को दूर करने हेतु एकाधिकारी सत्ता के लोलुप रूढ़िवादी लोगों के विरुद्ध बहुत कल्याणकारी कार्य किए। इस क्रम में बंगाल में 'ब्रह्मसमाज', महाराष्ट्र में 'प्रार्थनासमाज' और पंजाब में 'आर्यसमाज' ने देशभर में नई चेतना का संचार किया। इन सार्व-जनिक संस्थाओं ने परम्परागत रूढ़ियों और अंधविश्वासों को दूर करने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए। मानवीय न्याय और नैतिकता के स्तर को ऊंचा उठाने, परस्पर बन्धुत्व, प्रेम-भाव तथा विवेक को जाग्रत् करके समाज को अंधकूप से बाहर निकालने का स्तुत्य कार्य किया। यह वह समय था जब 'सती-प्रथा' के विरुद्ध लोगों की भावनाएं उभर रही थीं। वे समाज से पाशविक रीति-रिवाजों का उन्मूलन चाहते थे, क्योंकि ब्राह्मणवाद से प्रभावित जन वर्ग का समाज पर पूरा अंकुश था। उसने अपनी निर्मम धार्मिक व्यवस्थाओं से स्त्री वर्ग के अधिकारों को बुरी तरह से कुचला और दूसरे वर्ग के लोगों को भी अपने स्वार्थ-साधन के लिए पूर्णरूपेण अपना माध्यम बनाया। उन्होंने कई कुप्रथाओं को प्रचलित किया। कितनी भौंडी और अनुचित प्रथा थी कि स्त्री अपने मृत पति के साथ अपने-आपको तो जीवित ही अग्नि को समर्पित करे जो कि उसके लिए अनिवार्य था, मगर स्त्री के मरने पर उसके पति के लिए तो ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी, बल्कि वह तो तुरन्त पुनर्विवाह के लिए स्वतंत्र था। न्यायोचित तो यही था कि पुरुषों के लिए भी ऐसा ही विधान होता। राजा राममोहन राय और अन्य नेताओं ने अपने भगीरथ प्रयत्नों से लार्ड डलहौज़ी के सहयोग से 'सती-प्रथा' के सामा-जिक कलंक को विधान द्वारा हिन्दू-समाज से समाप्त किया।

मान्य ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और राजा राममोहन राय ने 'सती-प्रथा' के अतिरिक्त छूतछात और अन्य सामाजिक बुराइयों को भी दूर करने के लिए बहुत कार्य किए। समाज-सुधारकों के अतिरिक्त राजनैतिक नेताओं ने भी छूत-छात की बीमारी को दूर करने के लिए भगीरथ प्रयत्न किए। इस क्रम में जस्टिस राणाडे, गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य तिलक आदि ने इसके विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई। डिप्रेस्ड क्लासेज मिशन नाम की संस्था को संगठित कर इसकी देश में शाखाएं स्थापित कीं और समाज-सुधार एवं सार्व-जनिक कल्याण-कार्य शुरू हुए। इन पिछड़े वर्गों को समाज में सम्मानपूर्वक स्थान दिलाने के लिए संघर्ष किए जाने लगे। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए देश की प्रमुख राजनैतिक संस्था 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' ने भी इसे अपने कार्यक्रम में शामिल किया। फलतः 1917 में डा० ऐनी बेसेन्ट की अध्यक्षता में कांग्रेस के वार्षिक सम्मेलन में इस दिशा में कई एक प्रस्ताव भी पारित किए गए। उस नियमावली के द्वारा हरिजन वर्ग के लोगों पर किए जाने वाले अत्याचार के विरुद्ध अभियान चलाया गया। उन असहाय और त्रस्त लोगों पर होने वाले पाशविक व्यवहार को दूर करने के लिए प्रयत्न किए जाने लगे।

श्री गोखले ने छूतछात और अन्य बुराइयों के विरुद्ध आन्दोलन चलाने के लिए 'भारत-सेवक-समाज' की स्थापना की। रूढ़िवादी लोगों ने उनके सुधार-वादी अभियान का घोर विरोध करना शुरू कर दिया क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि कोई उनके स्वार्थ में हस्तक्षेप करे और उनके एकाधिकार को कोई चुनौती दे। इस आन्दोलन के विरुद्ध टीका-टिप्पणी होने लगी। तरह-तरह के षड्यन्त्र रचे जाने लगे। सुधारवादियों की इस कड़ी में डा० अम्बेडकर का नाम महत्त्व-पूर्ण है, जिन्होंने बहुत ही स्तुत्य कार्य किया है। इतिहास में उनका नाम विशेष स्थान रखता है। उन्होंने हिन्दू-समाज को जोर से झंझोड़ा। जब उन्होंने देखा कि भगवान् राम और कृष्ण के अनुयायी कमजोर वर्ग की लाशों पर अपने महल खड़े करना अपना पैतृक अधिकार समझते हैं, ये लोग निर्धनता और पिछड़ेपन के घोर अंधकार और घुटन में जीवन और मृत्यु के शिकंजे में सिसक रहे हैं और कोई इनकी सुध लेने वाला नहीं है, तो उन्होंने उन सब शोषण करने वाले हिन्दुओं की निजनिर्मित शोषण-प्रणाली को चुनौती देने हेतु 'डिप्रेस्ड क्लासेज वेलफेयर लीग' की स्थापना कर, देश में इस दानवीय अनाचार को दूर करने के लिए एक आन्दोलन शुरू किया। इन्हें समाज में उचित स्थान दिलाने हेतु शांतिपूर्ण सत्याग्रह का संघर्ष शुरू किया। डा० अम्बेडकर के लिए प्राचीन काल से इस शोषितवर्ग पर होने वाले अत्याचार और इनके प्रति व्याप्त घृणा और उपेक्षा का व्यवहार असह्य था। अतः उन्होंने अपना सर्वस्व दांव पर लगा दिया। उन्होंने समाज को अपनी सत्ता के अधीन रखने वाले ब्राह्मणों और अन्य

इस प्रकार के लोगों को राष्ट्र के 'बीमार मनुष्य' कहा और बताया कि ये वे लोग हैं, जो अपने स्वार्थ हेतु समाज में भांति-भांति की बुराइयों को जन्म देते रहे हैं। उन्होंने कहा कि उन्हें तभी सन्तोष होगा जब वे हिन्दू-समाज को यह अनुभव करा देंगे कि वे देश के अस्वस्थ लोग हैं और इनकी अस्वस्थता दूसरे लोगों के लिए हानिकारक है। ये लोग देश की उन्नति में बाधक सिद्ध हो रहे हैं, जिनका तुरन्त उपचार होना अनिवार्य है। इस प्रकार उन्होंने कमजोर वर्ग के लोगों में हीनता और छूतछात को दूर करने के लिए कड़ा संघर्ष किया। उन्हें इस अभियान के आरम्भ में कुछ निराशा भी हुई। हिन्दू-समाज के परम्परागत संकीर्ण दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर उन्होंने बौद्ध-धर्म के अनुयायी होकर हरिजनों को इस समाज से पृथक् करने का प्रयास किया। पर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। कारण, समाज की इस इकाई की जड़ें इतनी गहरी तथा मजबूत थीं कि वे राम और कृष्ण की पूजा करने वाले इस कमजोर वर्ग को हिन्दुओं से पृथक् न कर सके। परन्तु यह देखकर प्रसन्नता होती है कि उन्होंने इस पर भी अपना जीवन इन लोगों के कल्याणार्थ समर्पित किया।

निःसन्देह मानवता मनुष्य को मनुष्य से घृणा करने की अनुमति नहीं देती और हिन्दू-समाज और संस्कृति के जन्मदाता वेद भी इस बात की आज्ञा नहीं देते हैं कि एक विशेष प्रकार के वर्ग को 'शूद्र' कहकर उसे स्वार्थ-साधन और सत्तालोलुपता का साधन बनाया जाए। ईश्वर से डरने वाले मनुष्य के लिए भी यह सब सहन करने योग्य नहीं है कि एक वर्ग को बलि का बकरा बनाकर और उसका शोषण करके समाज में अपनी प्रभुसत्ता बनाई जाए। मगर शताब्दियों से अत्याचार की चक्की में पिसते चले आ रहे इन लोगों में यह विवेक और सूझ-बूझ ही नहीं रही कि मानव होने के नाते समाज में इनको भी वही स्थान प्राप्त है जो दूसरे लोगों को। इन्होंने यह सोचना भी छोड़ दिया कि उनका भविष्य भी कभी उन्नत और समृद्धिशाली हो सकेगा। वे सोचने लगे कि वे संसार में शोषित होने के लिए ही पैदा हुए हैं। दूसरों के दास बनकर जीवन काटना ही उनकी नियति है। निर्धनता उनकी पैतृक सम्पत्ति है, जिससे उनको कभी मुक्ति नहीं मिल सकती। वे इन विचारों की कल्पना में अपने जीवन के दिन पूरे कर इस संसार से विदा हो जाते हैं।

समाज में इसकी जो प्रतिक्रिया हुई, वह बहुत भयानक थी। ये लोग पादरियों के चंगुल में फंसकर ईसाई-धर्म को ग्रहण करने लगे। पादरी इन लोगों के साथ स्नेह प्रदर्शित करके उनके दुःख के भागीदार बनकर उनका हृदय जीतने लगे। पादरी उन्हें ईसाई-धर्म का अनुयायी बनाने लगे। इस पर भी रूढ़िवादी हिन्दुओं की आंखें नहीं खुलीं। आज देश में जो ईसाई दिखाई देते हैं, वे अधिकांशतः वही हैं जिनको धर्म के नाम पर ठुकरा दिया गया था। जब ईसाई पादरियों ने उन्हें

अपने समाज में सम्मानपूर्ण स्थान दिया, तो वे हिन्दुओं से दूर रहने लगे। फलतः वे हिन्दू-जाति से कटकर पृथक् हो गए और हिन्दू-समाज के विरुद्ध घृणा का प्रचार करने लगे। आश्चर्य है कि ईसाई-धर्म ग्रहण करने के बाद हिन्दू उन्हें अपने पास बिठाने लगे जिनका अभिमानी तथाकथित सवर्ण हिन्दू स्पर्श करना भी पाप समझते थे। कैसी विडम्बना है कि जब वे लोग राम और कृष्ण के पुजारी और हिन्दू-धर्म के अनुयायी थे, तब उनसे घृणा की जाती थी और जब वही लोग हिन्दू-धर्म को त्यागकर ईसाई मतावलंबी हुए तब उनकी अस्पृश्यता समाप्त हो गई और उनके साथ मिल-बैठने में संकोच नहीं रहा। मगर दूसरी ओर देश के उत्तर-पूर्वी भाग में ट्राइबल लोगों में आज भी जो अशांति और अराजकता पाई जाती है, उनमें पृथक्ता की जो मनोवृत्ति देखने में आती है, उसका उत्तरदायी हिन्दू-समाज ही है। देश को खण्ड-खण्ड करने के लिए वहां आज जो अराजकता है, उस सबके पीछे ईसाई पादरियों का हाथ है। उनके मन में देश के विधान का कोई आदर नहीं है, राष्ट्रीय ध्वज के प्रति कोई श्रद्धा नहीं है। इसे उन्होंने चुनौती दे रखी है। वे नागालैंड, मिजोरम आदि नामों से अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करना चाहते हैं। इस संघर्ष में वे हर प्रकार की हिंसा के लिए तत्पर रहते हैं और अवसर पाते ही मार-काट और लूट-मार करते हैं। यह सब इन्हीं हिन्दुओं के व्यवहार की देन है, जो उनके अमानवीय व्यवहार से तंग आकर ईसाई बने। आज वही, जो हिन्दू-धर्म के अनुयायी थे, हिन्दुओं के कट्टर शत्रु हैं। इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या हो सकता है कि हिन्दू-रक्त से सम्बन्ध रखने वाले, आज देश की एकता के लिए खतरा बने हुए हैं। यह सब होते हुए भी देश का सौभाग्य है कि यहां समाज-सुधारक पैदा होते रहे और हिन्दू-जाति की दयनीय स्थिति देखकर उनमें पैदा हुई बुराइयों और त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करते रहे। वे स्वार्थी तत्त्वों की मनोवृत्ति को बदलने हेतु प्रयास करते रहे। इस संदर्भ में सन् 1917 ई० में जोधरा (गुजरात) में डिप्रेस्ड क्लासेज कान्फ्रेंस के अवसर पर महात्मा गांधी रंगमंच पर आए हुए थे। उन्होंने इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया। उनको इन पिछड़े वर्ग के लोगों में भलाई और उन्नति का काम करने के लिए मनोनीत किया गया। विशेषतः उनकी गंदी बस्तियों में शिक्षा के प्रसार हेतु स्कूल खोलने के कार्यक्रम को अपनाया। इससे समाज में नई लहर पैदा हुई और कर्त्तव्यपरायणता को समझने का अवसर मिला।

दूसरे वर्ष 1918 ई० में दूसरा सम्मेलन श्री विट्ठलभाई पटेल की अध्यक्षता में नडियार (अहमदाबाद) में आयोजित हुआ। इस कार्यक्रम के अनुसार इन अछूतों की बस्तियों में स्कूल और आश्रम खोलने का काम पूरी तत्परता से होने लगा। इन प्रस्तावित कार्यक्रमों और योजनाओं को क्रियान्वित करने हेतु ठक्करबापा की अध्यक्षता में रचनात्मक कार्य चालू हुआ, जिन्होंने स्कूल और

आश्रम चालू करने के अतिरिक्त उन गरीब लोगों को पीने का पानी उपलब्ध करवाने के लिए कुएं खोदने का काम शुरू किया। सन् 1920 में कांग्रेस के कलकत्ता-सम्मेलन में कांग्रेस-सदस्यों के लिए एक दस-सूत्रीय कार्यक्रम की घोषणा की गई, जिसकी एक धारा यह भी थी कि हर हिन्दू सदस्य के लिए छुआछूत को दूर करना अनिवार्य होगा। अछूतों की सहायता, उनके दुःख-दर्द को दूर करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करना कांग्रेसियों का परम कर्तव्य हो गया। उक्त प्रस्तावित प्रोग्राम को तेजी से आगे ले जाने के लिए कांग्रेस के 1921 ई० के सम्मेलन में छुआछूत के विरुद्ध अहिंसक सत्याग्रह करने का एक सुदृढ़ कार्यक्रम भी बनाया गया। महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता-संग्राम के साथ समाज में व्याप्त इस बुराई और भयानक रोग को दूर करने के लिए भी बिगुल बजाया। इस प्रकार उन्होंने शताब्दियों से सोये हुए हिन्दू-समाज को अपनी पूरी शक्ति से झकझोरा और उन लोगों को ठीक मार्ग पर लाने के लिए मरणव्रत रखने की घोषणा की। इस पर देश में बहुत टीका-टिप्पणी होने लगी।

पंजाब में स्वामी श्रद्धानन्द, पं० लेखराम, भाई परमानन्द, शेरे-पंजाब लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, चौ० वेदव्रत, ला० खुशहालचंद और महाशय कृष्ण ने आर्यसमाज के अन्तर्गत स्वामी दयानन्द के चलाये आन्दोलन को महात्मा गांधी से कंधे से कंधा मिलाकर हिन्दू-समाज की इस छूतछात की बुराई को दूर करने हेतु अपना सर्वस्व सर्मपित किया। देश में समाज-सुधार की इस नई लहर से हलचल पैदा हुई और लोगों में जागृति पैदा होने लगी। छूतछात को मानने वाले रूढ़िवादी लोगों में महात्मा गांधी और अन्य नेताओं की चलाई गई इस लहर के साथ चलने के लिए विवेक पैदा होने लगा। इसके लिए लोगों ने इकट्ठे होकर इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बम्बई मे एक विशाल सम्मेलन का आयोजन किया। परिस्थिति ने करवट ली। अखिल भारतीय स्तर पर एक संस्था स्थापित करने की योजना बनी और उसकी देखरेख में कल्याण-कार्य होने लगे। गंदी बस्तियों में स्कूल और आश्रम और डिस्पेंसरियां खोली गईं। कुएं खुदवाकर पीने का पानी उपलब्ध करवाया गया। कुओं और तालाबों पर सार्वजनिक प्रवेश शुरू हुआ। इन लोगों के लिए मन्दिरों में प्रवेश के प्रतिबन्ध को दूर किया गया और धर्म-स्थानों के द्वार सबके लिए खोले गए। इस क्रम में जम्मू-काश्मीर के महाराजा हरिसिंह ने राष्ट्रीयता से प्रभावित होकर जो काम किया वह हिन्दू-समाज के लिए अनुकरणीय है। वे देश की इस राष्ट्रीय भावना से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने राजगुरु पं० देवराज को, जम्मू के सबसे बड़े श्री रघुनाथ जी मन्दिर के दरवाजे, हरिजन भाइयों के लिए खोल देने की राजाज्ञा दे दी। पर शाही घोषणा को क्रियात्मक रूप देने के लिए राजगुरु ने

अपनी असमर्थता प्रकट की। महाराजा बहादुर को उनकी यह बात अच्छी न लगी और उन्हें नौकरी से त्यागपत्र देने की आज्ञा दे दी। अन्त में राजगुरु को उनकी आज्ञा का पालन करना पड़ा और पूरे राजकीय सम्मान और बैंड-बाजों की हर्ष ध्वनि के साथ हरिजनों के लिए मन्दिर के कपाट खोल दिए गए। इससे इन लोगों का राज्य के सारे मन्दिरों में बिना रोक-टोक प्रवेश शुरू हो गया।

कांग्रेस ने अपने इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए जब सन् 1936 में पहली बार कांग्रेस सरकारें स्थापित कीं तब पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए कई प्रकार के कल्याण-कार्य शुरू किए गए। छूतछात और अन्य सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए कई विधेयक भी पारित किए गए। इस कार्य के लिए उन कांग्रेसी सरकारों ने विशेष विभागों का संगठन किया और उक्त कार्यक्रमों की कार्यान्विति के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त किए, जिन्होंने हरिजनों के कल्याणार्थ सामाजिक बुराइयों को दूर करने, स्कूलों, मन्दिरों, कुओं और तालाबों में प्रवेश के लिए प्रयास किया। इस राष्ट्रीय अभियान से एकाधिकार-वादियों पर प्रभाव पड़ा। इसके साथ नगरपालिका व अन्य सभा-सोसाइटियों को, जो सामाजिक कार्यों में तत्पर थीं, हरिजन बस्तियों की सफाई और सुवि-धाएं दिलाने हेतु ध्यान आकर्षित कराया गया, जिन्होंने भंगियों और सफाई का काम करने वालों के जीवन में सुधार लाने के लिए बहुत काम किया। देश के अन्य समाज-सुधारकों ने इस काम के लिए बढ़-चढ़कर भाग लिया, जिनमें श्री घनश्यामदास जी बिड़ला, श्रीमती रामेश्वरी नेहरू, पं० हृदयनाथ कुजरू के नाम उल्लेखनीय हैं। इस अभियान में महात्मा गांधी और ठक्करबापा का नाम महत्त्वपूर्ण है। इस दिशा में दिए गये उनके योगदान चिरस्मरणीय रहेंगे।

1941 में जब कांग्रेस सरकारें पुनः देश के प्रान्तों में सत्तारूढ़ हुईं तो फिर मानव-कल्याण हेतु प्रोग्राम चालू किए गए और संविधान पारित करके इन लोगों के लिए समानता के अधिकार और सुविधाएं प्रदान करने की घोषणा की गई। संविधान की अवहेलना करने वालों के विरुद्ध कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की गई। समाज में इस लहर से जागृति पैदा हुई। हिन्दू-समाज का इनके साथ ताल-मेल होने लगा और इनके साथ की जाने वाली घृणा और उपेक्षा का व्यवहार कम होने लगा।

हमारे देश का विधान सबको समानता के अधिकार प्रदान करता है। कोई छोटा-बड़ा नहीं है। कमजोर वर्ग के लिए इस विधान में विशेष संरक्षण है, जिससे वे शेष लोगों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल सकें। इन लोगों के

कल्याणार्थ और भलाई के लिए देश के नेताओं ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कांग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार जब देश का विधान तैयार किया जा रहा था, तो ठक्करबापा ने उसमें इन कमजोर वर्ग के लोगों को विशेष रूप से संरक्षण दिलाया जबकि देश के अन्य लोग इस समस्या के प्रति अपरिचित थे और पूरी तरह इस समस्या की गम्भीरता को नहीं समझते थे। उस समय उन्होंने लोगों को इस समस्या के प्रति अवगत कराया ताकि उक्त समस्या से सचेत होकर छूतछात की बुराई को दूर करने में वे सहायता प्रदान कर सकें।

संवैधानिक व्यवस्था : असफलता ही असफलता

स्वतंत्रता के बाद संविधान निर्माण-समिति ने ठक्करबापा की अध्यक्षता में एक उप-समिति का गठन किया, जिसकी सिफारिशें ऐतिहासिक थीं और जिसे केन्द्रीय सरकार ने अपनी नीति के तौर पर अपनाया। कांग्रेस सरकार ने हरिजनों-गिरिजनों के कल्याण को देश की प्रगति का प्रारम्भिक आधार मानकर इसे अपनी मुख्य नीति में शामिल किया। सरकार की इस नीति के अंतर्गत इन लोगों के कल्याणार्थ अन्य कार्यक्रमों के साथ संवैधानिक व्यवस्था के द्वारा भी इनके हितों को पूरा करने का काम शुरू किया गया। अतः स्वाधीन भारत में देश का विधान, धर्म, जाति, वर्ग और जन्म के आधार पर एक-दूसरे को बड़ा-छोटा स्वीकार नहीं करता, बल्कि सबके लिए समान अवसर प्रदान करता है। देश का यह संविधान छूतछात की अनुमति नहीं देता। वह इस रूढ़िवादी तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच विभेद पैदा करने वाली परम्परा को जड़ से समाप्त करने के लिए कटिबद्ध है और दंडसंहिता में इसे अपराध मानता है। फलतः हरिजनों-गिरिजनों के संरक्षण हेतु संविधान में बहुत-सी सुविधाएं रखी गई हैं। यहां तक कि संविधान में कमजोर वर्ग के संरक्षण और देखभाल के लिए राष्ट्रपति को आयुक्त नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है जो संविधान की मर्यादा के अंतर्गत देश में इनके संरक्षण का उत्तरदायी है। संविधान के अनुसार अस्पृश्यता एक अपराध माना गया है। संविधान के सत्रहवें अनुच्छेद के अनुसार 'अस्पृश्यता' समाप्त कर दी गई है और किसी भी रूप में उसका व्यवहार निषिद्ध घोषित किया गया है। सार्वजनिक हिन्दू धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों एवं उपवर्गों के लिए खोल देने के लिए अनुच्छेद 25 (2) (ख) भी संगत है। संविधान के अनुच्छेद 35 (क) (II) के अंतर्गत लोकसभा द्वारा अस्पृश्यता (अपराध), अधिनियम 1955 पारित किया गया। यह अधि-नियम अस्पृश्यता (अपराध) संशोधन और विविध उपलब्ध अधिनियम 1976

द्वारा संशोधित हुआ और 19 नवम्बर, 1976 से लागू हुआ। इसका नाम बदलकर इसे 'नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955' का नाम दिया गया। इस अधिनियम की मुख्य-मुख्य बातों पर विचार किया गया जो निम्न हैं :

1. केन्द्रीय सरकार ऐसे पग उठाएगी जो राज्य सरकारों द्वारा किए गए उपायों को समन्वित करने के लिए जरूरी हों और यह सुनिश्चित करने के लिए कि अस्पृश्यता उन्मूलन से मिलने वाले अधिकारों का संबंधित व्यक्ति लाभ उठा सकें, स्वयं केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों द्वारा किए गए उपायों के संबंध में हर वर्ष एक रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों के सभा-पटल पर रखेगी।
2. किसी व्यक्ति को अस्पृश्यता से हुई किसी असमर्थता के लिए पर्याप्त सुविधाओं का प्रदान, जिसमें कानूनी सहायता भी शामिल हो।
3. अधिनियम के उपबन्धों के उल्लंघन के मामलों में मुकदमा चलाने या अभियोजनाओं के पर्यवेक्षण के लिए अधिकारियों की नियुक्ति।
4. अधिनियम के तहत हुए अपराधों की सुनवाई के लिए विशेष न्यायालयों की स्थापना।
5. यह सुनिश्चित करने के लिए कि अस्पृश्यता उन्मूलन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले अधिकार संबंधित व्यक्तियों को उपलब्ध कराए जाते हैं, उपायों के निर्धारण और उनके कार्यान्वियन में राज्य सरकारों को सफल बनाने के लिए उपयुक्त स्तरों पर समितियों की स्थापना।
6. अधिनियम में उपबन्धों के क्रियान्वयन के उपाय सुझाने की दृष्टि से अधिनियम के उपबंधों के कार्यपालन का सर्वेक्षण।
7. ऐसे क्षेत्रों को ढूंढ़ निकालना, जहां लोग अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी प्रकार की असमर्थता भुगतते हों।
8. अस्पृश्यता संबंधी अपराधों के उन मामलों में, जिनमें तीन मास तक की कैद का दंड दिया जा सकता है।
9. राज्य सरकारों को उन स्थानों के निवासियों पर सामूहिक जुर्माना करने का अधिकार दिया गया है, जो अस्पृश्यता के अपराध करने या उकसाने से संबंधित हैं।
10. केन्द्रीय सरकार को अधिनियम के उपबंधों को कार्यान्वित करने के लिए नियम बनाने का अधिकार दिया गया है।

1951 तथा 1961 की जनगणना के अनुसार देश में क्रमशः 5,50,63,722

और 6,44,45,942 अछूत जातियों के लोग रहते थे, जो उस समय की कुल जनसंख्या का 15.30 और 14.72 प्रतिशत था। इसी प्रकार 1971 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 8.25 करोड़ थी जो देश में कुल जनसंख्या का 15.5 प्रतिशत है। देश के अन्य वर्ग के लोगों के बराबर लाने हेतु हर क्षेत्र में इनके हित में कल्याणकारी काम किए जाते हैं। इनकी आर्थिक उन्नति के लिए ग्रामीण उद्योग-धन्धों की योजनाएं चालू कर इनके जीवन में सुधार लाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। खेती-बाड़ी के क्षेत्र में इनकी जोत की भूमि को कानून द्वारा संरक्षण प्राप्त है। शिक्षा के क्षेत्र में भी इनके लिए स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं। इन्हें दूसरे लोगों के वराबर स्तर पर लाने का प्रयास किया जा रहा है। सफाई और रहन-सहन के विषय में भी विशेष ध्यान देकर इनकी बस्तियों को नये ढंग से बनवाकर इन्हें सुचारु रूप से जीवनयापन करने का सुअवसर प्रदान किया गया है। इनके लिए नौकरियों तथा पदोन्नतियों में भी स्थान आरक्षण की सुविधा देकर इन्हें अच्छे-से-अच्छे अवसर दिए गए हैं। इन लोगों को ये सब सुविधाएं कानून के द्वारा प्रदान की गई हैं। संविधान में मानवता के संरक्षण हेतु जिन मौलिक अधिकारों को प्रमुख स्थान दिया गया है, इसमें क्रियात्मक रूप से पूरी सफलता अभी नहीं मिली है, क्योंकि जिन लोगों पर यह उत्तरदायित्व था, उनमें पूरी तत्परता, लगन, त्याग, सेवाभाव और उत्साह का अभाव था। इससे असन्तोष बढ़ा है। हम देखते हैं कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन-जातियों के आयुक्त के कार्यालयों और गैर-सरकारी संस्थाओं के कार्यों के बावजूद इन लोगों की समस्याएं कम नहीं हुई हैं। एक ओर प्रान्तीय सरकारें उक्त कार्यालयों की कार्यविधि से प्रसन्न नहीं हैं और दूसरी ओर उक्त संस्थाएं अपनी असफलताओं की जिम्मेदारी दूसरों के ऊपर थोपने का प्रयत्न करती हैं। इसका प्रमाण उक्त कार्यालय की 1960-61 की वार्षिक रिपोर्ट से हमें स्पष्ट रूप से मिलता है। उसमें यह स्वीकार किया गया है कि उनकी आर्थिक नीति में कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं हुई। अस्पृश्यता को कानूनी ढंग से दूर करने पर जोर दिया गया है, मगर वह पूर्ववत् दृढ़ रूप से समाज में व्याप्त है। इन जातियों में विवेक और वास्तविक स्थिति का ज्ञान न होने तथा जागृति पैदा न होने के कारण उनकी सामाजिक उपेक्षा बनी हुई है। नियत कार्यों और आदेशों के इतने स्पष्ट तौर पर घोषित होने तथा संविधान में इतने विशिष्ट रूप में अनिवार्य आदेशों के उल्लेख होने पर भी यह आवश्यक है कि इस दिशा में सरकार द्वारा जो प्रयत्न और प्रयास किए गए हैं, उनका भविष्य के दिशा-निर्देश के लिए लेखा-जोखा अर्थात् मूल्यांकन होना चाहिए और इस सर्वव्यापी प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए कि इन वर्गों के लोगों को शेष लोगों के साथ व्यावहारिक रूप में एकीकृत करने तथा उन्हें अन्य लोगों के स्तर तक लाने में सरकार को कहां तक

सफलता मिली है और यदि नहीं मिली है तो पूरी सफलता प्राप्त करने के लिए प्रभावी कदम उठाए जाने चाहिए। समाज में किसी परिवर्तन को पूरी तरह मान्यता प्रदान करने के लिए विगत 40 वर्षों का समय कम नहीं होता। हम देखते हैं कि इस प्रयास में जो भी परिणाम दृष्टिगोचर हुए हैं, वह समय की तीव्र और त्वरित आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं हैं। हम सामाजिक स्तर को समान करने में अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सके हैं।

राष्ट्र यथार्थ रूप से सभी दिशाओं में उन्नति करने का दावा कर सकता है, परन्तु अनुसूचित जातियों जैसे कमजोर वर्गों के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। सरकार मूल रूप से इन्हें भूख, असमानताओं, अस्पृश्यता तथा अन्याय से छुटकारा दिलाने में पूर्णतया असफल रही है। खेद है और आश्चर्य भी होता है कि संवैधानिक आश्वासनों, संरक्षणात्मक कानूनों तथा अनेक विकास कार्यक्रमों के बावजूद इन वर्गों के अधिकांश लोग अभी भी निर्धनता की रेखा के बहुत नीचे अपना जीवनयापन करने के लिए सिसक रहे हैं। सामाजिक और आर्थिक तानाबाना वैसा का वैसा बना हुआ है। दरिद्रता की रेखा के नीचे सिसक रहे 29 करोड़ लोगों में 16 करोड़ लोग निर्धनता की रेखा के 75% से भी नीचे हैं। यह लोग उत्पादक साधनों के मालिक नहीं हैं और अभी भी सामाजिक बहिष्कार से पीड़ित हैं। अपनी इस असफलता को सरकार ने भी स्वीकार किया है। इस विषय में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन-जातियों के आयुक्त ने फिर अपनी 1978-79 की वार्षिक रिपोर्ट में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि वे इन लोगों के सामूहिक सुधार और कल्याण में प्रगति करने में असफल रहे हैं। और यह खेदजनक ही नहीं, लज्जा की बात है। राष्ट्र को सरकार की इस अकर्मण्यता से निराशा हुई है। यदि इसी प्रकार संवैधानिक प्रावधानों की अवहेलना और इनके प्रति उपेक्षा भाव का सिलसिला जारी रहा तो निकट भविष्य में इनके कल्याण और आर्थिक विकास की सम्भावना नहीं है। इस उपेक्षा तथा अवहेलना के परिणाम सुखदायी नहीं होंगे। इस असफलता के लिए देश की विपक्षी पार्टियों के नेता भी जिम्मेदार हैं जो इस विषय में कारगर रुचि नहीं रखते। निरन्तर असफलता को देखकर, जिसमें करोड़ों रुपये की धनराशि का अपव्यय भी हुआ है, उन्होंने कभी इस विषय में निष्ठा और गम्भीरता से विपक्ष के उत्तरदायित्व को नहीं निभाया। जिस प्रकार सरकार स्वच्छंद रीति से भविष्य की गम्भीरता पर विचार किए बिना मस्त हाथी की गति से चल रही है, राष्ट्र के लिए यह एक दुर्भाग्य की बात है। इन लोगों के आर्थिक विकास से संबंधित समस्या के समाधान की नैतिक जिम्मेदारी पूर्णतया सरकार पर आती है, विशेष-तया योजना आयोग पर। योजना आयोग को त्रुटियों का पता लगा, जांच-पड़ताल कर इनकी कार्यान्विति में जो भी कमियां हों उन्हें दूर करने का प्रयास

करना चाहिए। खेद है कि पूरे अधिकारों से युक्त उक्त आयोग अपनी जिम्मेदारी निभाने में पूरी तरह से असफल रहा है। हमें हर स्थिति में कुछ ऐसी योजनाओं का कार्यान्वियन करना चाहिए, जो इन लोगों की आर्थिक दशा को सुधारने में लाभकारी सिद्ध हों। और यह सब शीघ्रातिशीघ्र होना चाहिए। हम देखते हैं कि चौथी पंचवर्षीय योजना के अंत तक और देश में पिछड़े वर्गों के लिए विकास योजनाओं पर, उनके कल्याण के लिए 85.45 करोड़ रुपये खर्च करने पर भी इनके आर्थिक विकास की प्रगति सन्तोषजनक नहीं रही। सरकार ने भी स्वीकार किया है कि वह अभी, ठीक रूप में अनुसूचित जातियों के उत्थान के अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति में काफी पीछे है। इस प्रकार सरकार ने अपने नैतिक उत्तरदायित्व और संवैधानिक कर्त्तव्यों को पूरी तरह नहीं निभाया, जिससे ये लोग अत्यंत दयनीय स्थिति में जीवनयापन कर रहे हैं। राज्य सरकारों का यह मुख्य कर्त्तव्य बनता है कि उनके प्रशासन के अंतर्गत कार्य कर रहे कल्याण विभाग इन लोगों के लिए एक सतर्क रखवाले के रूप में कार्य करें। और उन्हें यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि समाज के इन कमजोर वर्गों को चालू योजनाओं के अंतर्गत अधिकतम लाभ प्राप्त हों।

इस सारी स्थिति को देखते हुए ज्ञात होता है कि इन प्रयत्नों के पीछे मानवीय सहानुभूति का अभाव एवं निश्चय की दृढ़ता न होने के कारण सरकारी और गैर-सरकारी तौर पर वे स्थायी परिणाम प्राप्त करने में असमर्थ रहे हैं। यदि योजना आयोग द्वारा दी गई धनराशि का सदुपयोग हुआ होता, तो आज समाज में परस्पर असमानता और वैमनस्य, परस्पर घृणा, मार-काट और रक्त-पात की जो घटनाएं दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे न होतीं। सरकारी एवं गैर-सरकारी, इन सभी संस्थाओं के काम करने का ढंग अव्यावहारिक, उत्साहहीन और निष्ठा-शून्य होने के साथ-साथ सरकारी कार्य-प्रणाली की दीर्घसूत्रता भी इसके लिए उत्तरदायी है। इसीलिए ये संस्थाएं निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल न हो सकीं, अपने मूल अभिप्राय में बुरी तरह असफल होकर रह गईं। इसके दुष्परिणाम हर प्रातः सूर्य के उदय होने के साथ हमें दृष्टिगत होते हैं। अस्पृश्यता के कारण होने वाली अमानुषिक घटनाएं, उनकी बस्तियों को आग लगाकर नष्ट करने की कुचेष्टाएं और उनकी जोत की भूमि को दिन-दहाड़े भस्मीभूत करने की हृदयविदारक घटनाएं, उनकी स्त्रियों और युवतियों के सतीत्व भंग करने की घृणित घटनाएं और बलात्कारों के रोमांचित चीत्कार प्रतिदिन हमें सुनने का मिलते हैं। और भी अधिक शोचनीय बात यह है कि ऐसे अमानवीय उत्पातों में दिन-प्रतिदिन असाधारण वृद्धि होती जा रही है। इससे पता चलता है कि परस्पर वैमनस्य, संघर्ष और नृशंसतापूर्ण अत्याचारों की घटनाओं की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है। जिस प्रकार प्राचीन समय में रोमन,

कैथोलिक और प्रोटैस्टैन्टों के मध्य एक-दूसरे को समाप्त करने के लिए रक्त-रंजित संघर्ष और युद्ध हुए थे, अब आर्यों के इस देश में भी इस प्रकार की पाशविक रक्तरंजित घटनाएं प्रायः दृष्टिगोचर होती रहती हैं, जो इस हिन्दू-समाज को विनाश के गर्त में धकेल रही हैं। केवल कानून के बल पर इन घटनाओं के बंद होने की सम्भावना नहीं है। इसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति के सक्रिय योगदान की आवश्यकता है। विगत चार दशकों के अनुभव से हम इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि मात्र लच्छेदार भाषणों, आकर्षक योजनाओं एवं लोकप्रिय गगनभेदी उद्घोषों की गुहार पर परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। इसके लिए गहरी निष्ठा, दृढ़ संकल्प, दूरदर्शिता, साहस और उत्साह की आवश्यकता है। इसके बिना इस दिशा में सहस्रों शताब्दियों के बाद भी सफलता नहीं मिल सकती।

7

स्वतंत्रता का नवोदय : पाशविक अत्याचार

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अब तक तथाकथित अछूतों को न सरकार और न समाज-सुधारक ही हिन्दू-समाज में प्रतिष्ठा का स्थान दिलवा सके। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि तत्परता और लगन से कार्य किया जाता तो अवश्य ही कुछ न कुछ उत्साहजनक परिणाम दृष्टिगोचर होते। आज भी मन्दिरों में उनका प्रवेश निषिद्ध है। वे अब भी चाय की दुकानों, पानी के नलों, कुओं और तालाबों पर नहीं जा सकते। यह देखकर दु:ख होता है कि विगत चार दशकों से निरन्तर सुधार तथा प्रगति के कार्यों पर अरबों-खरबों रुपए खर्च करने पर भी हरिजन बच्चे स्कूल के तालाब से पीने के लिए पानी तक नहीं ले सकते। आज भी हरिजन होने के कारण उन्हें सरकारी अधिकारियों की उपेक्षा एवं घृणा का सामना करना पड़ता है। गैर-सरकारी संस्थाओं में उनकी कितनी दुर्गति होती होगी, इसका अनुमान लगाना कठिन है।

प्रतिदिन सामने आने वाली घटनाओं के विवरण पढ़ने से ज्ञात होता है कि सामाजिक बुराइयों को दूर करने की दिशा में हिन्दू-समाज अभी बहुत पीछे है, क्योंकि अब भी मन्दिरों में दाखिल होने पर हरिजनों को पीटा जाता है। छोटी-छोटी बातों पर उन्हें जान से भी मार दिया जाता है। यहां तक कि यदि इनका बच्चा भी मन्दिर में अपनी नासमझी और अबोधता के कारण दाखिल हो जाए तो उस अबोध को भी निर्दयता से पीट-पीटकर अधमरा कर दिया जाता है। मन्दिर में जाते हुए एक हरिजन स्त्री की मार-मार कर उसकी एक टांग ही तोड़ दी गई थी। इस प्रकार की घटनाओं को लेकर देश में बहुत आक्रोश पैदा होता है। विधानसभाओं और संसद में इन कुकृत्यों के विरोध में गूंज सुनाई देती है, किन्तु यथास्थिति दबी रहती है—उनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज साबित होती है। सरकार के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। आश्वासन-प्रति-आश्वासन तथा जांच-पड़ताल के कुहासे में सभी कुछ खो जाता है।

इस बीसवीं शताब्दी में पहुंचकर भी तथाकथित सवर्ण हिन्दू हरिजनों की शक्ल तक देखना नहीं चाहते। ये अमानवीय अत्याचार सभ्य जनसमाज के लिए बहुत बड़ी चुनौती हैं। जब भी कोई समाचार-पत्र उठाकर देखें तो उसमें इन पिछड़ी अछूत जातियों पर किए जाने वाले अत्याचार की कोई-न-कोई खबर अवश्य ही दिखाई देगी। यह कितना खेदजनक है कि जब ये लोग अपने झगड़ों को लेकर स्थानीय पंचायतों में जाते हैं, तो वहां पर भी इनकी सुनवाई नहीं होती। उनके दुःख-दर्द सुनने और सहानुभूति देने के स्थान पर उन्हें दिन-दहाड़े बड़ी निर्दयता से पीटा जाता है। यहां तक कि शारीरिक तौर से यातनाएं देकर उन्हें बेहोश किया जाता है और उन्हें मारकर कूड़े-कर्कट की तरह खेतों में फेंक दिया जाता है। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इस प्रकार की दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएं पंचायत के सरपंचों और ज़िम्मेदार पदाधिकारियों की नाक के नीचे घटती हैं। ऐसा व्यवहार देखकर हरिजन भी इन पाशविक घटनाओं के विरोध में एक शब्द भी बोलने का साहस नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि उन पदाधिकारियों की इन समाज-विरोधी अमानवीय तत्त्वों के साथ मिलीभगत होती है। जिस प्रकार अपराधी विवेकहीन हो चुका होता है तथा बुराई के परिणाम समझने में असमर्थ होता है उसी प्रकार ये सरपंच और गांव-कस्ब़ों के ठेकेदार भी बुराई और पापाचार का विरोध करने से हिचकते हैं। विवेकहीन एवं जड़बुद्धि होने के कारण ये लोग मानवता के सिद्धांतों और कर्त्तव्यों के हनन का विरोध नहीं कर पाते। यही कारण है कि ये लोग ब्राह्मणवाद के कठमुल्लेपन के झूठे गौरव और अभिमान में अपने भाइयों के साथ ऐसा असभ्य व्यवहार करते हैं। कैसी विषम स्थिति है, यह देखकर मानव-हृदय दहल जाता है। गर्मियों में यदि हरिजन पीने के पानी के लिए अपने कुएं आदि सूख जाने पर हिंदुओं के कुओं आदि पर जाते हैं तो वहां उन पर नृशंस एवं पाशविक आक्रमण किए जाते हैं, नाना प्रकार की यातनाएं दी जाती हैं। अपने-आप को उच्च जाति का मानने वाले लोग तथाकथित अस्पृश्य वर्ग की स्त्रियों के सतीत्व का हरण करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं, किन्तु उनका छुआ पानी भी पीना पाप समझते हैं। इस तरह धार्मिक धांधली के द्वारा अपनी प्रभु-सत्ता के नशे में वे उनकी लड़कियों के साथ बलात्कार कर उनका जीवन बरबाद कर देते हैं। यहां तक कि ये नर पशु अपनी वासना की पूर्ति हेतु किसी को मारने में भी संकोच नहीं करते। स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद, कानून बनाए जाने के प्रतिक्रिया-स्वरूप इन पाशविक अत्याचारों का आतंक इतना फैल गया है कि जन-साधारण में इतना नैतिक साहस ही नहीं रहा कि विरोध कर सकें अथवा ऐसे तत्त्वों का मुकाबला किया जा सके। प्राय: देखा जाता है कि जब किसी स्त्री या लड़की का अभिभावक उनको इन पशुतुल्य लोगों के चंगुल से छुड़ाने के लिए आता है तो उसे जो-जो यातनाएं सहन करनी पड़ती हैं, उन्हें देखकर कोई दूसरा इस आग में

हाथ डालने का साहस नहीं करता। झूठे पुलिस-केस तैयार किए जाते हैं और पुलिस इन्हीं हरिजनों की धर-पकड़ करती है। अत्याचारों के शिकार घायलों को चिकित्सा उपलब्ध कराने या उन्हें चिकित्सालय ले जाने तक में और कई तरह की अड़चनें पैदा की जाती हैं। और समय पर चिकित्सा-सुविधा न मिलने से वे हतभागे, जो अपनी बच्चियों-बहुओं की रक्षा करना चाहते थे, सिसक-सिसककर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी घटनाओं का घटित होना इस देश में प्रतिदिन की साधारण बातें हैं। इससे घृणा और तुच्छता की आग ही पैदा होती है।

इस संदर्भ में पुलिस का व्यवहार भी कटु आलोचना का विषय है। उससे हरिजन लोग इतने भयभीत रहते हैं कि वे पुलिस के पास अपनी शिकायत ले जाने का साहस तक नहीं कर सकते। यदि किसी तरह अपनी दुःखभरी कहानी सुनाने के लिए कोतवाली या थाने पहुंच भी जाएं तो उलटा उन्हीं को अपराधी बनाकर अपमानित किया जाता है। वे पुलिस की मुट्ठी गरम जो नहीं कर पाते। सामाजिक स्तर पर समान व्यवहार न होने तथा गरीबी के कारण वे पुलिस से सद्व्यवहार और न्याय प्राप्त नहीं कर पाते। दूसरी ओर जिन्होंने उनकी स्त्रियों के सतीत्व का हरण करके शारीरिक तथा मानसिक हानि उन्हें पहुंचाई होती है, वे इतने चालाक, धूर्त और पहुंच वाले होते हैं कि पुलिस भी उनके विरुद्ध कुछ कर सकने में असमर्थ होती है। विडंबना तो यह है कि राजनीति के खिलाड़ी भी सवर्णों का ही साथ देते हैं।

उनकी आर्थिक बेबसी, पिछड़ेपन और निर्बलता का अनुचित लाभ उठाकर सवर्ण अपने निहित स्वार्थों के लिए हर प्रकार से उनका उपयोग करते हैं। इस प्रकार कथित उच्च वर्ग वालों से ये सदा-सर्वदा आतंकित रहते हैं। उनसे अपनी मजदूरी तक प्राप्त करने का साहस इनमें नहीं होता और बात-बात में इन्हें अपमानित, पदमर्दित होना पड़ता है। वे भीख की तरह अपने परिश्रम की मजदूरी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उनके साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार किसी तरह से भी मानवीय नहीं है। जिस धर्म के नाम पर इस प्रकार के घिनौने पाप होते हैं, वे कभी भी आदर्श एवं प्रशंसनीय नहीं हो सकते। आर्यों की इस पवित्र भूमि पर, जहां गंगा और यमुना की पवित्र धाराएं बहती हैं, आज हरिजनों की आंखें तीखे नश्तर से निकालकर उन्हें अन्धा किया जाता है। घमंडी और पाखंडी सवर्ण उनकी बस्तियों को अशुद्ध शब्द की तरह समाप्त कर उनकी विनाश-लीला देखकर हर्ष और उल्लास से नाचते हैं और ढोल-मृदंग बजाते हैं। यदि किसी हरिजन ने प्रतिरोध किया तो उसे लोहे की जंजीरों से मार-मारकर आत्म-समर्पण करने पर विवश किया जाता है। उसकी चीख-पुकार सुनकर उसे बचाने के लिए यदि उसका कोई संबंधी आता है तो उसे जान से मारने की धमकी दी जाती है। इस प्रकार की घटनाएं प्रायः समाचार-पत्रों में पढ़ने को

मिलती हैं—बलपूर्वक उठाकर ले जाने के बाद एक स्त्री के साथ बलात्कार किया गया। उसका चेहरा विकृत करने के उपरांत उसका अबोध दूध-पीता बच्चा उसके सामने नश्तर की तेज धार से काट दिया गया। उसके सम्बन्धियों ने यदि पुलिस थाने में रिपोर्ट लिखाने का साहस किया या अधमरा होने की स्थिति में उसे हस्पताल ले जाने की कोशिश की तो उसमें रुकावटें पैदा की गयीं। उसे डराया-धमकाया गया। यहां तक कि गांव की बैलगाड़ी तक ले जाने के लिए मना कर दिया गया। विवश होकर, मन मसोस, इसे ईश्वरेच्छा समझकर उसे रह जाना पड़ा।''' इस तरह ये निरीह और हतभागे इन अत्याचारों की लपेट में सिसक-सिसककर अंत में काल का ग्रास हो जाते हैं। यातनाओं से भरे उनके अत्याचार और अमानुषिक हिंसक नंगा नाच दिन की चकाचौंध में इन गरीब लोगों को सहन करने पड़ते हैं। आंखों के सामने सभी कुछ देखकर भी पड़ोसी कभी ऐसे व्यवहार के विरुद्ध अपनी आवाज उठाने का साहस नहीं कर सकते और न उस गांव के सरपंच और अध्यक्ष तथा पदाधिकारी ही कभी अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं। बल्कि कई मामलों में इसके विपरीत उनका व्यवहार भी अनुचित और सहानुभूति से रहित होता है। इन कमजोर वर्ग के लोगों को इनके मौलिक अधिकारों से भी वंचित किया जाता है। इन्हें निर्वाचन में स्वतंत्र रूप से अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं करने दिया जाता। इन पर बलपूर्वक तथा दमन से ऐसे अत्याचार किए जाते हैं कि वे अपने मताधिकार का प्रयोग अपनी इच्छा के अनुसार करने का साहस ही नहीं कर सकते। यहां तक कि मतदान केन्द्रों पर कब्जा कर लिया जाता है और इनके मत सामूहिक रूप से बटोरकर मत-पेटी में डाल दिए जाते हैं। परिणामस्वरूप वे मतदान करने के अपने मौलिक अधिकारों का भी स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं कर सकते। इनके संरक्षण की जिम्मेदार सरकार की नाक के नीचे ये सब घृणित कृत्य होते हैं। इस तथ्य को सरकार ने भी कई बार स्वीकार किया है। संविधान में दी गई सुविधाएं प्रदान करने में अक्षम सरकार ने उनके उत्थान की समस्या जहां थी, वहीं पर लटका दी। अनुसूचित जाति के लोगों को संरक्षण का आश्वासन देने वाली सरकार को चाहिए कि वह अपने प्रशासन में ऐसा सुधार लाए कि कमजोर वर्ग के लोग निर्वाचन में निर्भय होकर अपने मत-अधिकार का प्रयोग कर सकें और उन पर बलपूर्वक अत्याचार की घटनाएं समाप्त हो जाएं।

समाज में सवर्णों की तानाशाही का आतंक है। वे हरिजनों को पैतृक सम्पत्ति की भांति समझते हैं। बदलते समय का संकेत उनके रूढ़िवादी विचारों को प्रभावित नहीं करता। आज भी वे लोग मृत पशुओं को अपने घरों से उठाने के लिए उन गरीब लोगों को ही आदेश देते हैं। विवश होकर वे न चाहते हुए भी सारा काम करते हैं—क्योंकि उनकी दुःखभरी गाथा सुनने वाला कोई नहीं है। पंचायत

वाले भी उन्हें अपने पैतृक धन्धे को अपना कर्त्तव्य समझकर पालन करने की सलाह देते हैं। पंचायत के सदस्य समझते हैं कि ऐसा न करने की अवस्था में उन्हें कोई पूछने वाला नहीं है। अगले चुनाव में वे हार जायेंगे। यदि पंचायत वालों को यह ज्ञात हो कि अपनी जिम्मेदारी से कोताही करने के कारण वे पदच्युत भी किए जा सकते हैं तो फिर सम्भव हो सकता है कि वे ऐसे अवसरों पर कुछ न्याय से काम लें। वर्तमान प्रजातंत्र की कार्य-प्रणाली में तो पंचायत एक बेकार की संस्था होकर रह गई है। यदि वह ज्यों-त्यों करके अपनी रिपोर्ट, अपनी क्षेत्रीय पंचायत में दर्ज कराने का साहस करता है तो वहां उसकी बात सुनने और उसके साथ सहानुभूति प्रकट करने की अपेक्षा उलटा उसे ही डराया-धमकाया जाता है। उसकी पिटाई कर उसे आतंकित किया जाता है। इससे उसमें इतना साहस ही नहीं रह जाता कि वह कोई बात अपने मुख से निकाल सके। यदि ऐसी पंचायतों को निलम्बित कर दिया जाए और उनके पदाधिकारियों को दण्ड दिए जाएं तो इसका भविष्य में अच्छा प्रभाव पड़ेगा। दुर्भाग्य की बात है कि पंचायत के जिम्मेदार पदाधिकारी भी इस वहम में फंस गए हैं कि सेवा करने के सब काम इस वर्ग विशेष के लोगों के जिम्मे आते हैं। अतः आज्ञा का पालन न करने की अवस्था में वे कठोर दण्ड के भागी हैं। वे यह समझने में असमर्थ हैं कि समाज में काम का विभाजन परमात्मा की ओर से निश्चित नहीं है, बल्कि कुछ लोगों ने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए यह आडम्बर रचा हुआ है। भला यह भी कोई न्याय है कि सभी निकृष्ट कामों के लिए एक ही वर्ग के लोग निश्चित हैं जो जन्म-जन्मान्तर तक यही सब काम करते रहें। गंदगी कोई फैलाए और सफाई कोई दूसरा करे। अपनी दीनहीनता, निरक्षरता, दरिद्रता आदि कारणों से निम्न जाति वालों की कहीं भी किसी व्यक्ति अथवा संस्था के सामने कोई सुनवाई नहीं है। कानूनी दांव-पेचों से अनभिज्ञ ये भोले-भाले निर्बल लोग हमारी खर्चीली न्याय-व्यवस्था में भला कैसे न्याय प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। यहां न्याय तराजू के तोल से नहीं वरन् सिक्कों के मोल बिकता है। दूसरी ओर अत्याचार करने वाला वर्ग शिक्षित, कानूनी दांव-पेच में चतुर तथा आर्थिक तौर से सम्पन्न होने के कारण उनकी कहीं किसी संस्था अथवा व्यक्ति के सामने पहुंच ही नहीं होने देता। इस प्रकार निर्बल लोगों की सुरक्षा के लिए बनाई गई पंचायत एवं पुलिस आदि संस्थाएं आज के संदर्भ में दलित वर्ग के लिए व्यर्थ हैं।

यद्यपि इन पाशविक अत्याचारों की गूंज विधानसभाओं और संसद में सुनाई देती है, जहां पर विपक्ष के लोगों द्वारा सरकार की विफलता की ओर ध्यान आकर्षित कराया जाता है, उनके अत्याचारों का रहस्योद्घाटन किया जाता है, पर सरकार अपनी असमर्थता और कमजोरी की ही ज्यादा दुहाई देती है—जांच-पड़ताल का आश्वासन देकर मामला खत्म कर देती है। हमारा यह ऐसा

प्रजातंत्र है, जहां किसी रोग की चिकित्सा नहीं है, क्योंकि वह स्वयं कई रोगों से ग्रस्त है। आज के युग का यह प्रजातंत्र वैदिक समय के उस प्रजातंत्र से नितांत भिन्न है, जहां मनुष्य को न्याय मिलता था। मगर आज का प्रजातंत्र स्वार्थी लोगों की विरासत है, जो मानवीय सभ्यता और पारस्परिक बन्धुत्व की भावना से विहीन, विपरीत दिशा की ओर अग्रसर है।

इस देश में जहां कभी स्त्रियों को प्रतिष्ठा प्राप्त थी, आज उसी देश में उनका सतीत्व दिन के प्रकाश में लूटा जाता है। उन्हें बलपूर्वक उठाकर उनके साथ बलात्कार किया जाता है। हरिजनों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। उनसे छूतछात की जाती है। गांवों में उनका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। स्थानीय पंचायत में उन्हें न्याय नहीं मिलता। सरकारी क्षेत्र में उन्हें उचित स्थान नहीं मिलता। उनकी बस्तियों को तहस-नहस किया जाता है। उनकी फसलों को आग लगाकर राख कर दिया जाता है। ये लोग समुचित संरक्षण न मिलने के कारण हर अवसर पर भयभीत ही रहते हैं। विवाह के समय इनका दूल्हा घोड़े पर बैठकर नहीं जा सकता और न ही दुल्हन पालकी में बैठ सकती है। ये लोग अच्छे और साफ-सुथरे कपड़े भी नहीं पहन सकते। इनके लिए बैंड-बाजा बजाना भी वर्जित है। आज भी इनके बच्चे स्कूल में उच्च वर्ग के बच्चों के साथ-साथ न बैठकर एक कोने में पृथक् बिठाए जाते हैं। ये लोग अपनी हजामत के लिए नाई की दुकान पर नहीं जा सकते। इन्हें मजदूरी का अनाज प्राप्त करने के लिए कई तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता है। जमीन के झगड़े इन लोगों के लिए एक ऐसी मुसीबत है जिसका इस प्रजातंत्र में कोई इलाज नहीं है। ये लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी खेती-बाड़ी की जमीन से बेदखल किए जाते हैं। सरकार ने जागीरदारों से जो फालतू जमीन प्राप्त की है, वह भी इन लोगों में बांटी नहीं जा सकी। ये गरीब लोग निरन्तर स्वार्थी लोगों के कोप का भाजन बनाए जा रहे हैं। यह सब बातें हिन्दू-धर्म और सभ्यता के लिए चुनौती हैं। प्रतिदिन घटित होने वाली इन घृणित घटनाओं का अवलोकन करते हुए देश के प्रसिद्ध समाज-सुधारक बाबू जगजीवनराम ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था—"इन लोगों को हीनता अनुभव नहीं करनी चाहिए। इन्हें अपनी टांगों के भरोसे पर खड़ा होना चाहिए। इन्हें अपनी योग्यता और विद्वत्ता के आधार पर समाज में आगे आना चाहिए। इनको प्राप्त होने वाली सुविधाएं जो इन्हें नौकरियों में कोटा के आरक्षण में उपलब्ध हैं, वह किसी भी दिन समाप्त हो जाएंगी। अतः इन्हें दूसरों से सहायता लेने की आशा में दूसरों की ओर देखते नहीं रहना चाहिए।"

देश में बढ़ते हुए असन्तोष को देखकर बाबू जगजीवनराम को ऐसा कहना पड़ा क्योंकि उन्होंने देखा कि दलित वर्गों के लिए आठ-आठ आंसू बहाने वाली

जनता पार्टी और उसकी सरकार भी इन लोगों को सुरक्षा प्रदान करने और इनकी दशा सुधारने में बुरी तरह असफल रही है। यही नहीं उक्त पार्टी के शासन-काल में तो दलित वर्गों पर होने वाले अत्याचारों में असाधारण वृद्धि हुई। जनता पार्टी की सरकार ने अल्पसंख्यकों के लिए एक आयोग भी संगठित किया था। वह भी कोई प्रगति न कर सका। इसलिए यदि स्थिति को अब भी नियंत्रण में नहीं किया गया, यदि सरकार बुराइयों को अब भी अनदेखा करती है, न्याय-प्रियता, निष्पक्षता का मात्र स्वांग भरती है और छूतछात और भेद-भाव को सख्ती के साथ दूर करना नहीं चाहती तो इस बीमारी को दूर करना असंभव है। उसे जिन पंचायतों में इस प्रकार की अमानवीय घटनाएं घटें, उन पंचायतों को अयोग्य घोषित कर, उन्हें कार्यमुक्त कर उनके पदाधिकारियों को कठोर दण्ड देना अपना नैतिक कर्त्तव्य मानना चाहिए। इससे स्थिति में सुधार की कुछ आशा बंध सकती है। ऐसे दुष्ट लोगों को जीवन-भर नागरिक अधिकारों से वंचित कर देना चाहिए ताकि दूसरे भी इस दण्ड से भयभीत हो सकें और भविष्य में कोई भी पंचायत इस प्रकार का पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने का साहस न कर सके। इसके अतिरिक्त वहां के लोगों पर सामूहिक रूप से जुर्माना भी किया जाना चाहिए ताकि उनमें यह भय पैदा हो सके कि यदि उस गांव में इस प्रकार की कोई घटना दृष्टिगोचर हुई तो वे सब उसकी लपेट में आ जाएंगे। वे इस भय से इस प्रकार के भेद-भाव और छूतछात का व्यवहार करने का साहस नहीं करेंगे। इसी प्रकार उचित सुरक्षा प्रदान न करने वाले स्थानीय पुलिस थाने के सम्बन्धित कर्मचारियों को भी ऐसा दण्ड मिलना चाहिए, जिससे उन्हें यह अनुभव हो सके कि यदि उन्होंने अपने उत्तरदायित्व और न्याय देने में कोताही की, तो उन्हें इसके गम्भीर परिणाम भुगतने पड़ेंगे। इस भय से वे निम्न वर्ग के लोगों को पूरी सहायता और सहयोग दे सकेंगे। यदि सरकारी कर्मचारी कानून को क्रियान्वित करने में असमर्थ है तो उस अवस्था में उसे नौकरी में रखना देश-हितार्थ एक भयानक पाप है। यदि आज आजादी के चार दशक बाद भी दिन-प्रतिदिन देश में ऐसी घटनाएं बढ़ती जाएं तो इसका मूल कारण हमारे देश की प्रशासकीय दुर्बलता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। इन्हीं कारणों से आज स्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती जा रही है। इसका आगे क्या परिणाम होगा, कुछ नहीं कहा जा सकता। खोखली राज-नीति के कारण आज देश विनाश के कगार पर खड़ा है।

8

दोषपूर्ण कार्य-प्रणाली

देश में व्याप्त छूत-छात, जात-पांत और भेद-भाव के अन्यायपूर्ण अमानवीय व्यवहार को देखते हुए यह प्रश्न सामने आता है कि इन अभिशापों से निपटने के लिए कौन-से कदम उठाए जाएं और किन साधनों को अपनाया जाए जिससे इस दिशा में फैली बुराइयों को रोका जा सके, रोकथाम के बाद समाप्त किया जा सके। आज तक इस दिशा में जो कुछ भी कार्य और प्रयास हुए, उनसे सन्तोष-जनक परिणाम सामने नहीं आए, बल्कि असन्तोष और परेशानियों में ही वृद्धि हुई है। इस विषय में सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से सुझाव देते हैं। वे अपने विचार और अपने जीवन के अनुभव के आधार पर युक्तियां देते हैं। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण और गम्भीर प्रश्न है, जिस पर राष्ट्र का कल्याण और प्रगति निर्भर करती है। इस समय जो कार्य-नीति है वह शताब्दियों पहले वाली है। हम आज भी उसी के आधार पर चल रहे हैं। इसमें हमें कितनी सफलता मिली है, कितनी प्राप्त होनी चाहिए थी, निर्धारित लक्ष्य प्राप्त न होने के कारण क्या हैं, यह कार्य-प्रणाली यदि उपयुक्त एवं लाभप्रद नहीं है, तो फिर दूसरे उपाय या साधन कौन-से होने चाहिएं—इन सब प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। आवश्यकता यह है कि इस कार्य-प्रणाली पर नये सिरे से विचार किया जाए। यह विचारणीय है कि सरकार ने अस्पृश्यता-उन्मूलन के लिए जो भी सरकारी, गैर-सरकारी ढांचा तैयार किया है, वह अपने काम को कारगर ढंग से करने में पूरी तरह असफल रहा है। पूरे देश में छिट-पुट कहीं कोई सुधार हो गया हो या इस वर्ग के साथ किसी प्रकार का समानता का व्यवहार कर दिया गया हो, वह अपवादस्वरूप ही माना जा सकता है। सरकार को स्वयं अपनी विफलता पर कभी-कभी दो-दो आंसू बहाने पड़ते हैं। उसे भरे सदन में यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकी है। वह भविष्य में इन त्रुटियों को सुधारने के लिए कौन-सी नीति और

कौन-से साधन अपनाएगी, उसमें यह बताने की भी सामर्थ्य नहीं है। इस प्रजातांत्रिक सरकार में विरोधी दलों के संसद सदस्यों ने कभी भी यह पूछने का कष्ट नहीं किया कि आखिर उसके विचाराधीन जो दूसरा उपाय है, उस पर भी प्रकाश डाला जाए। यदि प्रजातंत्र अपने उत्तरदायित्व को समझने वाला हो, व्यर्थ के लड़ाई-झगड़ों और पद-लोलुपता के चक्कर में अपना समय नष्ट करने वाला न हो, तो उस अवस्था में सरकार सतर्क रह सकती है और जनमत से भयभीत हो सकती है। उसे यह भय रहेगा कि वह केवल 'सफल न होना' कहकर अपने उत्तरदायित्व से मुक्त न हो सकेगी। मगर सरकार यह समझती है कि आज का प्रजातंत्र और प्रजातांत्रिक सरकार का स्तर अपने प्रकार का अनूठा है जहां ठोस परिणाम प्राप्त करने की अपेक्षा उपलब्ध आंकड़ों पर सन्तोष कर भविष्य का निर्माण किया जाता है। जहां वास्तविकता के स्थान पर खोट और मिलावट चलती है। वह जानती है कि विरोधी दलों के सदस्यों में यह समझ नहीं है और न उनमें इतना दम ही है कि वे सरकार को उनकी कर्त्तव्य-परायणता से विमुख होने की दशा में उसका ध्यान आकर्षित करा सकें, दमदार कार्यवाही करने को विवश कर सकें। अत: ये ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जो लोगों के मन में पैदा होने वाले तर्क-वितर्क के भंवर में चक्कर काटकर समय की धारा में विलीन हो जाते हैं।

अब प्रश्न पैदा होता है कि यह सामाजिक अभिशाप, जो आज हिन्दू-समाज को घुन की तरह भीतर-ही-भीतर खाए जा रहा है, क्या कानून के डंडे से दूर हो सकता है या फिर लोगों में जागृति और विवेक पैदा कर समुचित रूप से उन्हें शिक्षित करके सफलता प्राप्त की जा सकती है, अर्थात् प्रेम, स्नेह और सेवा से मेल-मिलाप पैदा कर उनके परम्परागत रूढ़िवादी विचार में आमूलचूल परिवर्तन लाकर सफलता प्राप्त की जाए। क्रियात्मक अनुभवों ने यह प्रमाणित किया है कि ये दोनों प्रकार के रास्ते एक-दूसरे में इस प्रकार अन्तर्निहित हैं कि एक-दूसरे के साथ तालमेल बिना काम होना कठिन है। समाज की प्रगति और कल्याण के कार्य ऐसे हैं कि समय और स्थिति के अनुसार जो उपाय या साधन उचित समझे जाएं, उसी के अनुसार उनका प्रयोग होना चाहिए, जिससे सन्तोषजनक परिणाम दृष्टि-गोचर हों और बुराइयों के कम होने की सम्भावना बढ़े। इस संदर्भ में हमें इतिहास से एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिलता है। महात्मा बुद्ध का वास्तविक नाम शाक्यमुनि था। उन्हें जब संसार से वैराग्य हुआ और जब छोटी अवस्था में ही उन्हें दुःखों से मुक्त होने की इच्छा पैदा हुई, वे हर समय मुक्ति प्राप्त करने की खोज में रहने लगे, तो वे राज्य का सुख-वैभव और अपने परिवार के मोह को छोड़कर अपने महलों से दूर इस चिन्तन में सांसारिक उत्तरदायित्व त्यागकर जंगलों में जाकर समाधि में लीन हो गए। और फिर लम्बे अरसे के बाद वे एक

नए मत के अगुआ हुए जो बौद्ध-मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस मत की शिक्षा बहुत सीधी-सादी थी। सभी मानव एकसमान हैं। जाति-पांति और धर्म में कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह सच्चाई के मार्ग को ग्रहण करे और ईमानदारी से काम करे। जात-पांत के आधार के बिना जन-साधारण से सहानुभूति, समानता, प्रेम और स्नेह का व्यवहार करे। सांसारिक सुखों और भौतिक आकर्षणों से दूर रहकर मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करे। महात्मा बुद्ध ने अपना सारा जीवन अपने इन्हीं विचारों के प्रचार में लगा दिया। उनकी शिक्षा भी पवित्रता और समानता पर आधारित थी। जनता पर उनका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। उनके जीवनकाल में ही लोग दिन-प्रतिदिन नये उल्लास और उत्साह से इस मत के अनुयायी होने लगे। यहां तक कि विदेशियों ने भी इस धर्म को अपनाया। बौद्ध-धर्म इतनी तीव्रता से फैला कि भारत के अतिरिक्त एशिया के कई देशों में इसका प्रचार हुआ। प्रश्न यह है कि यह धर्म इतनी तेजी से कैसे फैला ? खोज करने से मालूम होता है कि इसका प्रचार केवल हृदय-परिवर्तन के कारण हुआ। बौद्ध-धर्म के भिक्षुओं ने स्नेह और प्रेम के द्वारा लोगों के विवेक को जगाकर उनके विचारों में परिवर्तन पैदा किया और उन्हें बौद्ध-धर्म का अनुयायी बनाया। एशिया महाद्वीप के देशों में जहां इतना बड़ा धार्मिक परिवर्तन हुआ, वहां उसके पीछे कानून का कोई डंडा नहीं था। केवल प्रेम-स्नेह और मानवीय व्यवहार ही था, जिसके आकर्षण से लोग उनकी ओर आकर्षित हुए। मगर इस साधन को अपनाने में त्याग, तपस्या और निरन्तर परिश्रम की आवश्यकता है। उनकी नैतिकता, चरित्र और जीवन के आदर्श, रहन-सहन इस प्रकार के थे कि वे जो भी उपदेश देते और शिक्षा देते, जो भी बात वे मुंह से निकालते लोग उसका अनुकरण करते थे, क्योंकि लोगों के दिलों में ये बातें गहराई तक उतर जाती थीं। उन धर्म-प्रचारकों का जीवन भी उसी आदर्श के अनुरूप था। आज की तरह उनकी कथनी और करनी में अन्तर न था। उस आदर्शमय जीवन और चरित्र से प्रभावित होकर ही लोग बौद्ध-मत के अनुयायी हुए। फलतः बौद्ध-भिक्षुकों के प्रचार ने जादू का काम किया। इस देश में ही नहीं, बल्कि एशिया महाद्वीप में भी बौद्ध-धर्म का डंका बजने लगा।

सम्राट् अशोक बौद्ध-धर्म के महान् संरक्षक थे। वह जब सिंहासन पर बैठे तो उन्होंने बौद्ध-धर्म को सरकारी धर्म होने की घोषणा की। सरकारी डंडे से लोगों को इस धर्म का अनुयायी होने के लिए विवश किया जाने लगा। लोगों के दिलों में भय पैदा होने लगा, जिससे लोग इस धर्म से दूर भागने लगे। महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म की नींव प्रेम, स्नेह, सहयोग तथा पारस्परिक भाईचारे पर रखकर दूर-दूर तक जिन कठिनाइयों और अड़चनों को पार कर परिश्रम, तपस्या, त्याग और तत्परता से एशिया महाद्वीप के देशों में अपने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था,

सम्राट् अशोक ने उस सबको अपनी कलम की एक नोक से तार-तार कर दिया। इस प्रकार जो सम्प्रदाय स्नेह, सहानुभूति, संवेदनामय व्यवहार तथा सरल उपदेशों के माध्यम से फैला था, उसकी लोकप्रियता कम होने लगी। फलस्वरूप लोग राजाज्ञा के भय और सरकारी आतंक से इससे दूर जाने लगे। स्नेह और संवेदना के स्थान पर भय और विवशता के कारण बौद्ध-धर्म स्थायी न हो सका। परिणाम यह हुआ कि जिस धर्म का हिन्दुस्तान और विदेश में डंका बजा था, वह एकाएक लड़खड़ाकर रह गया और लोग उससे दूर भागने लगे। सम्राट् अशोक ने महात्मा बुद्ध के जीवन से भी कुछ सीखने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि महात्मा बुद्ध भी तो अपने राजसी प्रभुत्व एवं सत्ता का लाभ उठाकर राजकीय घोषणा द्वारा अपने मत का प्रचार कर सकते थे। उनके एक संकेत से परिवर्तन हो सकता था। मगर बुद्ध को यह मार्ग अच्छा नहीं लगा। वह जानते थे कि राजाज्ञा और सरकारी कानून द्वारा प्रसारित किए गए विचार चिरकालिक नहीं हो सकते। लोगों के हृदय पर शासन करने के लिए सत्ता का प्रयोग विश्व के इतिहास में कभी सफल नहीं हुआ। राजसत्ता जनसाधारण के शरीर पर शासन कर सकती है, हृदय पर नहीं। इसलिए महात्मा बुद्ध ने सभी भोग-विलास और वैभवों, सुख-सुविधाओं को त्यागकर अपने उद्देश्य के लिए अहिंसा, त्याग, सरलता और तपस्या के मार्ग को अपनाया, जिससे उन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता मिली।

उपर्युक्त बातें आज के संदर्भ में भी उतनी ही सत्य और व्यावहारिक हैं, जितनी आज से दो हजार वर्ष पूर्व थीं। सामाजिक बुराइयों को कैसे दूर किया जाए और कौन-से उपाय किए जाएं जिससे शताब्दियों पुरानी रूढ़ियों को समाप्त किया जा सके, इन प्रश्नों का उत्तर भी हमें इतिहास के पन्नों में सहज ही मिल सकता है। कानून का भय समस्याओं के तुरन्त किए जाने वाले उस उपचार की भांति है, जिससे रोग ऊपर से तो दबा दिया जाता है, परन्तु जिसके कीटाणु समूल नष्ट न होकर भीतर-ही-भीतर पनपते रहते हैं और औषधि का प्रयोग कम होते ही पुनः उग्र रूप में अपना सर ऊपर उठाते हैं, गोया कि कानून की लटकती तलवार एक अलार्म है, जिससे मनुष्य अपराध करने से पूर्व सोचता है कि यदि उसने कानून के विरुद्ध कोई काम किया तो उसे कानून को भंग करने का दंड भुगतना पड़ेगा। इसलिए वह इस डर से भयभीत रहता है। कानूनी उपचार में यही दोष है कि उसका प्रभाव चिरस्थायी न होकर क्षणिक होता है और लोग कानून की पकड़ शिथिल पड़ते ही पुनः अवांछित मार्ग का अनुकरण करने लगते हैं। यदि इसी कानून की शक्ति को हमेशा प्रयोग किया जाता रहे तो इससे कई प्रकार की दुखद प्रतिक्रियाएं होने की सम्भावना पैदा हो सकती है, जिसके परिणाम सुखद नहीं होंगे। इसलिए समाज की उन्नति के लिए ठीक कार्य-प्रणाली

महात्मा बुद्ध की है, जिन्होंने अपना जीवन दांव पर लगाकर मानवता को विनाश से बचाया। यदि हिन्दू-समाज से बुराइयों को हमेशा के लिए दूर करना है तो त्याग और सच्चाई द्वारा हृदय-परिवर्तन का मार्ग अपनाना होगा।

निम्न एवं दलित वर्ग के लोगों की बढ़ती हुई दुर्दशा, अधोगति को देखते हुए आश्चर्य होता है कि इनकी भलाई और प्रगति के लिए निरन्तर कार्य होने और करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी कोई सन्तोषजनक परिणाम दृष्टिगोचर नहीं हुए। आज भी समस्या वैसी-की-वैसी बनी हुई है। हिन्दू-समाज में छूतछात और अन्य सामाजिक बुराइयां बराबर प्रचलित हैं और साम्प्रदायिकता बढ़ती ही जा रही है। हिंसक उपद्रवों एवं बर्बर अत्याचारों द्वारा पददलित लोगों को समाप्त करने के षड्यंत्र जारी हैं। कभी छूतछात के नाम पर कभी कृषि-सम्बन्धी झगड़ों को लेकर, कभी नौकरियों में आरक्षण के प्रश्न पर, इस प्रकार के नित्य नये बखेड़े पैदा कर अशांति पैदा की जाती है। यदि ढंग से कार्य होते तो अवश्य ही यह समस्या बढ़ने की अपेक्षा कम हो गई होती। यह कितनी आश्चर्यजनक बात है कि देश के प्रसिद्ध नेता बाबू जगजीवनराम ने बनारस में जब स्वर्गीय डॉ० सम्पूर्णानंद की प्रतिमा का अनावरण किया तो सवर्ण हिन्दुओं को यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने उस प्रतिमा को गंगाजल से धोकर अपने विरोध का प्रदर्शन किया। यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि उच्च वर्ग वाले यह सहन नहीं कर सके कि तथाकथित अछूत वर्ग से सम्बन्धित कोई व्यक्ति किसी सवर्ण की प्रतिमा का अनावरण करे। उन्होंने अपनी संकुचित मनोवृत्ति को प्रकट करने के लिए जो कुत्सित नाटक रचा, वह हिन्दू-समाज के लिए बड़ी लज्जा की बात है। देश में ही नहीं, संसार के अन्य देशों में भी इसकी निन्दा उस समय हुई। यह उन लोगों के लिए चुनौती है, जिन्होंने इस कमजोर वर्ग के कल्याण और प्रगति का बीड़ा उठाया हुआ है और जो अपने-आपको उनकी उन्नति के प्रवर्तक होने का दावा करते हैं। इस प्रकार की घृणित स्थिति को देखकर बाबू जगजीवनराम ने अपने विचार व्यक्त करते हुए हरिजन वर्ग के लोगों को सावधान किया कि अब उनको अपनी टांगों पर खड़ा होना चाहिए। उन्हें जो सुविधाएं और संरक्षण दिए जाते हैं, वे एक-न-एक दिन समाप्त हो जाएंगे, उन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। अतः उन्हें अपने-आप को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि इस विकट समस्या का समाधान सरल नहीं है। इस अभिशाप के बीजोन्मूलन के लिए विवेकशीलता एवं दृढ़ता से कदम उठाना उन लोगों का उत्तरदायित्व है जो इनके कल्याणार्थ सरकारी और गैर-सरकारी तौर से काम कर रहे हैं। जब तक उनकी कथनी और करनी में एक-रूपता नहीं होगी और उनका निजी जीवन सात्त्विक तथा आदर्शमय नहीं होगा, तब तक किसी प्रकार के सुधार की आशा नहीं की जा सकती। लच्छेदार भाषणों,

अलंकृत लेखों तथा नमक-मिर्च लगे हुए समाचारों द्वारा कुछ भी होने वाला नहीं है। दैनिक डायरी लिखने या मासिक प्रगति-रिपोर्ट प्रेषित करने से भी कुछ बनने वाला नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि इस तथ्य का निरीक्षण किया जाए कि उन कार्यों और योजनाओं के कुछ स्वस्थ परिणाम सामने आए हैं या नहीं। सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने हेतु जो वार्षिक प्रगति-रिपोर्टें प्रकाशित की जाती हैं, यदि उसी मौके पर जाकर जांच की जाए तो पता चलेगा कि प्रगति के जो आंकड़े उक्त रिपोर्टों में दिखाए गए हैं, वे सत्य से बहुत दूर हैं। यही कारण है कि स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है। राग-द्वेष, घृणा बढ़ी है। साम्प्रदायिक लड़ाई-झगड़ों में वृद्धि हुई है। इन समस्याओं के समाधान स्थानीय-स्तर पर किए जा सकते हैं—यह सहज भी होगा और सुकर भी। स्थानीय जन ही अपने स्थान-विशेष की समस्याओं को भली-भांति समझ सकते हैं और उनका समाधान भी निष्ठा के साथ कर सकते हैं। उनके पास पूरे अवसर और साधन हैं कि वे उन गरीब दरिद्रनारायण के साथ मेल-मिलाप पैदा कर, घुल-मिलकर सवर्ण लोगों के साथ उनका उठना-बैठना प्रारंभ करा सकें। सवर्ण लोगों की मनोवृत्ति बदलना स्थानीय जनों के लिए कोई कठिन कार्य नहीं है। इसके लिए लगन, तत्परता, निष्ठा और उच्च चरित्र की आवश्यकता अवश्य है। कारण, उनका उद्देश्य निःस्वार्थ, त्याग व बिना किसी दबाव और निहित स्वार्थ के सर्वश्रेष्ठ मानव की सेवा है। इन स्थानीय संस्थाओं को यह ध्यान में रखना चाहिए कि उन्हें दलित वर्ग को पूरा न्याय और बराबर के अधिकार दिलाने हैं। दूसरी ओर सरकार भी उन संस्थाओं पर पूरा भरोसा करती है। उनको दी जाने वाली सरकारी आर्थिक सहायता और अनुदान इस आशा से दिया जाता है कि इसके सुखद परिणाम प्राप्त होंगे।

सरकारी और गैर-सरकारी सामाजिक संस्थाओं की कार्य-प्रणालियों में मूर्त-रूप में कुछ अंतर हैं। सरकारी एजेंसियां प्रोग्राम को व्यावहारिकता देने हेतु अपनी ड्यूटी का पालन करने में कटिबद्ध हैं। उन्हें भय है। वह उस भय से काम करती हैं। मगर गैर-सरकारी संस्थाओं के अधिकारी और कार्यकर्ता वे लोग होते हैं, जिन्हें इस काम में रुचि होती है और वे इसे अपना निजी काम समझकर समय की पाबंदी की परवाह न करते हुए काम करते हैं। उनमें काम करने की गहरी लगन और निष्ठा होती है, जिसके अंतर्गत वे हर परेशानी का सामना करते हुए अपने पथ पर आगे बढ़ते हैं। वे इसे अपना निजी काम समझते हैं। यदि इसमें कुछ हानि होती दिखाई देती है, तो वे उसे अपना ही काम समझकर हानि भी उठा लेते हैं। इसके अतिरिक्त उनको सर्वसाधारण का विश्वास भी प्राप्त होता है और दूसरी ओर सरकार का भी। मगर सरकारी संस्थाएं इन सुविधाओं से वंचित होने के कारण प्रगति प्राप्त करने में उनकी होड़ में नहीं ठहर सकतीं। फिर भी

गैर-सरकारी संस्थाएं इतनी सुविधा और विशेष संरक्षण प्राप्त करने पर भी आशाजनक परिणाम प्राप्त नहीं कर सकीं। गैर-सरकारी संस्थाओं में जो जिम्मेदार अधिकारी और कार्यकर्ता हैं, वे प्रायः सेवा-भावना और मानव-कल्याण, कर्त्तव्यपरायणता से खाली हैं। उनमें वह तड़प नहीं, जिसमें त्याग की भावना हो। इन्हीं कारणों से इन कल्याण-कार्यों में कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होते। यही कारण है कि सामाजिक बुराइयां जैसी थीं वैसी ही अपने स्थान पर मैल की तरह जमकर बैठी हैं। अगर इन संस्थाओं की कार्य-प्रणाली भी वही है, जो सरकारी संस्थाओं की है, सेवा-कार्य में अपेक्षित उत्साह और लगन की वैसी ही कमी है, एक-दूसरे पर जिम्मेदारी ठूंसने की राष्ट्रव्यापी प्रवृत्ति जो सरकारी दफ्तरों में है इनमें भी वह प्रवृत्ति घर कर गई है तो करोड़ों रुपयों का अपव्यय करके भी कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हो सकता। सेवाभाव से वंचित होने के कारण ये स्वायत्त संस्थाएं समाज में सुधार लक्ष्य के अनुसार नहीं ला सकतीं। इन संस्थाओं में काम करने वाले अधिकारियों का निजी जीवन वैभवशाली और अत्याधुनिक सुख-सुविधाओं की तड़क-भड़क से सम्पन्न होने के कारण दूसरे लोगों को समुचित रूप से प्रभावित करने में ये व्यक्ति पूर्णतया असमर्थ हैं। यही कारण है कि उनके उपदेशों और आदर्शवादी बातों का सामान्य जन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कारण, इन लोगों के वचन और कर्म में अन्तर है। उनकी आदर्श की बातें केवल उनके उपदेश देने तक सीमित होती हैं। मगर उन आदर्शों से उनका व्यक्तिगत जीवन कोसों दूर है। जब तक ये आदर्श उनके जीवन का अंग नहीं बन जाते, तब तक समाज को बुराइयों से मुक्त नहीं किया जा सकता।

एक अत्यंत दुखद तथ्य यह है कि इन सार्वजनिक कल्याणकारी संस्थाओं के प्रवर्त्तक ट्रस्टियों ने अपने भविष्य को सुरक्षित करने हेतु ऐसे नियम बनाए हैं कि उनका अस्तित्व सरकारी अधिकारियों की भांति सुरक्षित रहे। इस प्रकार समाज-सेवा के नाम पर इन पदाधिकारियों ने बहुत लाभ उठाया। इसके अतिरिक्त इन गैर-सरकारी सुधारवादी संस्थाओं ने लाखों नहीं, बल्कि करोड़ों रुपये अनुदान के रूप में जन-कल्याण कार्यों के नाम पर प्राप्त किए हैं। अब प्रश्न पैदा होता है कि इन मोटी रकमों के व्यय के अनुसार क्या परिणाम प्राप्त हुए हैं? कार्यक्रमों और योजनाओं की क्रियात्मकता का कभी सर्वेक्षण हुआ है? उनके कार्यक्रमों की कार्यान्विति के लिए दिए गए धन का क्या व्यय उचित रहा है? सम्भवतः इस दिशा में कोई ध्यान नहीं दिया गया। इस आधुनिक प्रजातंत्र में कोई भी अपने को उत्तरदायी नहीं समझता और न कोई उनसे पूछने वाला ही है। यदि स्वयंघोषित सुधारकों को अपने उत्तरदायित्व का कुछ भी एहसास होता तो आज हिन्दू-समाज में ऐसी लज्जाजनक घटनाएं दृष्टिगोचर न होतीं। यदि इन सामाजिक ठेकेदारों ने कुछ रचनात्मक काम किए होते और अपनी कथनी और करनी की एकरूपता

से लोगों का हृदय-परिवर्तन किया होता तो कट्टरपंथी हिन्दुओं के अगुआ करपात्री जी को कर्मनिष्ठ समाज-सुधारक आचार्य विनोबा भावे पर आक्रमण करने का साहस न होता। विनोबा जी हरिजनों को मन्दिरों में प्रवेश कराने के क्रम में अहिंसक आन्दोलन द्वारा जब सर्वसाधारण जनता में जागृति पैदा कर रहे थे, तो इन्हीं रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने अपने हिंसक और आक्रामक व्यवहार से उनको आगे बढ़ने से रोका था। इस दुर्व्यवहार की जितनी भर्त्सना की जाए, उतना ही कम है। तथाकथित सवर्णों का यह व्यवहार सभ्य और नैतिक मर्यादा के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। अब विचारणीय बात यह है कि सरकार से करोड़ों रुपये प्राप्त करके उन्होंने जो कार्य किए हैं, यदि उसके परिणाम समाज के सामने इसी रूप में आते रहे, तो इसका किसी-न-किसी दिन हिसाब जरूर होगा। यह निर्धन लोगों के कल्याण के लिए सरकारी अनुदान का पैसा है, सरकार जिसकी संरक्षक है। उसे इसके व्यय-अपव्यय का हिसाब अवश्य ही देना होगा। उन्हें हिसाब देने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो राष्ट्र ऐसे अपराधियों को कभी क्षमा नहीं करेगा।

दूसरा प्रश्न यह है कि करोड़ों रुपये अनुदान प्राप्त करने के बावजूद क्या उन पदाधिकारियों ने अपनी संस्थाओं की नींव को सुदृढ़ करने और उन्हें अपने पांव पर खड़ा करने के लिए कुछ काम किया है? आज यदि सरकार उनको आर्थिक सहायता देना बंद कर दे तो क्या यह सम्भव है कि वे जीवित रह सकेंगी? कमजोर वर्गों में भलाई, कल्याण और प्रगति के रचनात्मक कार्यों के लिए कार्यक्रम चलाने वाली संस्थाओं का क्या होगा? स्वतंत्रता से पूर्व इन हरिजनों में जो काम किया जाता था, जिस राष्ट्रीय भावना और निष्काम सेवा के भाव से काम होता था और उसके जो परिणाम निकलते थे, आजादी के बाद करोड़ों रुपये के अनुदान प्राप्त होने पर भी क्या उसके शतांश परिणाम भी प्राप्त हुए हैं? ये सभी प्रश्न विचारणीय हैं। आज ये संस्थाएं सरकार की इस आर्थिक सहायता का जिस प्रकार दुरुपयोग कर रही हैं, क्या वह ठाठ-बाट और अपने वैभवशाली मंदिरों को बनाए रखेंगी। ऐसी स्थिति में इन संस्थाओं का जीवन समाप्त हो जाएगा और वह दिवालिया होकर रह जाएंगी। और यह एक दुखद तमाशा होगा। राष्ट्र को सरकार से यह पूछना चाहिए कि इन संस्थाओं को दी जाने वाली करोड़ों की धनराशि का क्या उन्होंने कभी लेखा-जोखा किया है। जनता आखिर अपने धन का इस तरह का अपव्यय एवं दुरुपयोग कब तक चुपचाप सहन कर सकती है? आश्चर्य की बात है कि जब देश परतंत्र था तब तात्कालीन प्रशासन के सामने केवल अपना ही स्वार्थ था। उस समय सरकार का इन समाज-कल्याण के कामों में कोई सहयोग प्राप्त नहीं था। तब भी इन गैर-सरकारी संस्थाओं ने सरकारी आर्थिक सहायता के बिना समाज-सेवा के जो कार्य किए, वे अत्यन्त प्रशंसनीय थे। इन संस्थाओं को

लोगों का सहज सहयोग प्राप्त था। दान से प्राप्त होने वाली छोटी-छोटी रकमों से ही वे अपने कार्यक्रमों को चलाते थे। मगर आज वैसी स्थिति नहीं रही।

राष्ट्र का कितना धन व्यय हुआ है, कितनी योजनाएं तथा प्रतियोजनाएं चालू हुई हैं, मगर सफाई-कर्मचारियों की दशा में सुधार नहीं हुआ। वे उसी प्रकार सिर पर मैला ढोते हैं। ये अमानुषिक रूढ़िवादी प्रचलन अभी तक दूर नहीं हुए, जो मानवता पर एक कालिमा है। यह सर्वविदित ही है कि सफाई करने, चर्म-शोधन, चमड़ा उतारने आदि की अस्वच्छ व्यवस्था में लगे लोगों की अवस्था अभी भी अत्यधिक खराब चल रही है और उनकी स्थिति को सुधारने के लिए अभी तक प्रयास नहीं हुआ। विगत 40 वर्षों से इस दिशा में कल्याणकारी कार्य होते रहने पर भी इनकी स्थिति में सुधार नहीं हुआ। इस तथ्य को सरकार ने भी स्वीकार किया है। इनकी दयनीय स्थिति की ओर सरकार का ध्यान आर्कषित कराने के लिए उक्त कार्यालय के आयुक्त ने अपनी 1971-73 की वार्षिक रिपोर्ट में इनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए अत्यधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता पर बल दिया था। यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि देश की राज्य सरकारें इस विषय में तगड़ी आर्थिक सहायता प्राप्त करने पर भी शहरों में नवीन ढंग के फ्लश टाइप शौचालय बनवाने में असफल रही हैं। इस प्रकार कोई भी क्रमबद्ध कार्यक्रम न होने के कारण राज्य सरकारों की नगरपालिकाएं अपना उत्तरदायित्व निभाने में असमर्थ रही हैं। देश की ग्राम पंचायतों ने अपने ग्राम के मल और अन्य कूड़े-कचरे को कम्पोस्ट में परिवर्तित करने की ओर ध्यान नहीं दिया। सार्वजनिक जीवन का यह एक आवश्यक कार्यक्रम है। पाखाना उठाने और सफाई करने वाले कर्मचारियों को गंदे काम करने के लिए बाध्य किया जाता है और उन्हें अस्पृश्य समझकर उनका तिरस्कार कर सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। यह और कुछ नहीं बल्कि बंधुआ मजदूरों की ही एक श्रेणी है, जिसमें एक जाति-विशेष के लोगों को मैला उठाने, गंदी नालियां साफ करने, चमड़ा उतारने तथा मृत पशु उठाने जैसे नीच काम करने के लिए विवश किया जाता है। ये काम किसी जाति विशेष के नहीं होने चाहिए। इस वर्ग का कोई व्यक्ति यदि इन कामों को करना नहीं चाहता तो प्राथमिक मानव-अधिकारों के अंतर्गत उसे कोई भी विवश नहीं कर सकता। मगर आज के प्रजातांत्रिक युग में ऐसे भी जघन्य पाप हो रहे हैं।

निःसंदेह राष्ट्र-निर्माण का काम आसान नहीं, कठिन है। पुरानी घिसी-पिटी प्रथाओं के रूढ़िवादी विचारों को सहज बदलना भी आसान नहीं है। देश को ठीक मार्ग पर लाने और लोगों में मानवतावादी भावना पैदा करने के लिए उत्साह, लगन और धैर्य द्वारा मेल-मिलाप, स्नेह तथा प्रेम से उनका हृदय-परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इस तरह कई पीढ़ियों के लगातार संघर्षों के बाद कुछ परिणाम दृष्टिगोचर होंगे। इसमें धैर्य और विश्वास की आवश्यकता है। देशभक्ति

की निष्काम भावना द्वारा ही इन कमजोर वर्ग के लोगों की स्थिति में सुधार किया जा सकता है। जिस स्वर्गतुल्य समाज का नक्शा अपने आलंकारिक भाषणों द्वारा दिखाया जाता है, उन समाज-सुधारकों का निजी जीवन क्रियात्मक रूप से वैसा ही होना आवश्यक है। ऐसा होने पर ही उनके उपदेशों का प्रभाव लोगों पर हो सकता है। इन्हीं त्रुटियों के कारण हिन्दू-समाज अभी तक ऐसे असाध्य रोगों में जकड़ा हुआ है जिस कारण आज समस्याएं कम होने की अपेक्षा और ज्यादा जटिल होकर सामने आई हैं। उनके दृष्टिकोण की संकीर्णता में अंतर पैदा न होने के कारण निराशा का क्षेत्र बढ़ा है। इन लोगों में अब पृथक्ता की मनोवृत्ति उभरने लगी है जो देश, राष्ट्र और जाति के लिए अत्यन्त घातक हो सकती है। अभी पिछले दिनों बिहार, आगरा और जमशेदपुर में हुई जो घटनाएं सामने आईं वे हिन्दू-समाज के लिए नितांत लज्जाजनक हैं। यदि समय रहते स्थिति नियंत्रण में न की गई तो देश और हिन्दू-समाज को इससे पैदा होने वाले गंभीर परिणाम भुगतने पड़ेंगे। इसके लिए गैर-सरकारी संस्थाएं अपने उत्तरदायित्व से नहीं बच सकेंगी, उन्हें जनता के न्यायालय में उत्तर देना पड़ेगा।

स्वतंत्रता के बाद निम्न जातियों और पिछड़े वर्ग के लोगों को समाज के समानांतर लाने हेतु, दस वर्ष का समय निश्चित किया गया था। निर्धारित समय के समाप्त होने के बाद संसद में साधारण तर्क-वितर्क के बाद दस वर्ष की अवधि और आगे बढ़ा दी जाती है। अवधि बढ़ाने का यह क्रम निरन्तर जारी है। यह क्रम कब तक चलता रहेगा, कोई नहीं कह सकता। वर्तमान व्यवस्था में इस उपेक्षा एवं असफलता के लिए कोई भी उत्तरदायी नहीं है। इस कारण बिना भय और किसी संकोच-झिझक के हर बार अवधि बढ़ा दी जाती है। सरकार समझती है कि जैसे-तैसे लोगों में लोकप्रिय बने रहकर अपनी सरकार के कार्यकाल के दिन पूरे किए जाएं, जब दूसरी सरकार आएगी, वह स्वयं जिस तरह चाहे, निपट लेगी। इस प्रकार एक मंत्रिमडल के बाद दूसरा मंत्रिमंडल बनता है। सारी कार्य-प्रणाली को यथावत् जारी रखा जाता है और अवधि के बाद अवधि बढ़ाई जाती है। मगर खेद है कि इस प्रजातांत्रिक व्यवस्था में उन्हें कोई पूछने वाला नहीं है कि राष्ट्र के साथ इस प्रकार का मजाक क्यों किया जा रहा है। दूसरी ओर सरकार की यह ढुल-मुल नीति समाज-कल्याण संबंधी गैर-सरकारी संस्थाओं के अनुकूल भी है, क्योंकि उनके भविष्य इसी प्रकार की निष्क्रिय नीतियों से सुरक्षित हैं। अतः वह इस विषय में आपत्ति या टीका-टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं समझती। परन्तु यदि जनता सावधान हो तो सरकार इस तरह हर बार अवधि बढ़ाने का साहस नहीं कर सकती। ऐसा करने के लिए उसे कुछ ठोस तर्क प्रस्तुत करने पड़ेंगे। कारण, आज कोई भी पूछने वाला नहीं है, इसलिए जैसा जी चाहता है, वैसा ही किया जाता है। देश और

राष्ट्र के साथ इससे बड़ी खिलवाड़ और क्या हो सकती है। सरकारी और गैर-सरकारी तौर पर यह स्वीकार किया जा चुका है कि देश के कमजोर वर्ग के लोगों पर बराबर अत्याचार बढ़े हैं। उनके प्रति होने वाले हिंसक व्यवहार पशुता की सीमा को भी पार कर चुके हैं। जन-कल्याण का दम भरने वाली गैर-सरकारी संस्थाओं के लिए यह एक खुली चुनौती है। समाज की यह दुर्दशा और भीषण स्थिति देखकर भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि सरकार को इन घटनाओं के लिए खेद है और वह इस विकट स्थिति पर गंभीरता से विचार कर रही है। उन्होंने हिन्दू-समाज को सावधान किया था कि ये अत्याचार उन लोगों पर हो रहे हैं, जो इस समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं और यह सब राष्ट्र के लिए अत्यन्त लज्जाजनक है।

आगरा, जमशेदपुर और महाराष्ट्र में होने वाली घटनाओं ने यह प्रमाणित किया है कि तथाकथित सवर्ण और अछूत हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता का भयानक युद्ध शुरू है। वे एक-दूसरे को समाप्त करने पर तुले हैं। इस निराशाजनक स्थिति से प्रभावित होकर दलित वर्गों के हिन्दुओं में आतंक बढ़ा है। फलतः अपना एक पृथक् राज्य स्थापित करने की मांग पर विचार इनके बीच हो रहा है। देश के पूर्वी क्षेत्रों में प्रशासकीय शासन अस्थिर हो चुका है। वहां के आदिवासी, गिरिजन लोग अपने को इस देश का नागरिक नहीं मानते। प्रायः पुलिस चौकियों को आग लगाकर भस्म कर दिया जाता है। सरकारी अधिकारियों और अन्य लोगों की नृशंस हत्याएं की जाती हैं। इस प्रकार इस स्थिति में सुधार होने की अपेक्षा यह बीमारी दिनोंदिन असाध्य हो रही है। सरकार की प्रभावहीन नीति, समाज-सुधारक संस्थाओं में व्याप्त अकर्मण्यता और स्वार्थपरता के कारण देश में साम्प्रदायिक और समाज-विरोधी अवांछित तत्त्वों की निरंकुश धांधली बेरोकटोक बढ़ती जा रही है। कमजोर वर्गों के लोगों को पांव तले रखने के लिए हर तरह के अनुचित साधनों द्वारा शांति भंग की जा रही है। इस प्रकार सामान्य जीवन अस्थिर एवं विषाक्त होकर रह गया है। इस विकट स्थिति का बहुत-सा उत्तरदायित्व उन गैर-सरकारी संस्थाओं पर आता है, जिनका सफेद हाथियों की तरह देश में एक जाल-सा फैला हुआ है। ये वही संस्थाएं हैं जो देश को अस्पृश्यता और भेद-भाव के अभिशाप से मुक्त करने का दावा करती हैं और जो सरकार से मोटी धनराशि ऐंठकर स्वेच्छा से व्यय करने में व्यस्त हैं। जिन लोगों पर सरकार ने जनता का हृदय-परिवर्तन करने की जिम्मेदारी सौंपी है, यदि उनकी यह दशा है तो फिर देश का भविष्य भगवान् के भरोसे ही छोड़ना पड़ेगा। स्वतंत्रता के चार दशक बाद भी किसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर नहीं हो रहे और ये संस्थाएं सरकारी आर्थिक सहायता तथा नाना

प्रकार के अनुदान मिलने पर भी मात्र स्वार्थ-साधन में लगी रहें, इससे बढ़कर देश का दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ?

इन संस्थाओं में काम करने वाले कार्यकर्ताओं की दशा भी अत्यन्त दयनीय है। उनको साधारण-सा वेतन देकर उनका रक्त चूसा जाता है। ये लोग हर समय अपनी आर्थिक स्थिति की शोचनीय अवस्था से परेशान रहते हैं। इनके लिए ऐसे कानून नहीं हैं, जिनसे ये लाभान्वित हो सकें। ये कर्मचारी चिकित्सा-सुविधाओं से भी वंचित हैं और न ही इनके पास आवास की सुविधाएं हैं। जब चाहा, उन्हें नौकरी से निकाल दिया जाता है। उनको पूछने वाला भी कोई नहीं है। ये वही कार्यकर्ता हैं, जिन पर देश की कठोरतम समस्या को निपटाने का दायित्व है। यदि ये लोग अपने जीवन-निर्वाह की चिन्ता में ग्रस्त रहें, तो फिर इनसे इतने महान् कार्य में रुचि लेकर उत्साह से काम की आशा करना मूर्खता होगी। ये लोग तो वह गाड़ी हैं जिस पर सुधार के सारे साधन लदे हैं। यदि यह गाड़ी ही ठीक नहीं तो सुधार क्या होगा। जब ये कार्यकर्ता अपने नेताओं के राजसी ठाठ-बाट, उनका वैभव और उनके सुसज्जित भवनों को देखते हैं तो उनके मन में तुरन्त एक विचित्र प्रतिक्रिया पैदा होती है और वे मन मसोसकर रह जाते हैं। उन्हें हीनता की भावना से ग्रस्त होने के कारण हर समय दया का पात्र बना रहने के लिए विवश होना पड़ता है। इन संस्थाओं के काम करने के ढंग में अविलम्ब और आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है, ताकि निश्चित लक्ष्य व उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके और समाज बुराई से मुक्त हो सके।

9

पिछड़ेपन की कसौटी

स्वतंत्रता के बाद जब देश का संविधान लिखा जा रहा था, तब कांग्रेस सरकार ने हरिजन और जन-जातियों को समाज के अन्य भाइयों के बराबर लाने के लिए संविधान द्वारा इन्हें सुविधाएं और विशेष संरक्षण प्रदान करने का प्रावधान रखा ताकि वे लोग उन विशेष सुविधाओं द्वारा अन्य लोगों के समकक्ष खड़े हो सकें। संविधान में उल्लिखित इस संरक्षण के अंतर्गत इनके लिए सरकारी नौकरियों में विशेष संरक्षण की सिफारिश की गई। इस संरक्षण-नीति के अनुसार शिक्षा का स्तर कम होने पर भी इन्हें प्रत्येक क्षेत्र में प्राथमिकता दी गई। इन्हें जीवन के हर क्षेत्र में किसी-न-किसी रूप में हर सुविधा सुलभ की गई। शिक्षा ग्रहण करने हेतु इन्हें मुफ्त पुस्तकें और छात्रवृत्तियां, शैक्षणिक संस्थाओं में उच्च प्रशिक्षण हेतु इनके लिए प्राथमिकता का प्रावधान रखा गया। इनके रहन-सहन के स्तर को सम्मानजनक बनाने के लिए इन्हें कई प्रकार के ऋण और अनुदान दिए गए। इसके अनुसार इनकी आर्थिक दशा में सुधार लाने के लिए विविध कार्यक्रमों के अंतर्गत इन्हें आर्थिक सहायता दी जाती है। अर्थात् इनमें हीनभावना को समाप्त करने के प्रयास किए जाते हैं। ऐसे प्रयत्न किए जाते हैं कि ये समानता के वातावरण में समाज में एक साथ चलें। सुविधाओं और संरक्षणों के लिए एक निश्चित अवधि घोषित की जाती है। वह अवधि समाप्त होने के उपरांत उसे बढ़ाया जाता है और इस तरह यह क्रम विगत चालीस वर्षों से निरन्तर चल रहा है।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि सरकार को अपने उद्देश्य में कहां तक सफलता प्राप्त हुई है और कहां तक समाज में इनका समरस हुआ है? क्या इस दिशा में हिन्दू-समाज अपनी कर्त्तव्यपरायणता के प्रति कुछ जागृत हुआ है? ज्ञात होता है कि इस दिशा में पिछले चालीस वर्षों की सरकारी एवं गैर-सरकारी गतिविधियों का कोई भी सन्तोषजनक परिणाम अभी तक दिखाई नहीं दिया।

जिस आशा को लेकर इस नीति को अपनाया गया था, उसमें सफलता नहीं मिली। यह सब देखते हुए अनुभव होता है कि उस नीति पर पुनः विचार करने की जरूरत है, क्योंकि सामाजिक स्थिति में आशाजनक परिवर्तन और ठोस सुधार होने की अपेक्षा उलटा बिगाड़ पैदा हुआ है। मानवता के नाते तो बिना किसी भेद-भाव, जात-पांत और ऊंच-नीच के लोगों में कल्याण-कार्य होना चाहिए। यह नहीं कि किसी व्यक्ति को केवल पिछड़ी जाति का होने से ही सभी सुविधाओं और संरक्षणों के योग्य समझा जाय। भले ही उसके माता-पिता का जीवन-स्तर उच्च या उसका पिता सरकारी विभाग में उच्च अधिकारी या फिर उसका अच्छा कारोबार ही क्यों न हो, भले ही उसकी आर्थिक स्थिति कितनी भी अच्छी क्यों न हो। आज संविधान के अनुसार ऐसे हर व्यक्ति को सुविधा और संरक्षण प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है जो पिछड़ी जाति का हो। मगर दूसरी ओर ऐसे दीन-हीन व्यक्ति भी हैं, जिनका कोई व्यवसाय नहीं, आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय है, परन्तु वे किसी संरक्षण और सुविधा के योग्य नहीं हैं। क्योंकि उनका जन्म किसी अनुसूचित जाति और अनुसूचित जन-जाति में नहीं हुआ है। भले ही वह कितना भी सहायता का पात्र क्यों न हो। उसके माता-पिता की आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण वह शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। कारोबार करने में असमर्थ है और जीवन व्यतीत करना कठिन है। योग्य होने पर भी वह उच्च शिक्षा के लिए प्रवेश प्राप्त करने में असमर्थ है। ऐसे लोग निराशा के इस अंधकार में हताश होकर चोर और डाकू बन जाते हैं या बिलख-बिलखकर मर जाते हैं या आत्महत्या कर लेते हैं अथवा उनके मन में बढ़ता हुआ यह असन्तोष उन्हें इस नीति के प्रति कभी विद्रोही भी बना देता है। आज इस संरक्षण के नाम पर जो वर्ग-संघर्ष उभरने लगा है, वह एक गम्भीर विषय है। हिन्दू-समाज का एक वर्ग दूसरे वर्ग को समाप्त करने के लिए जिस अमानवीय संघर्ष के रास्ते पर बढ़ रहा है, वह एक विनाश का मार्ग है, जिसमें हिन्दू-समाज पतन के गर्त में गिरकर समाप्त हो जाएगा। इस अंधाधुंध और विवेकहीन संरक्षण को रोकने के लिए नाम के साथ जाति को लिखना वैधानिक तौर से बंद होना चाहिए। न्यायालय की लिखा-पढ़ी में, रैविन्यु विभाग के रिकार्ड और पुलिस की कार्यवाही में जाति का विवरण नहीं होना चाहिए। इस प्रकार वन-विभाग और शिक्षा-विभाग में भी जाति का उल्लेख नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त जनसंख्या के फार्मों और लाइसेन्स प्राप्त करने हेतु जाति का विवरण देने की प्रथा समाप्त होनी चाहिए। इस प्रकार की जो कार्यवाही है, वह सब एक नयी नीति के अनुसार होनी चाहिए। नाम के साथ जाति के महत्त्व को प्रकट करना नैतिक और संवैधानिक रूप से आवश्यक नहीं है। इससे लोगों में भेद-भाव और हीनता की भावना पैदा होने के साथ निराशा जन्म लेती है जो

उचित नहीं है। इसलिए उनकी भावनाओं को समझना सबके लिए जरूरी है। इसके अतिरिक्त जिस व्यवहार और प्रथा से लोगों में घृणा पैदा होती हो, उसे व्यवहार में नहीं लाना चाहिए। यदि जाति का विवरण किसी कार्यवाही या पूछताछ में न भी लाया जाए तो इस नीति से न देश को और न ही समाज को किसी तरह की कोई हानि या कोई विकट समस्या पैदा होने की आशंका हो सकती है।

पिछड़ेपन की कसौटी का स्तर जाति न होकर आर्थिक आधार होना चाहिए। समाज से बुराइयों को दूर करने के लिए यदि पुराने उपाय सफल नहीं हुए तो स्थिति पर पुनर्विचार करके दूसरी लाभदायक कार्य-प्रणाली की खोज के लिए गंभीरता से प्रयास करना चाहिए। अब देश के नेताओं ने अनुभव किया है कि यह सुविधाएं संरक्षण और आरक्षण आदि किसी विशेष जात-पांत के आधार पर निश्चित नहीं होनी चाहिए क्योंकि मानवता की दृष्टि से प्रजातंत्र के इस युग में सभी वर्ग कल्याण-कार्य के अधिकारी हैं। अत: पिछड़ेपन और दरिद्रता दूर करने की सुविधाओं का आधार आर्थिक होना चाहिए। राष्ट्र में किसी भी वर्ग में यदि कोई निर्धन और पिछड़ा हुआ है, भले ही वह किसी भी जाति का क्यों न हो, वह विशेष सुविधाओं को प्राप्त करने का अधिकारी होना चाहिए। इस नीति का अनुमोदन करते हुए भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी ने कहा था कि कमजोर वर्ग के लोगों पर अत्याचार की घटनाओं से उन्हें बहुत दुःख हुआ है। यह उन सब लोगों के लिए लज्जा की बात है जो प्रजातंत्र में विश्वास रखते हैं। उन्हें कमजोर और पिछड़े लोगों की सहायता के लिए जाति की कसौटी पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। पिछड़े लोग, जिन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता और जो अपना जीवन गरीबी की रेखा से नीचे काटने के लिए विवश हैं, वे बिना किसी धार्मिक, जातिगत या अन्य भेद-भाव के सरकार की ओर से दी जाने वाली सुविधाओं और सहायता के अधिकारी हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी चौहडपुर (देहरादून) में 'गुज्जर ट्राइबल कान्फ्रेंस' का उद्घाटन करते हुए ऐतिहासिक घोषणा की थी, "हरिजनों और ट्राइबल लोगों के नाम से राष्ट्र में जो रेखा अंकित की गई है, उसे मिटा देना चाहिए। यह अच्छा भी नहीं लगता और गौरवमय भी नहीं है कि समाज के एक वर्ग का कोई व्यक्ति इस नाम से सरकार से भीख मांगे कि वह अनुसूचित जाति या अनुसूचित जन-जाति से सम्बन्ध रखता है। हमने सबके लिए कल्याण-कार्य करना है। अत: यह सिलसिला समाप्त होना चाहिए।" इसके अतिरिक्त देश के नेता स्व० बाबू जगजीवनराम ने भी अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था, "छूत-छात तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक जात-पांत का सिलसिला समाप्त नहीं किया जाता।" अर्थात् जात-पांत का विवरण फार्मों या सरकारी कार्यवाही में नहीं होना चाहिए, जिससे कोई भेदभाव पैदा होता हो। इन सब नवीन परिवर्तित

विचारों और कुप्रथाओं के प्रचलन को दृष्टिगत करते हुए सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं को अपनी कार्य-नीति पर पुनः विचार करना चाहिए। आर्थिक स्तर के आधार पर कोई रेखा निश्चित कर कल्याण-कार्य करने की नीति निर्धारित होनी चाहिए। समाज के पिछड़े वर्ग या कमजोर वर्ग की पहचान क्या है ? यह तो मान्य नहीं है कि हरिजन या अछूत के घर पैदा होने वाले को ही पिछड़े वर्ग या कमजोर वर्ग के लोग कहा जाए। व्यावहारिक रूप से पिछड़े वर्ग की परिभाषा यह होनी चाहिए कि सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, शैक्षणिक और इसी प्रकार के मानव-अस्तित्व की विभिन्न दिशाओं में जो पिछड़ा हुआ हो, चाहे वह किसी जाति से भी संबंध क्यों न रखता हो। इस विषय में अधिक स्पष्ट करते हुए 1953 में सरकार ने सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों की स्थिति की जांच करने के लिए जो आयोग गठित किया था, उसने भी अपनी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया था कि पिछड़े वर्गों का जन्म के आधार पर वर्गीकरण करने की आवश्यकता नहीं है तथा इसके स्थान पर अन्य पिछड़े वर्गों को केवल उनके आर्थिक स्तर के आधार पर समुचित लाभ दिए जाने चाहिए। मगर खेद है कि सरकार अपनी पुरानी डगर पर ही चल रही है और अनुसूचित जाति के घर पैदा होने वाले को, चाहे वह कितना भी धनाढ्य क्यों न हो, उसे ही विशेष अधिकारों की सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। यह न्यायसंगत नहीं है।

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन-जातियों के लोगों को दी जाने वाली विशेष सुविधाओं और संरक्षणों के परिणाम भी सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुए हैं। इसने हिन्दू-समाज को दो भागों में विभाजित करने की मनोवृत्ति को जन्म दिया है, जिससे किसी समय भी इस समाज का ताना-बाना बिखर सकता है। आज देश की जो स्थिति है उससे सामाजिक इकाई के खंडित होने की आशंका पैदा हो गई है। इसके जो कुछ चिह्न देखने को मिल रहे हैं, उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि बढ़ती हुई इस पृथक्ता की मनोवृत्ति को न रोका गया तो किसी भी समय राष्ट्र की एकता के लिए भयानक खतरा पैदा हो सकता है। इसलिए इस गम्भीर स्थिति को दृष्टिगत करते हुए नये सिरे से आर्थिक स्तर के आधार पर विचार करके नई नीति निर्धारित करने की जरूरत है ताकि किसी वर्ग के किसी व्यक्ति को भी एक-दूसरे से कोई शिकायत न रहे और उनमें परस्पर प्रेम और स्नेह का वातावरण बना रहे। परन्तु सरकार की वर्तमान नीति के कारण ऐसे लोग जो ऊंची जाति के होने पर भी गरीब तथा पिछड़े हुए हैं, उन्हें सुविधाएं तथा आरक्षण के अवसर उपलब्ध नहीं हो सकते जिस कारण उनकी आर्थिक और सामाजिक दशा में सुधार नहीं हो पा रहा और वे निर्धन-से-निर्धन ही होते जा रहे हैं, भले ही वे कितने ही योग्य क्यों न हों और शिक्षा के क्षेत्र में भी उनकी स्थिति कितनी भी अच्छी क्यों न हो। मगर दूसरी ओर भले

ही वे संविधान की सुविधा के कारण कितने भी अयोग्य क्यों न हों और शिक्षा का स्तर कितना भी निम्न क्यों न हो, उन्हें आगे प्रगति का अवसर मिलेगा। इस प्रकार सरकारी संस्थाओं में विशेष प्रतिशत के अनुसार आरक्षित स्थान के उम्मीदवारों को स्थान दिए जाते हैं और रियायत देकर उनका चयन किया जाता है। प्रशासन में उच्चस्तरीय आरक्षित स्थानों पर इस प्रकार के उम्मीदवार चुने जाने से प्रशासनिक कार्यों में भारी शिथिलता आ जाती है जो स्वाभाविक है। इससे लोगों की दृष्टि में सरकार की प्रतिष्ठा गिरने लगती है और उसके प्रति अश्रद्धा पैदा होनी शुरू हो जाती है। उनकी अयोग्यता और अनुभवहीनता के कारण जनसाधारण को पूरा न्याय नहीं मिलता। फलस्वरूप सरकार बदनाम होकर रह जाती है। प्रशासन में शिथिलता आ जाने और सर्वसाधारण को उचित न्याय न मिलने के कारण देश में जो असन्तोष पाया जाता है, उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की परम आवश्यकता है।

तेजी से बदलती स्थिति के प्रकाश में अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि जिस सुधार के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं, उसके सुखद परिणाम प्राप्त नहीं हुए। ऐसा देखकर ही बाबू जगजीवनराम ने कहा था—"शताब्दियों से हरिजन और पिछड़े हुए वर्ग के लोग दूसरों के प्रभाव और दासता में रहकर पराधीनता और हीनता का जीवन व्यतीत करते रहे हैं। अब उनमें जागृति पैदा होने से, उन्होंने इस अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई है। परन्तु विशेष वर्ग के लोगों द्वारा उनके आर्थिक प्रोग्रामों में बराबर रुकावट पैदा की जाती है।" इस स्थिति के अवलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इन लोगों की समस्याओं पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता है। इस दिशा में पंजाब सरकार ने कुछ महत्त्वपूर्ण पग उठाए हैं और दूसरे प्रांतों को मार्ग दिखाया है। पंजाब सरकार की इस पहल के कारण केन्द्रीय सरकार के लिए भी इस दिशा में बढ़ना सुगम हुआ है और साथ ही राष्ट्रीय नेताओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी प्रेरणा मिली है कि इस प्रगतिशील नीति को देश के दूसरे प्रांतों में भी लागू करने के लिए मार्ग प्रशस्त करें।इस नीति के अनुसार छः सौ रुपये से अधिक मासिक वेतन पाने वाले या प्रथम श्रेणी के हरिजन अधिकारी, विधानसभा के हरिजन सदस्य और उनके परिवार का कोई सदस्य भी पंजाब फाइनैंशल कारपोरेशन से ऋण प्राप्त करना चाहे, तो वह दूसरी कारोबारी वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त कर सकता है। इस नीति से धनाढ्य से अधिक धनाढ्य और निर्धन से अधिक निर्धन होने का क्रम नहीं बढ़ेगा। पंजाब सरकार की इस नीति ने ऋण प्राप्त करने की बेतहाशा लूट को कुछ सीमा तक रोका है। इससे यह प्रकट होता है कि इन हरिजनों में जो धनाढ्य, चालाक एवं होशियार हैं और जो आर्थिक दृष्टि से उन्नत हैं, जिनकी कुछ पहुंच है और कुछ पढ़े-लिखे हैं—वे ही लाभ प्राप्त कर सकते थे और विशेष अधिकारों की सुविधाएं

और संरक्षण का अनुचित लाभ उठाते थे। उनमें जो निर्धन हैं, वे सब तरह की सहायता के पात्र होने पर भी उन सुविधाओं और संरक्षण से वंचित रह जाते हैं। अशिक्षित और पिछड़े होने से उनकी पहुंच नहीं होती। इसलिए वे निराश होकर रह जाते हैं और गरीबी के जीवन में सड़ते हैं। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समाज के वे लोग चाहे किसी वर्ग या धर्म से सम्बन्धित क्यों न हों, जो निर्धनता और दरिद्रता में सिसक रहे हैं, उनकी उन्नति और कल्याण का प्रश्न ही मुख्य है। इसका समाधान तभी हो सकता है जब संविधान में मूलरूप से परिवर्तन करके आर्थिक स्तर के अनुसार कल्याण और उन्नति की सुविधाएं और संरक्षण उपलब्ध कराए जाएं, अन्यथा इसके गम्भीर दुष्परिणाम सामने आने की आशंका है। देश के वर्तमान वातावरण को देखते हुए शेख मु० अब्दुल्ला ने, जिन्हें जनसाधारण का विश्वास प्राप्त था और जो काश्मीर के सर्वप्रिय नेता थे, अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था—"देश में साम्प्रदायिक दंगे और हरिजन लोगों पर अत्याचार की रोकथाम और उनके जीवन में स्थिरता लाने हेतु, नेताओं को अपने आदर्श जीवन के प्रकाश से जनता में अपना प्रभाव पैदा करना चाहिए ताकि परिस्थिति उनके जीवन से प्रभावित होकर अनुकूल हो सके। मानव-कल्याण के आधार पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण होना चाहिए, न कि किसी विशेष वर्ग, जाति या धर्म के आधार पर।"

जो आदर्श काश्मीर के नेता शेख अब्दुल्ला ने प्रस्तुत किया, ग्रहणीय है। उन्होंने भी इन्हीं विचारों का अनुमोदन किया है, जिनका वर्णन ऊपर आया है। परम्परा से प्रचलित कार्य-प्रणाली द्वारा सामाजिक समस्याओं के हल होने की सम्भावना नहीं है। बिना धार्मिक वर्ग और जाति के भेद-भाव के कल्याण-कार्यों को करना चाहिए और अपने त्यागमय जीवन से लोगों के हृदय में ऐसी भावनाएं पैदा करनी चाहिए, जिनसे उन्हें समाज को बदलने की प्रेरणा मिल सके। अतः सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वर्तमान नीति पर वह गम्भीरतापूर्वक पुनर्विचार करे। बिना किसी धार्मिक भिन्नता और वर्ग तथा जाति भेद-भाव के आर्थिक स्तर के अनुसार ही केवल सुविधाएं और अन्य संरक्षण इत्यादि प्रदान किये जाने चाहिए ताकि बढ़ती हुई पृथक्ता की मनोवृत्ति और नृशंस अत्याचारों पर नियंत्रण किया जा सके।

10

सफलता क्यों नहीं

हिन्दू-समाज में छूतछात, स्वार्थ, स्त्री-दुर्दशा, मनुष्य-मनुष्य के मध्य दीवार, सभी तरह के पाखंड, पाप-अनाचार और अत्याचार धर्म के नाम पर किए जाते हैं, जिनका तथ्य से दूर का भी वास्ता नहीं है। इस समाज के प्रत्येक वर्ग ने अपने-अपने स्वार्थ के लिए एक-दूसरे को अपने प्रभाव से आतंकित किया है और उनका अपनी आवश्यकतानुसार शोषण किया जाता है। मगर उनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी समाज में होते हैं जो उनसे भिन्न विचार रखते हैं; जो धर्म को चूं-चूं का मुरब्बा बनाने के पक्ष में नहीं होते और उसे सब बुराइयों से पवित्र रखना चाहते हैं ताकि जनसाधारण पथभ्रष्ट न हो सकें और धर्म के इस मूलमंत्र को समझ सकें कि वह मानव को क्या सन्देश देता है? ऐसे कर्मनिष्ठ भद्रपुरुष कार्यक्षेत्र में आते हैं। परस्पर विचारों का टकराव होता है। अंत में वे अपने मन, वचन, कर्म और आदर्श सात्त्विक जीवन द्वारा उन्हें अपने अनुकूल बनाते हैं। ऐसे महानुभाव जो देश को अराजकता और विनाश से बचाते हैं, लोगों को सच्चाई तथा मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं, संसार में कभी-कभी ही जन्म लेते हैं। ऐसे लोगों की शिक्षा का प्रभाव चिरस्थायी हुआ करता है। ऐसे महापुरुषों को मनुष्य से श्रेष्ठ मानकर, उन्हें अवतार के रूप में सम्बोधित किया जाता है। वे अपने सात्त्विक जीवन और जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से समाज में ऐसी प्रगतिशीलता लाते हैं, जिससे समाज में एक जोरदार परिवर्तन होता है और लोगों का ध्यान उनके नवीन विचारों की ओर आकर्षित हो जाता है। वे अपने जीवन में राष्ट्र और देश के हितार्थ शताब्दियों के पिछड़ेपन, कुरीतियों और दरिद्रता से मुक्त करने हेतु भरसक प्रयत्न करते हैं। वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति से धीरे-धीरे अपने उद्देश्य में सफल होते हैं। फलस्वरूप सभी लोग उनके विचारों से सहमत हो उनके अनुयायी बन जाते हैं। यही नहीं, कभी जो लोग उनका विरोध करते थे, उनके कार्यक्रमों में नाना प्रकार के षड्यंत्रों द्वारा रुकावट पैदा करते थे, वे भी उनके

अनुयायी बन जाते हैं। हजारों नहीं, बल्कि लाखों की संख्या में लोग उनके विचार सुनने और मन से उन्हें ग्रहण करने का निश्चय करते हैं। उनके विचारों को दृढ़ता से ग्रहण कर उनके पद-चिह्नों पर चलने का व्रत लेते हैं। उनकी शिक्षा का प्रचार करने के लिए कार्यक्षेत्र में डंका बजाते हैं। इस प्रकार वे अपने त्याग और देश-भक्ति की भावना से कार्य करके समाज में यह प्रभाव पैदा करने का प्रयास करते हैं कि उनमें देशभक्ति की जो तड़प है, उसकी तुलना में और कोई दूसरा नहीं है। वे अपने गुरु से अधिक काम करने का दावा करते हैं। इस प्रकार अपने काम का प्रदर्शन करके सर्वसाधारण में यह विश्वास पैदा करने का प्रयत्न करते हैं कि समाज के हित की जो तड़प और देश के कल्याण और प्रगति की जो लगन उनमें है, वह सब उनके उत्तरदायित्व में सीमित हो गई है। उस शोर-शराबे और चहल-पहल में ऐसा दिखाई देता है कि जिस काम को लाखों लोग करने में व्यस्त हैं, उससे सामाजिक परिवर्तन अवश्य ही दृष्टिगोचर होगा। मगर खेद है कि थोड़े ही समय में उनके सभी प्रयत्न, प्रचार और प्रसार ताश के पत्तों की तरह बिखरकर रह जाते हैं। यह सारी प्रगति, जिसके लिए वे अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करके देश में प्रदर्शित करते हैं, रेत की दीवार की भांति है जो हवा के एक झोंके से गिरकर रह जाती है।

मगर देश के जिन मान्य समाज-सुधारक नेताओं ने, जिन्होंने सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध बीड़ा उठाया था, उनके इस नश्वर संसार से विदा होते ही उनके आन्दोलन में शिथिलता आने लगती है और वह धीरे-धीरे मृतप्राय होकर रह जाता है। इससे देश में पुनः असंतोष और अशांति छा जाती है। उस समय उनके असंख्य अनुयायी अपने गुरु और नेता के अधूरे कार्य को पूरा करने का व्रत लेकर लोगों को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करते हैं कि वे उनकी आत्मा की शांति के लिए उनके शेष कार्य को पूरा करेंगे। अपने इस व्रत के अनुसार वे देश की चारों दिशाओं में प्रचार हेतु बिखर जाते हैं। इस भूमिका के अनुसार इतिहास के अध्ययन से जानकारी मिलती है कि जब सिद्धार्थ को सांसारिक मोह-माया से वैराग्य हुआ तब उन्होंने सत्य की तलाश और आध्यात्मिक जागृति के लिए अपने राजसी वैभव को त्यागकर जंगल में डेरा जमाया। अपने शरीर को कई प्रकार की पीड़ाएं और कष्ट देकर त्याग और तपस्या का मार्ग अपनाया। वे अंत में सिद्धार्थ से भगवान् बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए और संसार को प्रेम और अहिंसा के दर्शन से अवगत कराया। उनके उपदेश दूर-दूर तक बौद्ध-धर्म के नाम से फैले। इस धर्म के प्रचार के लिए हजारों भिक्षु देश-विदेश में घूमने लगे और एशिया महाद्वीप के लोगों को बौद्ध-धर्म का अनुयायी बनाने के लिए प्रयत्न करने लगे। कलिंग के युद्ध के भयानक संहार के बाद सम्राट् अशोक ने जब विजय का डंका बजाया तो उनके हृदय को उस युद्ध के रक्तपात से गहरी ठेस पहुंची। वे

भयानक नर-संहार देखकर उद्विग्न होने लगे, लेकिन जिस समय विजय का उत्सव मनाया जा रहा था, शहनाइयों और ढोल-तम्बूरों की हर्ष-ध्वनि द्वारा गर्व का प्रदर्शन किया जा रहा था उस समय सम्राट् अशोक किसी दूसरी प्रतिक्रिया की व्याकुलता में निमग्न थे। यद्यपि उनका भौतिक शरीर वहां था फिर भी वे सब कुछ अनमने मन से देख रहे थे। वे अशांति के सागर में डूबे हुए थे। उन्हें युद्ध के भयानक विनाश से गहरा धक्का लगा था। फलस्वरूप उन्होंने अहिंसा की विचारधारा को ग्रहण कर बौद्ध-धर्म का अनुयायी होने की घोषणा की। इसके साथ ही उन्होंने बौद्ध-धर्म को राज्य-धर्म घोषित किया। कुछ ही समय बाद सम्राट् अशोक के प्रयत्नों से बौद्ध-धर्म भारत में ही नहीं बल्कि श्रीलंका, बर्मा, सिंगापुर, मलाया, चीन और जापान आदि पूर्वी देशों में भी फैला। वहां के लोग अहिंसा और बौद्ध-धर्म को अपना धर्म मानने लगे। आज महात्मा बुद्ध इस नश्वर संसार में नहीं हैं, मगर उनके अनुयायी लाखों की संख्या में भिक्षु बनकर अपने-अपने मठों में माला जपते हुए अपने गुरु की शिक्षा का प्रचार करने में व्यस्त हैं। मगर उनके उपदेशों में आज कोई सार नहीं है। उनका जीवन सात्त्विकता से परिपूर्ण क्रियाशील न होने के कारण वे समाज को थोड़ा भी प्रभावित नहीं कर सके हैं। परिणामस्वरूप बौद्ध-धर्म केवल मठों की चारदीवारी तक ही सीमित होकर रह गया है। आज महात्मा बुद्ध के अनुयायी मांसभक्षी हैं। अहिंसा के नाम पर अब कई प्रकार की ऐसी घटनाएं दृष्टिगोचर हो रही हैं जो भगवान् बुद्ध की शिक्षा के अनुरूप नहीं हैं।

इसी प्रकार शंकराचार्य के आन्दोलन को भी देखिए। उन्होंने जब ब्राह्मणों की सार्वभौमिक सत्ता के संरक्षण हेतु ईश्वर द्वारा दिए अधिकारों के नाम पर धर्मयुद्ध शुरू किया तो उस आन्दोलन से देश के कोने-कोने में फैले बौद्ध-धर्म का ढांचा बिखरकर रह गया। इस प्रचार से लोगों के मन में यह भ्रम पैदा हुआ कि उनके शंख की आवाज जिसे जहां भी सुनाई देगी, वे लोग उसी समय उनके मत में दीक्षित हो जाएंगे। इस प्रचार की प्रतिक्रिया यह हुई कि लोग पिछड़ेपन और विवेक से शून्य होने के कारण अपने मार्ग से भटक गए। इसी चतुरता और षड्यंत्र के अंतर्गत उन्होंने शंख बजाना शुरू किया। उसकी आवाज जहां-जहां पहुंची, वहां-वहां लोग उस धर्म के अनुयायी होकर उनके गीत गाने लगे। देश में यह धर्म बरसात की बाढ़ की तरह फैलता चला गया। मगर इसके बाद उनके अनुयायियों की अयोग्यता और निष्क्रियता के कारण शीघ्र ही क्षीण होकर समाप्त हो गया। इसके बाद जब हम स्वामी रामतीर्थ तथा विवेकानन्द के समय का अध्ययन करते हैं, तो उनकी असाधारण योग्यता, अद्वितीय तेज और चमत्कारों के विवरणों को पढ़कर चकित होकर रह जाते हैं, जिन्होंने अद्वैतवाद, भारतीय दर्शन तथा सभ्यता और संस्कृति के गुणों का वर्णन कर सुदूर देशों तक

अपने देश की प्रतिष्ठा को ऊंचा किया। इससे संसार में देश का गौरव बढ़ा। भौतिकवाद को अपनाने वाले पश्चिम के लोग इस देश की आध्यात्मिक और दार्शनिक शिक्षा को पाने के लिए लालायित होने लगे। यह उनका साहस था कि सांसारिक भोगों की अनेक सुविधाओं में रहने वाले लोग अपनी सुख-समृद्धि को त्यागकर परतंत्रता में सिसकने वाले देश के सामाजिक नेताओं की आध्यात्मिक शिक्षा को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करें। इस सबके फलस्वरूप उनके हजारों अनुयायी पैदा हुए और देश के कोने-कोने में केन्द्र खोलकर उनकी शिक्षा का प्रचार करने लगे। मगर आज यह प्रचार केवल उनके कार्यालयों तक ही सीमित होकर रह गया है।

इसी तरह जब हम देश की पिछली राजनैतिक स्थिति का अध्ययन करते हैं, तो पता चलता है कि गुरु नानक के समय देश अराजकता में सिसक रहा था। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक झगड़ों ने जीवन को जर्जर बना दिया था। चारों ओर संघर्ष हो रहे थे। एक-दूसरे को समाप्त करने की होड़ में नर-संहार किया जा रहा था। हिन्दुओं ने मुसलमानों का सामाजिक वहिष्कार कर रखा था और वे छुआछूत तथा अन्य कई कुरीतियों में जकड़े हुए थे। चारों ओर पिछड़ेपन और जहालत का अंधकार था। लोग ब्राह्मणवाद और दास-प्रथा की प्रभुसत्ता से परेशान थे। उस समय लोगों को गुरु नानक की ज्योति दिखाई थी। साधारण जनता को उनके आध्यात्मिक उपदेशों से शान्ति मिली। उन्होंने त्रस्त जनता को पारस्परिक बन्धुत्व, प्रेम और स्नेह का उपदेश दिया। रूढ़ियों और कुप्रथाओं के विरुद्ध अपनी शिक्षा का प्रसार किया। देश-विदेश का भ्रमण कर अपने अद्वैत का सन्देश दिया और भटकती मानवता को मुक्ति दिलाने का मार्ग दिखाया। अकेले गुरु नानक ने अपने आध्यात्मिक प्रचार द्वारा समाज को बदल डाला। सर्व-साधारण जनता में पारस्परिक प्रेम और भाईचारे की भावना बढ़ने लगी। उस अंधकार में लोगों को उनके उपदेशों का जो प्रकाश दिखाई दिया, उससे लोगों को मनुष्यता को परखने का विवेक पैदा हुआ। फलस्वरूप देश में उनके ऐसे लाखों अनुयायी बन गए जिन्होंने अपने गुरु के पद-चिह्नों पर चलकर प्रेम और भाईचारे तथा पारस्परिक द्वैतभाव को मिटाने का व्रत लिया। मगर उनके जिन अनुयायियों ने अपने राष्ट्र के संरक्षण हेतु अपने अमूल्य जीवन को दांव पर लगाया था और मनुष्यता का सन्देश दिया था, अपने गुरुओं के सन्देश को मूलरूप से व्यवहार में न उतार सके। वे अब गुरुओं की मानवतावादी शिक्षा को एक ओर रखकर अपने जिस सीमित दृष्टिकोण से कार्य कर रहे हैं, उसका उनके सिद्धांतों के साथ दूर का भी वास्ता नहीं है। उनके त्याग, तपस्या और उनकी ईश्वरीय वाणी से आज हमारा देश चमक रहा है। मगर आज उन गुरुओं का कोई भी अनुयायी ऐसा नहीं मिलता जो उनकी मूल शिक्षा से लोगों को

अवगत करवाकर आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा लोगों में व्याप्त असन्तोष, अशान्ति और मानसिक अस्थिरता को समाप्त कर सके।

इसी तरह राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द सरस्वती पैदा हुए जिन्होंने देश की प्रगति के लिए सामाजिक कुरीतियों और जहालत के अंधकार को दूर करने, रूढ़िवादी कुप्रथाओं के विरुद्ध स्त्री जाति को समान अधिकार दिलाने और छुआछूत को दूर करने के लिए बिगुल बजाया। उनके आह्वान से देश में क्रांति पैदा हुई। लोग वास्तविकता तथा धर्म के मूल सिद्धांत को जानने को उत्सुक होने लगे। फलस्वरूप समाज में जागृति पैदा हुई। लोग अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक होने लगे। धर्म में जिन बनावटी उपदेशों का उल्लेख किया गया था, उनके विषय में लोगों को अवगत कराया गया। फलस्वरूप लोगों ने उनके उपदेशों को अपनाया और एकमत होकर देश में उनके सिद्धांतों का प्रचार करने लगे। देश में जगह-जगह प्रार्थनासमाज, ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज जैसी संस्थाएं स्थापित होने लगीं। हिन्दू-धर्म की धार्मिक शिक्षा के आधार पर लोगों में सामाजिक बुराइयों तथा कुरीतियों को दूर करने का प्रचार किया जाने लगा। लोग जागृत होकर मानवता के उत्तरदायित्व के प्रति चौकस रहने लगे। वे लोग उनकी शिक्षा को ग्रहण करके समाज को बुराइयों और कुरीतियों से मुक्त करने के लिए तत्पर हुए। नये विचारों से जनसाधारण के जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। अछूतों को 'महाशय' के नाम से प्रतिष्ठित करके उन्हें गले लगाया ताकि उनमें हीनता की भावना न रहे। उस समय ऐसा दिखाई दे रहा था कि शताब्दियों पुरानी रूढ़ियों, कुप्रथाओं और घिसी-पिटी स्वार्थमयी रीतियों की परत शीघ्र ही इस सामाजिक क्रांति की धधकती ज्वाला में भस्मी-भूत होकर रह जाएगी और समाज वसंत ऋतु के आगमन की तरह नये और शुद्ध राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के प्रति जागृत होकर देश में स्वार्थ से परिपूर्ण बुराइयों को दूर करने के लिए अग्रसर होगा। मगर आज उनके असंख्य अनुयायी अपने उन आदर्शों के प्रचार के लिए क्या कर रहे हैं? जो भारतीय सभ्यता और धर्म के प्रवर्तक होने का दम भरते थे, वे अपने गुरुओं की शिक्षाओं को अपने कार्यालयों की चारदीवारी तक सीमित रखकर बैठ गए। उनकी जो शिक्षा मानव-कल्याण के लिए थी, वे उससे विमुख होकर पदाधिकार के संघर्ष में उलझकर रह गए हैं। अब आज उनके पास अपने गुरु स्वामी दयानन्द सरस्वती के आदर्श का प्रचार करने का समय ही नहीं है। लाखों अनुयायी होने पर भी आज उनके किसी कार्य का महत्त्व नहीं रह गया है। उनके उपदेशों में अब कोई प्रभाव नहीं रहा। आज उनमें उतनी तड़प तथा तत्परता नहीं है, जितनी उनके गुरुओं के जीवनकाल में थी। आज भी उनके अनुयायी छुआछूत तथा कई तरह की रूढ़िवादी रीतियों के पाश में बुरी तरह फंसे हुए हैं। छुआछूत की बीमारी और

समाज की दूसरी बुराइयों को दूर करना स्वामी दयानन्द का प्रमुख उद्देश्य था, मगर आज उनके लाखों अनुयायी हैं और वे अब तक कुछ भी नहीं कर पाए। खोज करने पर ज्ञात होता है कि इनकी करनी और कथनी तथा मन और वचन में अन्तर होने के कारण उनकी कृत्रिम जीवनचर्या का प्रदर्शन लोगों को प्रभावित नहीं कर सका। वे सत्ता हथियाने के संघर्ष में अपने आदर्श को विस्मृत कर बैठे।

जब हम महात्मा गांधी के युग की ओर आते हैं, तो ज्ञात होता है कि गांधी जी के स्वतंत्रता-संग्राम और स्वदेशी आन्दोलन ने लोगों में एक नई जागृति पैदा की थी। ग्रामोद्योग और हरिजनों के रचनात्मक कार्य से जन-साधारण बहुत ही प्रभावित हुआ था। लोग उनकी देशभक्ति की लहर से अछूते नहीं रहे। स्वदेशी के प्रचार ने उनमें आत्मिक शक्ति पैदा की। उनके नेतृत्व में पूरे अनुशासन के साथ लोगों ने अंग्रेज सरकार से अहिंसक अभियान द्वारा स्वतंत्रता के लिए राजनैतिक संघर्ष किया और सफलता प्राप्त की। उनकी आध्यात्मिक शक्ति, त्याग और तपस्या से प्रभावित होकर लोगों ने उनके रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाया। मगर आज लाखों की संख्या में उनके अनुयायी ऐसे हैं, जो उनके ट्रस्टी बनकर उनके अधूरे काम को पूरा करने का दम भरते हैं। महात्मा गांधी के काम को पूरा करने के लिए कई अर्ध-सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाएं सरकार से करोड़ों रुपयों की आर्थिक सहायता प्राप्त कर देश में काम कर रही हैं, मगर इस पर भी आज उनका कोई भी प्रोग्राम सर्वसाधारण में लोकप्रिय नहीं हो सका। आज भी देश में छूतछात की प्रथा ज्यों की त्यों बनी हुई है, जो हिन्दू-समाज के लिए लज्जाजनक बात है। इस असफलता के क्या कारण हैं ? संसार के लोग हमारा मजाक उड़ाते हैं कि निरन्तर कई वर्षों के अकथनीय प्रयत्न तथा गांधीजी के असंख्य अनुयायी होने पर भी हिन्दू-समाज से अस्पृश्यता के अभिशाप को दूर नहीं किया जा सका। जिस समाज की सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म प्रेम और भ्रातृत्व से मानसिक परिवर्तन का मार्ग दिखाते हैं, वहां कानून के डंडे से सुधार के कार्यक्रम चलाने का क्या कारण है ? यह सब खेदजनक है।

बड़े-बड़े संत-महात्माओं, गुरुओं और समाज-सुधारकों के काम को आजीवन अजर-अमर रखने और उनके अधूरे काम को पूरा करने के लिए बड़े-बड़े मठ स्थापित किए जाते हैं। सामाजिक संस्थाएं संगठित की जाती हैं और विशाल सार्वजनिक सभाओं और समारोहों का आयोजन किया जाता है। इन कार्यक्रमों के लिए करोड़ों रुपयों के अनुदान दिये जाते हैं। इस शिक्षा के प्रसार हेतु लाखों लोग काम करते हैं। मगर खेद है कि यह सब होने पर भी कोई सन्तोषजनक फल प्राप्त नहीं हुआ और न लोगों में वैसी जागृति पैदा हो सकी जो उन सन्त-महात्माओं ने पैदा की थी। इसका रहस्य क्या है ? फिर हम देखते हैं कि देश की भटकती मानवता और चारों ओर से स्वार्थ से पीड़ित लोगों की हाहाकार सुनकर

महात्मा गांधी के श्रद्धास्पद परम शिष्य आचार्य विनोबा भावे अपने आश्रम पवनार—वर्धा से बाहर निकले। उन्होंने भूख-प्यास, आर्थिक और सामाजिक विषमता तथा पक्षपात के अमानवीय व्यवहार से त्रस्त भूमिहीन लोगों को देखकर, देश में पैदल घूमकर सर्वोदय का प्रचार किया। प्रकाश, वायु और पानी पर जिस प्रकार बिना भेदभाव सबका अधिकार है, उसी प्रकार भूमि पर भी खेती के लिए सबका समान अधिकार है। उन्होंने देश को यह नारा दिया। अपने इन विचारों को लोकप्रिय बनाने के लिए विनोबाजी ने देश में कई वर्ष तक निरन्तर पैदल यात्राएं कीं। गांवों में घूमकर लोगों को अपना सन्देश दिया। इस सर्वोदय आन्दोलन ने लोगों में भूदान, ग्रामदान और सम्पत्तिदान के विचार जागृत किए। लोगों का प्रेम तथा परस्पर भ्रातृत्व-भाव द्वारा हृदय परिवर्तन करने का भरसक प्रयत्न किया ताकि भूख-प्यास से तड़पती हुई भूमिहीन जनता किसी प्रकार स्वार्थी लोगों के चंगुल से मुक्त हो सके। यदि अकेले विनोबा देश में नये विचारों की क्रांति पैदा कर सकते हैं तो जो उनके सक्रिय अनुयायियों के रूप में काम कर रहे सहस्त्रों विनोबा सामाजिक आन्दोलन के लिए जनसाधारण में लोकप्रिय क्यों नहीं हो सके? यह हमारे सामने एक गम्भीर प्रश्न है। आज भले ही लाखों अनुयायी अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं, मगर उन्हें कितनी सफलता मिली है और क्या प्रगति हुई है, यह सर्वविदित है।

आज हमारे देश में सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर कई कल्याण-कार्य हो रहे हैं। सरकार ने अपनी राष्ट्रीय नीति प्रजातंत्र के आधार पर सर्वहितकारी और कल्याणकारी घोषित की है। उसके अनुसार हर पंचवर्षीय योजना में करोड़ों रुपयों की धनराशि इन्हीं कार्यक्रमों के लिए सुरक्षित रखी जाती है। सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर रचनात्मक कार्यक्रमों, योजनाओं और परियोजनाओं को क्रियान्वित करने और हर सामाजिक बुराई को दूर करने के लिए पूरी तत्परता से प्रयत्न किया जा रहा है। बड़े-बड़े सम्मेलनों, सभाओं, प्रशिक्षण-शिविरों और उच्चस्तरीय बैठकों में प्रायः यह सुनने में आता है कि इन कामों में उन्हें जैसा चाहिए था, उसके अनुसार सफलता नहीं मिली। यहां तक कि संसद में जब सरकार से इस प्रश्न पर पूछा जाता है, तो वहां भी अपनी असफलता को स्वीकार करते हुए बताना पड़ता है कि इस कार्यक्रम में इन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। सरकार को यदि टीका-टिप्पणी का भय होता तो सामाजिक स्थिति में कुछ आशाजनक सुधार हो सकता था। मगर इस प्रजातंत्रीय सरकार में सभी कुछ चलता है। सरकार तो दस वर्ष की अवधि समाप्त होने पर अगले दस वर्ष के लिए और अवधि बढ़ाकर अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाती है। इस प्रकार अपने कार्यकाल के पूरा होने तक समस्या को इस नीति द्वारा दबा दिया जाता है। यह क्रम विगत चालीस वर्षों से चलता आ रहा है। मगर किसी को कोई चिन्ता नहीं है कि

इस धांधली से मुक्ति पाने के लिए कोई प्रभावशाली कदम उठाने की भी जरूरत है। यदि इस परिस्थिति का गम्भीर रूप से अध्ययन किया जाए तो कारणों का पता लगाना कठिन नहीं होगा।

देश को स्वतंत्र हुए अभी थोड़ा ही समय व्यतीत हुआ है, मगर निरन्तर कई शताब्दियों से परतंत्रता का जीवन व्यतीत करने से देश का नैतिक पतन हुआ है। राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और पारस्परिक भाईचारे की भावना समाप्त हो चुकी है। देश, जाति और समाज के प्रति लोगों का जो उत्तरदायित्व है, वे उसे आज भूल चुके हैं। समाज में व्यक्तिगत स्वार्थ ने मुख्य स्थान प्राप्त किया है। इसे प्राप्त करने के लिए देश का हर व्यक्ति प्रयत्नशील है। देश और जाति का भले ही कितना ह्रास क्यों न हो जाए, यह किसी गिनती में नहीं है। पहले उनका स्वार्थ पूरा होना चाहिए। वे इसी में देश और राष्ट्र का कल्याण समझते हैं। जिस स्थिति में आज हमारा प्रजातंत्र चल रहा है, उसका अंत कहां होगा, यह भविष्य के गर्भ में है। मगर आज यह विश्वास पुष्ट हो रहा है कि इन कल्याणकारी कामों के लिए सरकारी शक्ति का प्रयोग उपयोगी है और इस तथाकथित देश-सेवा के पीछे स्वार्थ है। मत-पत्रों द्वारा राजनैतिक शक्ति हथियाने की चिन्ता में समाज-सेवा करने के नाम पर लोगों को कई तरह के आश्वासन देकर उन्हें विचलित किया जाता है। सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में अपने व्यक्तित्व में निरन्तर निखार लाने की चिन्ता में उनकी सारी शक्ति लगती है, मगर आज राष्ट्र को पूरी तरह निष्काम सेवा की आवश्यकता है। जिस समाज-सेवा में थोड़ा-सा भी स्वार्थ है, वह तो एक कारोबार है। यदि कोई समाज-सुधारक या कोई देश-सेवक किसी बुराई के विरुद्ध प्रचार करता है तो पाया जाता है कि वह स्वयं भी उस बुराई से मुक्त नहीं है, तब उसके उपदेशों और प्रवचनों का लोगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? यह तो केवल समय और रुपयों का दुरुपयोग है। ग्रामोद्योगी संस्थाओं में काम करने वाले अधिकारी और कार्यकर्ता ही जब पूरी लगन, विश्वास और निष्ठा से उस विचारधारा को व्यावहारिक जीवन में नहीं अपनाते, केवल पोशाक की भांति पहनकर प्रचार करने का प्रदर्शन करते हैं, उनके मन में जब खादी के प्रति प्रेम नहीं है, तब भला इस प्रचार के लिए कितना भी आन्दोलन क्यों न किया जाए, कोई लाभ नहीं होगा। यही बात छूतछात दूर करने के कार्यक्रमों पर भी लागू होती है। जिनका जीवन और नैतिक चरित्र क्रियात्मक रूप से सात्त्विक न होकर 'कथनी और करनी' में भिन्न होता है, जिनके विचारों में हिंसा, ईर्ष्या, घृणा, तुच्छता और ऊंच-नीच का जहर भरा होता है, वे क्या कभी समाज-कल्याण के कामों में सफल हो सकते हैं ? उनके हजार प्रयत्न करने पर भी अस्पृश्यता की जड़ें उखड़ने वाली नहीं। वास्तव में इनमें अपने उद्देश्य और लक्ष्य को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा और तड़प नहीं है। ये लोग राष्ट्र और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को

नहीं समझते। उनका जो कुछ भी प्रदर्शन दिखाई देता है, वह सब बनावटी है। आज रचनात्मक कार्य करने की आवश्यकता है। स्वार्थहीन और निष्काम सेवा की आवश्यकता है।

इन अधूरे रचनात्मक कामों को पूरा करने के लिए निष्काम और निःस्वार्थ भाव से कार्य करने के लिए कार्यकर्ता क्यों नहीं मिलते ? कल्याणकारी योजना को सही ढंग से कार्यान्वित न करने से सफलता का प्राप्त न होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। इसके अतिरिक्त योग्यता का स्तर न होने और अनुभवहीन कार्यकर्ता के लिए समाज-सेवा के उत्तरदायित्व को न सम्भाल सकना भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। कार्यकर्ता को भरपेट वेतन न देकर, उसका शोषण कर, उससे पूरा काम लेने की आशा करना एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है। उसकी घरेलू परेशानियों और चिन्ताओं के विषय में निराशा तथा उसके भविष्य को अस्थायी बनाए रखना भी एक और कारण हैं। प्रायः यह देखा गया है कि एक सैनिक से पूरा काम लेने के लिए उसके अधिकारी उसकी घरेलू और पारिवारिक परेशानियों को दूर करने में उसकी पूरी सहायता करते हैं। अवकाश ग्रहण करने की अवस्था में उसकी सहायता की जाती है, क्योंकि वे समझते हैं कि वे अपने सैनिक से तभी पूरा काम ले सकते हैं जब वह अपनी परेशानियों से मुक्त होगा। मगर दूसरी ओर समाज में काम करने वाले कार्यकर्ता का जो शोषण हो रहा है, उससे निःस्वार्थ और निष्काम भाव से काम होना कठिन है। यह कहना कि देश में राष्ट्रीय भावनाओं वाले निष्ठावान् समाज-सेवक कार्यकर्ताओं की कमी है, गलत है। मगर इस देश में ऐसे कार्यकर्त्ता अवैतनिक तौर से या साधारण भत्ते पर मिलने कठिन हैं। समाज-कल्याण के आन्दोलन को सफल बनाने के लिए आज प्रेम और भाईचारे के व्यवहार से हृदय जीतने की आवश्यकता है। कानून की शक्ति से भय और आतंक पैदा करके सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। यदि सरकारी शक्ति के द्वारा देश के कल्याण और प्रगति की आशा की जाए, तो यह उनका स्वप्न होगा। अतः पारस्परिक प्रेम और भाईचारे के रचनात्मक प्रोग्रामों को पूरा करने के लिए कर्त्तव्यों का उत्तरदायित्व समझने वाले निष्ठावान् एवं प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है।

11

विचारों का टकराव

धर्म के नाम पर विचारों के टकराव के कारण हिन्दू-समाज में अस्पृश्यता को बनाए रखने हेतु स्वार्थी ब्राह्मणों ने तथाकथित अनुसूचित जाति के लोगों को अपने स्वार्थ का शिकार बनाया। उनके साथ बर्बरता के जो व्यवहार किए गए, उन्हें इतिहास से मिटाया नहीं जा सकता। उन पर किए जाने वाले पाशविक अत्याचारों का यह क्रम अब तक जारी है। उन सब घटनाओं पर उदाहरण के रूप में कुछ प्रकाश डाला गया है कि उन वर्गों में परस्पर रक्तरंजित संघर्ष हुए और एक-दूसरे को समाप्त करने के लिए प्रयास किए गए। मगर इन कुप्रयासों के बावजूद उनकी पीढ़ी समाप्त नहीं हुई। अमानुषिकता, अत्याचार और पाशविक यातनाओं की लम्बी गतिविधियों के होते हुए भी उन रूढ़िवादी स्वार्थी लोगों के विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जब मानव इतिहास का अध्ययन किया जाता है, तो मालूम होता है कि देश में भिन्न विचार रखने वाले वर्ग के लोगों को अपने अनुकूल बनाने हेतु रक्तरंजित क्रान्तियां हुई हैं। एक वर्ग ने दूसरे को अपने प्रभाव में लाने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार अत्याचार किए। उनका प्रजनन तक समाप्त करने का प्रयास किया गया। मगर इतने अत्याचार, बर्बरता, हिंसा और नृशंस यातनाओं से भी उनकी नसल समाप्त नहीं की जा सकी।

प्राचीन समय में भारत के मूल निवासियों असुर तथा नाग आदि जातियों को जब आर्य लोगों ने शासित किया, तब उन्हें अपने अधीन करने के लिए कई तरह के हिंसक संघर्ष किए। वे आक्रमणकारी प्रायः पाशविक और हिंस्र स्वभाव के थे। उनका चरित्र मानवता के गुणों से रहित था और वे सभ्यता के उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ थे। उन्होंने अपनी बर्बरता के बल पर अपने अधीनस्थ क्षेत्रों को अपनी विचारधारा का केन्द्र बनाया और अपने इस मनोरथ में सफलता प्राप्त करने हेतु हिंसा का सहारा लिया। भारत के मूल निवासियों की आस्थाएं, विश्वास, परम्पराएं और सभ्यता आर्य लोगों से भिन्न थीं। वे व्यर्थ के आडम्बरों और

पाखण्डों से दूर थे। वे यज्ञ आदि में पशुबलि के विरोधी थे। वे किसी प्रकार के तामसिक भोजन, मांस और मदिरा के प्रयोग को अच्छा नहीं समझते थे। मगर दूसरी ओर ये आर्य लोग इन सब बातों के रसिया थे। पुरानी घटनाओं से ज्ञात होता है कि अजीर्गत नाम के एक ऋषि ने अपने लड़के शुन:शेष को आहुति देने के लिए उसे बेच डाला था और मोरध्वज ने अपने लड़के को आरी से काटकर तथा-कथित प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। इस प्रकार के पाशविक रीति-रिवाजों में जकड़े हुए वे अपनी-अपनी मन्नत के अनुसार नवजात बच्चों को नदी की लहरों में फेंक देते थे। वे ऐसा करने में सुख अनुभव करते थे। लड़कियों को मन्दिरों के देवी-देवताओं की भेंटें चढ़ाकर उन्हें देवदासी बनाया जाता था। इससे समाज में पापाचार खूब जोर से फैला। अबोध बच्चों को साधु-सन्तों को भेंट कर देना बड़ा पुण्य समझा जाता था। यह सब पाप धर्म के नाम पर हुआ करते थे, जिनका आज भी देश में कहीं-कहीं रिवाज देखने को मिलता है। इस वैचारिक और स्वभावगत भिन्नता के कारण वे एक-दूसरे को अपने विचारों से प्रभावित करने के लिए एक भयानक संघर्ष में उलझ गए।

आर्य लोग सशक्त थे। वे बाहुबल और शक्ति के उपासक थे। उनके दृष्टिकोण से उक्त जातियों के लोग असभ्य और मानव-गुणों से रहित थे। वे इन लोगों को एक अपराधी की भांति समझते थे, क्योंकि वे मदिरापान करने और मांस से घृणा करते थे। यज्ञ द्वारा आग की पूजा करना और उसमें मानव और पशुओं की बलि देना उन मूल निवासी लोगों को पसंद नहीं था। इन आर्य लोगों ने उनकी इस सात्त्विक जीवनचर्या को नहीं अपनाया, उलटा उसका विरोध किया। विचारों की इस वैमनस्यता से जो रक्तपात हुआ, उन गाथाओं का विवरण देव-असुर संग्राम के नाम से वेदों और पुराणों में मिलता है। श्री के० एम० मुन्शी ने लिखा है—आर्यों के इतिहास से यह जानकारी मिलती है कि भारत के मूल निवासियों को अधीन करने के बाद यह समस्या पैदा हुई कि समाज में इन्हें कौन-सा स्थान दिया जाए। यदि इनका वध कर दिया जाए तो फिर उनकी सेवा कौन करेगा? यदि उन्हें जीवित रहने दिया जाए तो समाज में इनका स्थान क्या होना चाहिए? इन विचारों की कल्पना में वसिष्ठ और विश्वामित्र में जो विरोध पैदा हुआ, उसका भी यही कारण था। वसिष्ठ रक्तपात में विश्वास रखते थे और विश्वामित्र उन्हें आर्य बनाने के पक्ष में थे। इस प्रश्न पर गम्भीर संघर्ष हुए।[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्य लोगों ने असुरों, दस्युओं और नागों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने अधीन किया। विजयी आर्य उनकी सभ्यता, गुणों, रीति-रिवाजों तथा प्रथाओं से प्रभावित हुए। इन आर्यों की कुछ जातियां उनके

1. सरिता, रामलाल बंसल, फरवरी, 1954।

गुणों से प्रभावित हुईं और उनके अच्छे और सभ्य रीति-रिवाज को अपने दैनिक जीवन में ग्रहण करने का प्रयास किया। फलस्वरूप यज्ञ में मनुष्य और पशुओं की बलि देने का विरोध होने लगा। मगर जिन मूल निवासी लोगों ने, जिन्हें आर्य लोग अनार्य कहकर सम्बोधित करते थे, उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की, उन्हें जीवित जला दिया जाता था। उन्हें अस्पृश्य कहकर उन पर नाना प्रकार के पाशविक अत्याचार किए जाते थे। तथाकथित शूद्रों के पूजा-पाठ करने पर उनकी गर्दन कंद-मूल की तरह काट दी जाती थी। यदि कोई मूल निवासी होशियार, बुद्धिमान और गुणसम्पन्न होता तो उसके हाथ का अंगूठा काट दिया जाता ताकि वह अपने कला-कौशल में उन्नति न कर सके। हिरण्यकश्यप, बलि और रावण आदि मूल निवासी अनार्यों के साथ जो अभद्र व्यवहार हुआ और जो उन पर अत्याचार हुए, उन सबकी गाथाएं धार्मिक ग्रंथों और पुराणों में भरी पड़ी हैं।[1] इस प्रकार की मनोवृत्ति होने के बावजूद वे समाज के अगुआ होने का दम भरते रहे। राम और रावण का युद्ध भी इस साम्प्रदायिकता की एक कड़ी थी, जिन्होंने मानव-रक्त की नदियां बहा और आबादी से भरे शहरों को उजाड़कर रावण को अपनी अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया।

आर्य-सभ्यता पहले प्राचीन समय में केवल पंजाब और सिंधु तक सीमित थी। संग्रामों में विजय प्राप्त होने पर इन आर्यों की प्रभुसत्ता का क्षेत्र विस्तृत होता चला गया। देश के पूर्वी भाग अर्थात् उत्तरप्रदेश और बिहार आदि क्षेत्रों को अपने अधीन कर लेते के उपरान्त वे दक्षिण की ओर अग्रसर हुए। विदर्भ के विशाल क्षेत्र पर अपनी सत्ता का झण्डा फहराने के बाद वे और आगे बढ़ते गए। एक दिन ऐसा आया जब रामेश्वरम् तक सारे का सारा दक्षिणी भाग उनकी सत्ता से कांपने लगा। उस आर्य सभ्यता के फैलने के पीछे ब्राह्मण-बुद्धि थी। यह उनकी चतुरता या कुशलता थी कि उत्तर से पूर्व और पूर्व से दक्षिण तक लोग इस सभ्यता का गुणगान करने लगे। जैसे कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, ब्राह्मणों की मनोवृत्ति विस्तारवाद की थी। उन्होंने बड़ी चतुरता से हिंसक साधनों और धर्म की आड़ लेकर अपनी सत्ता का विस्तार किया। समाज में असमानता पैदा की और नाना प्रकार के शोषणों द्वारा उन पर अपना अधिकार जमाया। अपनी प्रभुसत्ता के स्थायी हो जाने पर मूल निवासी लोगों को अपने स्थान से दूर फेंक दिया गया। यह बात नहीं कि इनको अपना अधिकार फैलाने में कोई बाधा नहीं आई थी या इन्हें परेशानियों का सामना नहीं करना पड़ा था। अपना आधिपत्य जमाने और उन मूल निवासियों को बाहर धकेलने हेतु इन ब्राह्मणों को काफी कष्ट सहने पड़े थे। इस क्रम में केरल के नायरों ने, मैसूर और आन्ध्र के रेड्डियों ने, तमिलनाडु

---

1. सरिता, सत्य भक्त, अगस्त, 1954।

के चेट्टी और वैपलालों ने तब तक इन ब्राह्मणों का डटकर मुकाबला किया, जब तक उनकी शक्ति क्षीण न हुई। इस पर भी रेड्डियों और विपलों ने ब्राह्मणों का भरपूर विरोध करते हुए उनके उपदेशों और अध्यादेशों को मानने से इंकार कर दिया। उन्होंने अंत तक उनको अपना धर्मगुरु न मानकर उनके आगे अपना सिर नहीं झुकाया। इसी प्रकार केरल के नायरों ने नम्बूदरियों के आगे झुकने से इंकार किया। यह देखकर कि किसी प्रकार से भी ये लोग इनका नेतृत्व स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं, वे और तो कुछ न कर सके, उन्होंने इन मूल निवासी लोगों का सामाजिक बहिष्कार करने की घोषणा की और उन्हें अस्पृश्य घोषित कर दिया गया, जिसके दुष्परिणाम आज हिन्दू-समाज के सामने हैं। इस प्रकार उन ब्राह्मणों ने हिंसा की तलवार के बल पर बहुत बड़ा जन-समुदाय अस्पृश्य बनाकर रख दिया। भरसक प्रयत्न करने पर भी हजारों वर्षों के वाद आज भी हिन्दू-समाज में भयानक अभिशाप बनकर यह सामने खड़ा है। उक्त समाज में यह संक्रामक रोग की तरह इतना फैल चुका है कि हजार प्रयत्न करने पर भी इस पर काबू पाना कठिन हो रहा है। बुराई सदैव रहने वाली नहीं है। अंत में अच्छाई और सत्य ही की विजय होगी, जहां मानवता को सम्मान मिलेगा।

'मनुस्मृति' के अनुसार ब्राह्मण जन्म लेते ही इस पृथ्वी के सब प्राणियों से श्रेष्ठ है। वह सबकी आत्मा और धर्म का संरक्षक है। इस संसार में जो कुछ भी धन-दौलत है, वह सब उसकी अपनी है। अपने जन्म के कारण ब्राह्मण संसार की सब धन-दौलत और सम्पत्ति को प्राप्त करने के योग्य है। ब्राह्मण यदि दूसरे का अन्न खाता है या दूसरे का वस्त्र पहनता है या दूसरे का धन लेकर किसी और को देता है तो उचित ही है, क्योंकि दूसरे सब प्राणी ब्राह्मणों की कृपा से ही अपना पेट भरते हैं। इस विचारधारा के अंतर्गत हिन्दू-समाज का जात-पांत के आधार पर जो बंटवारा हुआ, वह अभिशाप आज तक समाप्त नहीं हो सका। जिस उद्देश्य से इस समाज का विभाजन हुआ था, वह आज नहीं रहा। इसके गम्भीर परिणामों ने हिन्दू-समाज को भीतर-ही-भीतर खोखला किया है और सैकड़ों टुकड़ों में कट-कर झूठी उच्चता के अभिमान के कारण विखरकर रह गया है। जात-पांत के नाम पर हिन्दू-समाज में हजारों दीवारें खड़ी कर एक-दूसरे का स्पर्श, परस्पर खान-पान सब बंद हुआ। इस प्रकार समाज के एक बहुत बड़े भाग का यह अनैतिक और स्वार्थपरक बहिष्कार हिन्दू-धर्म का एक आवश्यक अंग बन गया। रूढ़ि-वादिता का इतना प्रभुत्व बढ़ा और अंधविश्वास इतने दृढ़ हो गए कि ब्राह्मणों को भोजन कराना पुण्य समझा जाने लगा। ब्राह्मणों की जीविका के लिए सब तरह के अंधविश्वास जान-बूझकर जोड़े गए। इन प्रथाओं ने मनुष्य के विवेक को ही समाप्त कर दिया और आज समय बदल जाने पर भी यह लूटमार और ठगी अभी तक प्रचलित है।

इन ब्राह्मणों ने अवतारवाद के आडम्बर से भी बहुत लूट-खसूट की। उन्हें ईश्वरतुल्य समझकर उनकी पूजा की जाने लगी। यह कितनी हास्यास्पद बात थी कि वह ईश्वर जिसकी शक्ति से सारा संसार चलता है, जिसके नियम से चांद, सितारे और पृथ्वी सूर्य का चक्कर काटते हैं, जिसने संसार को किसी अकाट्य नियम में बांध रखा है, इसका मुकाबला मानव ने अवतारवाद के नाम पर कर सर्वसाधारण को विमुख किया। जिनका अपना चरित्र त्रुटियों से भरपूर था, वे ईश्वर का मुकाबला करके लोगों को ठगने लगे। फलतः समाज की इकाई बिखरने लगी। अस्पृश्यता ने जन्म लिया। स्त्री-जाति को निकृष्ट और हीन समझा जाने लगा। परस्पर विचारों की भिन्नता होने के कारण गम्भीर संघर्ष आरम्भ हुए। मगर उनकी समझ में यह बात नहीं आई कि इतना जनसंहार और रक्तपात करने पर भी मनुष्य के विचारों को आसानी से बदला नहीं जा सकता। यहां तक कि मूल निवासी लोगों के साथ आर्य लोगों के ये संघर्ष भी उन्हें अनुयायी न बना सके। इस हिंसा, पशुता तथा बर्बरता के बावजूद ये आर्य उन मूल निवासी लोगों को अपने अधीन न कर सके। इसी प्रकार ब्राह्मणवाद के शैव-मत के रक्तरंजित संघर्ष भी जैन-मत और बौद्ध-मत पर विजय प्राप्त न कर सके। विदेशी आक्रमणकारी जब देश में दाखिल हुए, तो उनके विचार, सभ्यता, संस्कृति और दृष्टिकोण में भिन्नता होने के कारण, परस्पर कई संघर्ष आरम्भ हुए और बहुत निर्दयता से मार-काट कर एक-दूसरे को समाप्त करने का प्रयत्न करने लगे। उनके भी पारस्परिक विचार एक-दूसरे से पृथक् थे, जिस कारण ये संघर्ष हुए। इस पर भी वे अपने उद्देश्य में सफल न हो सके। पाखंड से भ्रम को स्थायी नहीं बनाया जा सकता। अस्पृश्यता, जिसे हिन्दू-धर्म के साथ जोड़कर इसका एक अंग बनाने का प्रयास किया गया, का आधार न होने पर सदैव रहने वाली नहीं है। इसी कारण निरन्तर विगत कई शताब्दियों से इस कुप्रथा और बुराई को दूर करने के प्रयास जारी हैं। इस प्रकार की स्थिति अरब देशों के प्राचीन इतिहास के अध्ययन से भी ज्ञात होती है, जिसका यहां वर्णन करना अनावश्यक प्रतीत नहीं होता।

इस्लाम से पूर्व अरब देश की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन-व्यवस्था अत्यन्त भ्रष्ट, दयनीय एवं शोचनीय थी। उस समय अरब लोग सैकड़ों छोटे-छोटे वर्गों और जातियों में विभक्त थे। वे अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम और देश-भक्ति की भावनाओं से अनभिज्ञ थे। राष्ट्रीय एकता और देश की उन्नति के विषय में सोचना उनकी विवेकशक्ति के बाहर की बात थी। हर वर्ग पृथक्-पृथक् अपने तथाकथित खानदानी अभिमान और मिथ्या अहंकार में डूबा हुआ था। हर कोई अपने को दूसरे से उच्च खानदान का समझता था। वे इस विडम्बना में एक-दूसरे से आगे दौड़ लगाने में प्रायः परस्पर संघर्ष करते रहते थे। इस प्रकार देश की एक इकाई न होने से सभी अपने-अपने वर्गगत स्वार्थों के अनुसार जीवन व्यतीत

करते थे। उन्हें एक लड़ी में बांधने वाला कोई नहीं था। वास्तव में उस समय अरब देश व्यर्थ का युद्धस्थल बना हुआ था। एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों के रक्त के प्यासे थे। वे लोग खेती-बाड़ी या मेहनत-मजदूरी करके अपना जीवन-निर्वाह करना पसंद नहीं करते थे। लूट-मार कर अपना निर्वाह करना उनका धन्धा बन चुका था। वे लूट-मार को बुरा नहीं समझते थे। अपने परिवार के एक-एक सदस्य के कत्ल का बदला और बदले का बदला लेने का यह क्रम कई पीढ़ियों तक जारी रहता था। लूट-मार, हिंसक, नृशंस अत्याचार, डाके और नरसंहार उनकी दिनचर्या थी। विरोधी वर्ग की स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण करना हर वर्ग के लोग अपना अधिकार समझते थे। दूसरों को पशुओं की तरह गुलाम बनाकर अपने अधीन करके उनका क्रय-विक्रय करना उस समय एक साधारण बात थी। इनके साथ जो व्यवहार होता था, उस विषय में केवल इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि किसी अधीनस्थ गुलाम को मार डालने का कोई दंड नहीं था। हर वर्ग का मुखिया जो अपने वर्ग का अगुआ होता था, वह जो निर्णय करता था, वह सब उनके अपने दृष्टिकोण के अनुसार होते थे। गोया कि उस समय किसी प्रकार का शासन और न्यायालय अरब देश में नहीं था। जहालत का अंधेरा इतना था कि वे लोग लड़की का पिता होना अपमान समझते थे। इस तथाकथित अपमान से बचने के लिए वे लड़की को पैदा होते ही मार देते थे। उन्होंने यह रीति बना रखी थी कि बच्चा पैदा होते ही उसकी माता के समीप एक गढ़ा तैयार कर लेते थे। यदि लड़की पैदा होती तो उसी समय उक्त गढ़े में उसे दबा दिया जाता था। निर्दयता की यह अवस्था थी कि यदि किसी कारण लड़की गड्ढ़े में दबाई न जा सकी, तो बड़ी होने पर उसे जीवित ही दबा दिया जाता था। नैतिक पतन, भ्रष्टाचार, पापाचार, मद्यपान और जुआ जैसी बुराइयों की कोई सीमा नहीं थी। यहां तक कि ईश्वर क्या होता है, उन्हें यह मालूम नहीं था। पिछड़े और असभ्य होने के कारण वे वृक्षों, सितारों और अन्य कई प्रकार की रूढ़िवादी प्रथाओं के अनुसार अपने रीति-रिवाजों से पूजा करते थे। हर वर्ग का अपना-अपना एक पृथक् ईश्वर होता था। उसका नाम भी पृथक्-पृथक् ही होता था। अपने ढंग से लकड़ी, पत्थर, पीतल और ताम्बे में मनुष्य, पशु और काल्पनिक मूर्तियां बनाकर उनकी पूजा करते थे। यहां तक कि काबा में जो हजारों वर्ष पहले से अरबों का एक पवित्र स्थान था, जहां 360 बुत थे, वहां उन बुतों के सामने न केवल पशुओं की, बल्कि मनुष्यों की भी बलि दी जाती थी। तात्पर्य यह है कि मूर्तिपूजा और अंधविश्वास उस समय अरब लोगों के धर्म का अंग थे। जहालत की यह अवस्था थी कि जब इन वर्गों में परस्पर संघर्ष होते थे, तो यह उनके देवताओं के भी संग्राम समझे जाते थे। मनुष्यों की तरह उन देवताओं को भी बंदी बना लिया जाता था। यह एक स्वाभाविक बात है कि जिस जाति में किसी तरह की एकता न हो और जो

कई वर्गों में विभक्त हो, वहां राजनैतिक स्थिरता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। यहां तक कि मक्का में जो लोग यात्रा के लिए आते थे, उनकी सुरक्षा का कोई प्रबंध नहीं था। उनकी सम्पत्ति और धन-दौलत लूट ली जाती थी। यहां तक कि उनकी स्त्रियां और बच्चे तक छीन लिए जाते थे। कोई पूछने वाला नहीं था, न कोई ऐसा न्यायालय और अधिकारी ही था जहां वे उन अत्याचारों के विरोध में फरियाद कर सकते जहां न्याय प्राप्त किया जाता। चारों ओर अराजकता और लूट-मार का बाजार गर्म था। देश की इस प्रकार की दयनीय स्थिति देखकर हजरत मोहम्मद साहिब ने एक समिति का गठन किया जिसका हर सदस्य यह व्रत लेता था कि वह सब दुखियों और पीड़ित यात्रियों की हर प्रकार से सहायता करेगा। उनके मानव-कल्याण के इस कार्य का श्रीगणेश यहां से आरम्भ हुआ।

हिन्दू-दर्शन के अनुसार जब पाप, बुराइयां तथा अनाचार समाज में बढ़ जाते हैं, तब उन अत्याचारों को समाप्त करने के लिए ईश्वर मनुष्य-रूप में धर्म की रक्षा के लिए जन्म लेता है और समाज को पवित्र बनाने के लिए पाप, अनाचार और बुराइयों को समाप्त करता है। इसी प्रकार जब अरब जहालत के अंधकार और पापाचार के सागर में डूब चुका था, तो उस देश के संरक्षण और भटकते लोगों को सुमार्ग पर लाने हेतु इस्लाम के पैगम्बर मोहम्मद साहिब का जन्म हुआ। दुर्भाग्यवश जन्म से पूर्व ही वे अपने पिता के साये से वंचित हो चुके थे। घर की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। वे अभी छ: वर्ष के ही थे कि उनकी माता इस संसार से विदा हो गई। दादा अब्दुल्ला तलब ने उनका पालन-पोषण किया। जब वे नौ वर्ष के हुए तो दादा भी चल बसे। वयस्क होने पर मोहम्मद साहिब आसपास की पहाड़ियों पर बकरियां चराने जाया करते थे। बड़े होने पर उन्होंने अपने चाचा के साथ कारोबार शुरू किया।

उन्होंने देखा कि रूढ़िवादी परम्पराओं के अनुसार एक उत्सव में किसी एक वर्ग के एक भाट ने दूसरे वर्ग पर अपने कुल की प्रशंसा और यशोगान की सुर बांधी, तो दोनों वर्गों में तुरंत संघर्ष छिड़ गया। वे दो भागों में विभक्त हो गए। दस वर्ष तक ये संघर्ष होते रहे। निर्दयता से मानव-रक्त को बहता देखकर मोहम्मद साहिब कांप उठे। जब उन्होंने अरब का यह वीभत्स चित्र देखा, तो उनके जीवन में एक परिवर्तन आया। वास्तव में यही संघर्ष था, जिसने उनके जीवन में परिवर्तन पैदा किया। उन्होंने दु:खी और पीड़ित लोगों के लिए काम करना शुरू किया। वे अपने सुकृत्यों और स्पष्टवादिता से जन-कल्याण के काम करने के कारण लोकप्रिय होने लगे। इससे वे सम्मान की दृष्टि से देखे जाने लगे। उन्होंने कई वर्ष ईश्वर की तपस्या में व्यतीत किए। कई वर्षों की तपस्या के बाद उन्हें प्रकाश दिखाई दिया। उस समय उनकी आयु केवल चालीस वर्ष की थी। उस समय से लेकर उनका शेष सारा जीवन अपने देश और राष्ट्र के लिए समर्पित

हुआ। संसार के दूसरे धर्मों की तरह झूठ और दूसरी बुराइयों, अंधविश्वासों और रूढ़ियों तथा कुरीतियों के विरुद्ध इस्लाम के पैगम्बर मोहम्मद साहिब ने एक तीव्र आन्दोलन का सूत्रपात किया।

इस बीच रोम के सम्राट् ने घूस का लोभ देकर उसमान नाम के एक अरब ईसाई द्वारा मक्का पर अपना अधिकार जमाने का षड्यंत्र किया। मोहम्मद साहिब के प्रयास से उनका यह षड्यंत्र सफल न हो सका। इसके बाद जब उन्होंने ईरान के सम्राट् को इस्लाम ग्रहण करने का सन्देश भेजा, तो उन्होंने मक्का को अपने अधीन कर, वहां के लोगों को अपनी प्रजा कहकर, उनके सन्देश को बड़े अभिमान व अंहकार से ठुकरा दिया। तदनन्तर यही ईरान इस्लाम की लहर का मुकाबला न कर सका और उसे इस्लाम स्वीकार करना पड़ा। हजरत मोहम्मद की शिक्षा अरब लोगों के अंधविश्वास और स्वार्थ के विरुद्ध जाती थी। जिन सैकड़ों बुतों की पूजा से लोगों का, विशेषतः उस वर्ग का जिसमें इस्लाम के पैगम्बर का जन्म हुआ, जीवन-निर्वाह होता था, वे उनके प्रचार को भला कैसे सहन कर सकते थे। अपने वर्ग और मनुष्य के भविष्य के कल्याणार्थ सोचना और उनके लिए अपने और अपने कुल के लाभ की परवाह न करना हर किसी के लिए सम्भव न था। इस कारण उनका तीव्र विरोध होने लगा। उनके वर्ग के लोगों की ओर से उन्हें पीड़ा और परेशान करने के कई षड्यंत्र किए जाने लगे। उन पर अत्याचार किए जाने लगे। असभ्य व्यवहार द्वारा उन्हें तंग किया जाने लगा। जब भी वे मानव-कल्याण का प्रचार करते, उन्हें अभद्र गालियां दी जातीं। गुल-गपाड़ा से अशांति पैदा कर उन्हें बोलने न दिया जाता। यहां तक कि जब वे अपना उपदेश देने के लिए खड़े होते तो उन पर गंदगी और पशुओं की हड्डियां फेंकी जातीं और उन्हें घृणा से देखा जाता। पत्थर मार-मारकर जख्मी किया जाता। मगर उन्होंने सच्चाई का सुमार्ग नहीं छोड़ा। वे निराश नहीं हुए। निरन्तर तीन वर्ष प्रयत्न करने के बाद बड़ी कठिनता से कुछ लोगों ने उनके उपदेश को ग्रहण किया और उनके अनुयायी हुए। इससे पता चलता है कि एक ओर नाममात्र के कुछ अनुयायी थे और दूसरी ओर मक्का के असंख्य लोग जो उनको कई प्रकार के नृशंस अत्याचारों से परेशान करते थे और उनके प्रचार में कई तरह की बाधाएं पैदा करते थे, ताकि वे तंग होकर अपने विचारों का प्रचार करने का कार्य छोड़ दें। वे लोग इस्लाम पर विश्वास लाने वाले को अपने पाशविक अत्याचार की चक्की में पीसकर उसे हमेशा के लिए अशुद्ध शब्द की तरह समाप्त कर देते थे। इस तरह के कई उदाहरण इतिहास में मिलते हैं कि इस्लाम में विश्वास करने के दोष में अनुयायियों को अरब की तेज और बेहोश करने वाली धूप से तपती हुई रेत पर सीधा लिटाकर उनकी छाती पर भारी पत्थर रख दिया जाता था। उनको इस्लाम पर विश्वास न करने और अपने बुतों की पूर्ववत् पूजा करने के लिए तब तक विवश

किया जाता था, जब तक इस्लाम को छोड़ने का वचन नहीं दे देते। उन्हें निरन्तर यातनाएं दी जातीं। इस प्रकार प्रतिदिन के अत्याचार सहन करते-करते अंत में वे इस्लाम के नाम पर शहीद हो जाते थे। हजरत मोहम्मद साहिब का अनुयायी वायलान उन रूढ़िवादी लोगों के अमानुषिक अत्याचार का निशाना बना। अंत में उस पर दया कर उसे किसी दयावान ने खरीदकर छोड़ दिया। इसी प्रकार यासिर और उसकी स्त्री सिमिया को केवल बुत-पूजन छोड़कर ईश्वर की पूजा पर विश्वास करने के कारण बरछियां भोंक-भोंककर जान से मार डाला गया। उसके इमार नाम के निर्दोष लड़के को भी इसी तरह पीड़ा पहुंचाई गई ताकि वह इस्लाम पर विश्वास न करे। इतना अत्याचार जो बर्बरता की सीमा को भी पार कर जाता था। जो लोग मोहम्मद साहिब पर विश्वास करते थे, उन्हें शिकंजे में कसकर पूछा जाता था कि यदि वे इस पीड़ा से मुक्त होना चाहते हैं तो इस्लाम छोड़कर अपनी परम्परागत प्रथा के अनुसार मूर्ति-पूजा पर पुनः विश्वास का आश्वासन दें। मगर उनके दृढ़ निश्चय के सामने रूढ़िवादी आतताइयों के बर्बर अत्याचार भी शिथिल पड़ जाते थे। उन अनुयायी भक्तों का एक ही उत्तर होता था कि वे इस संसार को छोड़ देंगे, मगर इस्लाम को नहीं छोड़ेंगे। उनके शरीर का हर अंग एक-एक करके काटने के बाद भी यही प्रश्न पूछा जाता था, मगर उनका वही उत्तर होता था। उनका शरीर टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाता। मांस की एक-एक बोटी हड्डियों से पृथक् कर दी जाती। वे शहीद हो जाते मगर ईश्वर और उसके रसूल पर जमे विश्वास को वे उनके हृदय, बुद्धि और जवान से न मिटा सके। वहां कानून तो कोई था नहीं, जिसका किसी को भय होता। उन लोगों ने मोहम्मद साहिब को जान से मारने का षड्यंत्र किया। उनके भक्तों को जब पता चला, तो उन लोगों के विरोध की उत्तेजना देखकर उन्हें शहर से बाहर कहीं दूर चले जाने के लिए कहा गया। अराजकता के उस उफान को देखकर मोहम्मद साहिब मक्का छोड़कर हबश देश के बादशाह के पास चले गए। मगर वे लोग अपने अंधविश्वास में इतने मदांध थे कि उन्होंने उनका वहां भी पीछा किया और बादशाह को उन्हें वापस करने के लिए बाध्य किया। वे चूंकि उक्त बादशाह के शरणागत हो चुके थे, इसलिए वे उन्हें प्राप्त न कर सके।

इस्लाम के इतिहास में यह घटना भी महत्त्वपूर्ण है कि मोहम्मद साहिब के कुल का एक नवयुवक अपने वर्ग की ओर से खंजर लेकर उन्हें मारने के लिए तत्पर हुआ। इस बीच उसे मालूम हुआ कि उसकी बहन और बहनोई ने उन पर ईमान लाकर इस्लाम स्वीकार किया है। वह क्रोध से लाल-पीला होने लगा। उसने मोहम्मद साहिब की अपेक्षा पहले अपनी बहन और बहनोई को मारने का विचार किया। इस संकल्प के साथ वह अपनी बहन के घर पहुंचा। उस समय उसकी बहन कुरान की आयतें पढ़ रही थी। उसने क्रोध में अपनी बहन को पीटना

शुरू किया। देखते-ही-देखते वह रक्तरंजित हो गई। उसने बहनोई की भी पिटाई की। इस घोर बर्बरता के बावजूद उनमें बदले की प्रतिक्रिया पैदा नहीं हुई। उन्हें शांतचित्त देखकर वह सोच में पड़ गया। इस घटना का उस पर असाधारण प्रभाव पड़ा। अंत में उमर ने अपनी बहन से क्षमा-याचना की। वह मोहम्मद साहिब की सेवा में उपस्थित हुआ और इस्लाम स्वीकार किया। यही उमर कुछ समय बाद इस्लाम के एक बहुत बड़े खलीफा हुए, जिन्होंने इस्लाम के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मोहम्मद साहिब के वर्ग के लोगों पर जितनी आपदाएं आईं, उन सबका वर्णन करना कठिन है। उस वर्ग के लोगों ने उनके संबंधियों को इतना पीड़ित किया कि वे उनके कामों में रुकावट पैदा कर उनको समाज-कल्याण के कामों से दूर रखें। उनके सम्बन्धियों ने उन्हें बहुत समझाया, मगर वे अपने विश्वास पर अडिग रहे। ऐसा देखकर उन लोगों ने उनका, उनके सम्बन्धियों और अनुयाइयों का सामाजिक बहिष्कार करने की घोषणा की। इसके अतिरिक्त मक्का के लोगों के निर्णय के अनुसार एक चौक में उनका सामाजिक बहिष्कार करने का अध्यादेश लटका दिया कि कोई व्यक्ति उनसे और उनके सम्बन्धियों तथा अनुयाइयों से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध न रखे। उनके विरुद्ध लोगों में काफी जोश और उत्तेजना थी और इन घृणित भावनाओं के अतिरिक्त वे उन्हें जीवित रहने नहीं देना चाहते थे। लोगों की आक्रामक भावनाओं को देखकर उनको और उनके अनुयाइयों को मक्का से बाहर एक तंग पहाड़ी की ओट में छिपकर तीन वर्ष रहना पड़ा। इस बीच उस वर्ग की ओर से यह प्रयत्न किए जाने लगे कि वहां अन्न-पानी भी न पहुंचे और वे लोग भूखे-प्यासे मृत्यु को प्राप्त हो जाएं। पर उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा, बल्कि मक्का से कुछ दूर तायफ नामक शहर में जाकर प्रचार-कार्य करना शुरू किया। इन लोगों ने वहां तक भी उनका पीछा किया। उन्हें पत्थर मार-मारकर जख्मी करके वहां से निकाल दिया गया।

मक्का के लोग यह नहीं चाहते थे कि कोई उनके स्वार्थों को चुनौती देकर उनकी जीवनचर्या में परिवर्तन लाने की कोशिश करे। वे अपनी तथाकथित सरदारी बनाये रखने हेतु मोहम्मद साहिब को अपने रास्ते से हटाना चाहते थे। इतना ही नहीं, उन लोगों ने उनका वध तक करने का षड्यंत्र रचा। उन लोगों ने परस्पर विचार-विनिमय के बाद निश्चय किया कि यदि उनका वध किया गया तो सम्भव है कि उनका कोई सम्बन्धी या अनुयायी इसका बदला लेने पर तुल जाए। तब इसके गम्भीर परिणाम होंगे। ऐसा सोचकर उन्होंने यह कार्यक्रम बनाया कि मक्का के हर परिवार से एक नवयुवक खंजर लेकर निकले और सब एक साथ अपना-अपना खंजर उनके शरीर में घोंप दें। मगर ईश्वर जिसका रक्षक हो, उसे कौन मार सकता है! मोहम्मद साहिब को ईश्वर पर विश्वास था, फिर

उनको भला कौन हानि पहुंचा सकता था ?

मोहम्मद साहिब का आन्दोलन धीरे-धीरे फैल रहा था । दिन-प्रतिदिन उसकी चर्चा बढ़ने लगी । लोग बराबर उनके अनुयायी होते गए । मदीना के जो लोग यात्रा के लिए मक्का जाते थे, उनके उपदेश सुनकर उन पर विश्वास कर, इस्लाम को स्वीकार करने लगे । उन लोगों ने उन्हें श्रद्धापूर्वक मदीना आने का निमंत्रण दिया । उन्होंने वहां जाकर समाज में प्रचलित बुराइयों और कुरीतियों को दूर कर निहित स्वार्थों पर आधारित रूढ़िवादी प्रथाओं के विरुद्ध प्रचार किया । वहां के लोगों ने अपनी पूरी शक्ति के साथ उनका सहयोग किया । वे न केवल उन लोगों के खलीफा—धर्मगुरु ही बने, बल्कि उन्होंने वहां की राजनीति में भी प्रतिष्ठा प्राप्त की । उन लोगों ने उनको पूरा सम्मान देकर सहर्ष उनका नेतृत्व स्वीकार किया । इस प्रकार उनके अनुयाइयों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी । एक के बाद दूसरा दल इस्लाम का अनुयायी होने लगा । विचारों की भिन्नता के कारण वहां के स्थानीय लोगों में परस्पर संघर्ष भी हुए, मगर धीरे-धीरे इस्लाम की शक्ति बढ़ने लगी । जो अरब उसका विरोध करने में अग्रसर थे और जिन्होंने इसके विस्तार को रोकने के लिए नाना प्रकार के पाशविक अत्याचार किए थे, मोहम्मद साहिब को बर्बर यातनाएं दी थीं, अंत में इस्लाम के सामने झुके और उनके उपदेशों को स्वीकार किया ।

हजरत मोहम्मद ने मनुष्यता के संरक्षण हेतु जो सुकृत्य किए, उनका वर्णन ऊपर आया है । जो अरब ऐसे अनेक वर्गों का समूह था जो एक-दूसरे के रक्त के प्यासे थे, अब एक संयुक्त राष्ट्र बन गया । सैकड़ों वर्षों के अंधविश्वास, रूढ़ियां और कुरीतियां समाप्त हो गईं । विदेशी शासन के वे सभी चिह्न जिनसे हीनता के भाव पैदा होते थे, मिट गए । फिर अरब एक स्वतंत्र और उच्च राष्ट्र तथा कुशल राज्य बनकर संसार के रंगमंच पर उभरा । इस प्रकार असह्य यातनाएं, नृशंस अत्याचार और हिंसा सहन करने के बाद इस्लाम के पैगम्बर ने अरब में एक धर्म, एक जाति, एक राष्ट्र और एक राज्य स्थापित कर देश का सर संसार में ऊंचा किया ।

इस्लाम के प्रचार में जो रुकावटें पैदा हुईं, इसके विरोध में जो रक्तरंजित संघर्ष हुए, मोहम्मद साहिब के अनुयायियों ने उनके साथ जो संग्राम किए, उन्हें जो यातनाएं सहन करनी पड़ीं, जिस अपमान, हीनता और बहिष्कार को उन्होंने सहा, वह सब अत्याचारी हिंसक स्वार्थी लोगों ने अपने निहित स्वार्थ हेतु किए । किन्तु हजरत मोहम्मद में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया या प्रतिशोध की भावना पैदा नहीं हुई । हमें इतिहास से हिंसा की कोई प्रतिक्रिया ऐसी नहीं मिलती जिससे यह पता चलता हो कि उन्होंने अपने मत के प्रचार में हिंसा का प्रयोग किया हो या किसी को तलवार के बल पर इस्लाम स्वीकार करने के लिए

विवश किया हो। उन्होंने तो बल्कि सदा आत्मरक्षा ही की। कुरान की पहली आयत का भाव है कि "धर्म के विषय में अन्य धर्मावलम्बियों के साथ किसी प्रकार की कोई जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए।"

इस दर्शन के अनुसार इस्लाम प्रेम, स्नेह, सहानुभूति और अहिंसा के सिद्धांतों के अंतर्गत फैला। मगर इस्लाम उन्नति के शिखर से कैसे गिरा, यह भी रोचक विषय है। अपनी-अपनी प्रभुसत्ता को बनाए रखने हेतु नबवत के प्रश्न पर शिया-सुन्नियों के विनाशकारी युद्ध से मानवता कांपने लगी। इतना बड़ा रक्तपात होने पर भी एक-दूसरे के विचारों के प्रचार को नहीं रोका जा सका। इसी तरह कादियानियों और एहमदियों के धार्मिक संघर्ष भी एक-दूसरे को अपने अधीन न कर सके। अपने-अपने विचारों के आधार पर उन धर्माचार्यों ने प्रचार किया। मगर विचारों की बढ़ती हुई लहर को कोई भी मत समाप्त न कर सका। इस्लामी इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि किसी समय मुसलमानों ने इतनी उन्नति और सफलता प्राप्त की थी कि अरब, ईरान, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, श्याम, इस्पहानिया, पुर्तगाल, सिसली, फ्रांस और आस्ट्रेलिया के कुछ भाग और तुर्की पर उनका अधिकार हो गया था। उन देशों पर उनका बहुत समय तक अधिकार बना रहा। परन्तु जब सुलतान अब्दुल रहमान सालस जैसे अत्याचारी और क्रूर बादशाहों ने ईसाइयों से एक सौ स्त्रियों का वार्षिक दंड प्राप्त करना शुरू किया तो उस समय उनका तीव्र विरोध शुरू हुआ और उनकी राजनैतिक शक्ति क्षीण होने लगी। फलस्वरूप ईसाइयों ने फिर अपने देश पर अधिकार कर एक-एक मुसलमान को क्रूर दंड देकर देश से निकाल दिया। यह अच्छाई और बुराई की टक्कर थी। आखिर विजय सत्य की होती है। आतंक से प्राप्त हुई सफलता स्थायी नहीं होती। स्वार्थसिद्धि हेतु धर्म के नाम पर फैलाई गई भ्रांतियां स्थायी नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार हिन्दू-सभ्यता पर एक कलंक अस्पृश्यता भी इस समाज में स्थायी नहीं रह सकती। इसका समाप्त होना अवश्यंभावी है।

जब पश्चिमी देशों के इतिहास का अवलोकन किया जाता है तो ज्ञात होता है कि वहां के लोगों ने भी विचारों की भिन्नता के कारण जो हिंसक संग्राम किए, वे इस देश में होने वाले संघर्षों से अधिक भयानक थे। उन्हें लिपिबद्ध करना कठिन है। कैथोलिक और प्रोटैस्टैन्ट मतानुयायी लोगों ने अपने-अपने धर्म के नाम पर जो तमाशा दिखाया, उसे पढ़कर सिर लज्जा से झुक जाता है। एक-दूसरे पर अपने विश्वास का अधिकार जमाने के लिए जिस निर्दयता से मानव-रक्तपात हुआ, उसका उदाहरण संसार के किसी भाग में नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यहूदियों और ईसाइयों में हुए भयानक संघर्ष भी कोई कम खूंखार नहीं थे। ईसाई-धर्म पैदा किया यहूदियों ने और वे ही उनके अत्याचार का

निशाना बने। उनको समाप्त करने के लिए ईसाई-धर्म के ठेकेदारों ने जो नर-संहार किया, वह जानकर मनुष्य का हृदय कांप जाता है। वे इतने पाशविक अत्याचार करने पर भी यहूदियों को समाप्त न कर सके।

भारतवर्ष के मुगलकालीन इतिहास में मुस्लिम साम्राज्य के सुकृत्य उनके उन्नति के शिखर पर हिलोरें लेने के दृश्य पढ़ने को मिलते हैं। अकबर और शाहजहां हिन्दू-मुसलमानों को समान दृष्टि से देखने वाले सम्राट् हुए। उनका शासनकाल भारत के इतिहास में सुख-समृद्धि का समय माना जाता है। परन्तु औरंगजेब की धर्मान्ध कट्टरता ने अकबर और शाहजहां के समय के सौहार्द्रपूर्ण वातावरण को विषाक्त किया। इस नीति से उलटे मुगल साम्राज्य की नींव चरमराकर रह गई। फलस्वरूप व्यर्थ के झगड़े और संघर्ष शुरू होने लगे। औरंगजेब के अन्य धर्मों के मानने वालों को यातनाएं देना और बलप्रयोग करना तथा पाशविक अत्याचार करना दैनिक शौक थे। उसने हिन्दू-नस्ल को समाप्त करने हेतु नाना प्रकार की यातनाएं और अत्याचारों से सारे देश के वातावरण को कलुषित किया। हिन्दू होना एक अपराध समझा जाने लगा। इस दुर्व्यवहार और क्रूरतापूर्ण नीति के कारण देश में अशांति और अराजकता पैदा होने लगी और लोगों में शासन के प्रति असन्तोष बढ़ने लगा। इसके गम्भीर परिणाम हुए। सुविशाल और सुदृढ़ जिस मुगल साम्राज्य को बड़ी कठिनता से संगठित किया गया था, वह तार-तार होकर बिखरने लगा। उसके जिस वैभव के सामने कोई आंख न उठा सकता था, वह औरंगजेब की संकीर्णता और कुनीति के कारण देखते-ही-देखते छिन्न-भिन्न होने लगा। उस समय इस प्रकार का दूसरा सम्राट् फर्रुखसियर था, जो अपने संकीर्ण विचारों के कारण औरंगजेब की तरह ही बदनाम हुआ। धर्मोन्माद में उसने बड़ी निर्दयता से हिन्दुओं का संहार किया। उसने भी औरंगजेब की भांति हिन्दू-नस्ल को समाप्त करने की नीति अपनाई। उस अत्याचार का मुकाबला करने के लिए बंदाबहादुर छाती तानकर सामने आया। उसने अपने बहुत-से सिख साथियों के साथ मुसलमानों के अत्याचार का मुकाबला किया, मगर वह उनके लगातार आक्रमणों के आगे न टिक सका। अंत में वह पकड़ा गया और उसका निर्दयता से वध किया गया। उस पर जो अत्याचार ढाए गए, वह अमानवीय थे। पर ये कठोर यातनाएं भी उसे अपने विश्वास से डिगा न सकीं और उसने इस्लाम धर्म का अनुयायी होना स्वीकार नहीं किया, बल्कि उसके किसी भी साथी ने अपनी प्राणरक्षा के लिए अपने विश्वास को नहीं छोड़ा। बादशाह ने जन-संहार करने का आदेश दिया और सिखों की नस्ल समाप्त करने का प्रयास किया गया। मगर इतने अत्याचार के होते हुए भी वे इस नस्ल को समाप्त न कर सके, बल्कि स्वयं ही समाप्त होकर रह गए। फर्रुखसियर के अत्याचारों का मुकाबला करने के लिए महाराजा अजीतसिंह

बादशाह गरनिजमउद्दीन अली खान के साथ अपने साथियों को लेकर उसके महलों में चले गए। उन्होंने बादशाह को पकड़कर बलपूर्वक बाहर निकाला। यह देखकर उसकी माता, स्त्रियों और लड़कियों ने उसकी मुक्ति के लिए प्रार्थना की। उसे कैद का दंड भुगतना पड़ा। तदनंतर उसे अंधा करके कुछ समय बाद मार दिया गया। अकबर और शाहजहां जैसे उदार और निष्पक्ष बादशाहों की संतान की यह दुर्गति हुई, जिन्होंने अपनी योग्यता और धर्म-निरपेक्षता के आधार पर शासन कर लोकप्रियता प्राप्त की थी। क्रूरता और रक्तपात द्वारा यदि लोगों की विचारधारा, आस्था और विश्वास बदले जा सकते तो फिर संसार की शांति, सन्तोष, विवेक और मानव प्रगति समाप्त होकर रह जाती। मगर ऐसा कभी नहीं होता। अत्याचारी थोड़ी देर के लिए अपना आतंक जमाता है और फिर शीघ्र ही उसका पतन हो जाता है। शाह आलम द्वितीय को जिस बर्बरता और अत्याचार का सामना करना पड़ा, उसे पढ़कर मनुष्य का हृदय कांप जाता है। वह न्यायप्रिय, दयावान, पूजा-पाठी और सुशील स्वभाव का था, जिसने अपनी सारी आयु ईश्वर-भक्ति और कुरान शरीफ के अध्ययन में व्यतीत की और जो अपने अमूल्य आभूषण तक बेचकर अपने कर्मचारियों और सेवकों को वेतन देता हो, उसे अत्याचार का शिकार बनाने का भला कौन साहस कर सकता है। गुलाम कादर ने कुछ पठानों सहित उसके महल में घुसकर उसे दीवान-ए-खास में बुलाकर उससे खजाना और दफीना के विषय में पूछा। उसका यह असभ्य व्यवहार देखकर शाह ने नम्रता से उत्तर दिया कि उसके पास इस प्रकार का कोई दफीना नहीं है और न ही कोई खजाना है। यदि उसके पास सम्पत्ति होती तो अपने बहुमूल्य आभूषण बेचकर अपने कर्मचारियों को वेतन न देता। शाह का यह उत्तर सुनकर निर्दयी गुलाम कादर क्रोध से लाल-पीला हो उठा और उसे कहा कि यदि उसके पास धन नहीं है, तो उसका इस अवस्था में जीवित रहना व्यर्थ है। ऐसा कहकर उसने अपने साथियों को शाह को अंधा करने की आज्ञा दी। ऐसा सुनकर उसने लम्बी सांस ली और कहा कि यह आंखें जो सारी आयु कुरान शरीफ पढ़ती रही हैं, उन पर दया की जाए। मगर गुलाम कादर को दया नहीं आई। उन क्रूर लोगों ने शाह के सामने उपस्थित उसके पुत्रों और पौत्रों को पूरी शक्ति से पीटना शुरू कर दिया। उससे अपने बच्चों पर यह अत्याचार नहीं देखा गया। उसने प्रतिरोध में ऐसा न करने की प्रार्थना की तो उस अत्याचारी ने शाह की छाती पर बैठकर उसे एक आंख से अंधा कर दिया। शाह बेसुध होकर तड़प ही रहा था कि उस निर्दयी ने अपने एक सैनिक को शाह की दूसरी आंख भी निकालने का आदेश दे दिया। मगर शाह का आर्तनाद सुनकर सैनिक का हृदय दहल गया और वह वहां से खिसक गया। फिर उसने दूसरे सैनिक को आज्ञा दी। उसने उसके भय और आतंक से विवश होकर शाह

की दूसरी आंख भी निकाल दी और उसे पूरी तरह से अंधा कर दिया। यह अवस्था मुगलों के पतन के दिनों की थी, जिसके कारण विशाल साम्राज्य पतन की आग में भस्मीभूत होकर रह गया। अत्याचार और बर्बरता की चरमसीमा की यह एक मुगल शासन की तस्वीर है। इसी प्रकार समय-समय पर कई साम्राज्य इस संसार के रंगमंच पर उभरे और समय की धारा के थपेड़ों से मिट गए। मगर जिसने बुराई का मुकाबला किया और मानव-कल्याण के कार्य किए, वही इस संसार में टिक सका। शेष साम्राज्यों का नामोनिशान तक नहीं मिलता। वे इस संसार से इस प्रकार मिट गए जैसाकि आज उनका नाम लेने वाला भी कोई नहीं है। इन उदाहरणों को देखकर क्या यह सम्भव है कि अस्पृश्यता का कलंक हिन्दू-समाज में सदैव रहेगा ? कदाचित नहीं। स्वार्थी और अत्याचारी लोगों का भविष्य में किसी समय विनाश अवश्य होगा।

इसी प्रकार जब हम बोबीलोन की सभ्यता और उसकी सामाजिक अवस्था का अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि उस काल में जबकि संसार के लोग मानव-सभ्यता से अनभिज्ञ थे, बोबीलोन साम्राज्य उन्नति के शिखर पर था। जीवन के हर क्षेत्र में उन्होंने प्रगति की। मानवता, सच्चाई, वीरता, न्याय और अन्य गुणों के आधार पर उनकी सभ्यता टिकी हुई थी। ये वे लोग थे, जिन्होंने विज्ञान के अनुसंधान में बहुत उन्नति की थी और सर्वप्रथम सूर्य ग्रहण आदि के विषय में लोगों को जानकारी दी थी। वे ऋतु और भूचाल आदि के विषय में भी भविष्यवाणी किया करते थे। इसी प्रकार उन्होंने दूसरे विषयों में भी आश्चर्यजनक प्रगति कर लोगों को आश्चर्य में डाल दिया था। वह राष्ट्र जिसने संसार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था, पतित और दलित होकर समाप्त हो गया। उसमें पैदा होने वाली बुराइयों के विरुद्ध जिसने भी आवाज उठाई, उसे निर्दयता से समाप्त कर दिया गया। उनकी बर्बरता और अत्याचार इतने बढ़ चुके थे कि उनका विनाश अवश्यम्भावी हो गया था। उनके अधीन जातियों को एक देश से दूसरे देश को देशनिकाला देना, यातनाएं देना, आजीवन कारावास और बच्चों को उनके माता-पिता की आंखों के सामने वध कर देना, उनके साधारण दंड थे। बादशाह अपने एक संकेत से प्रधानमंत्री तक का वध कर सकता था। यदि प्रजा बादशाह के विरुद्ध हो जाती तो वे निर्दयता और नृशंसता से उसका संहार करा देते थे। प्रायः उबलते तेल में फेंककर उसकी जीवनलीला समाप्त की जाती थी। अपनी सत्ता के अहंकार में वे भूल चुके थे कि मानवता भी कोई वस्तु होती है। उन्होंने इतिहास से यह शिक्षा लेने की कभी कोशिश नहीं की कि निर्दोष लोगों पर अकारण अत्याचार करने का क्या परिणाम होता है। यहां तक कि वे अभिमान में इतने अंधे हो चुके थे कि छोटी-छोटी बात पर मनुष्य का वध कर देना साधारण बात समझते थे। इससे भली

प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है कि विरोध करने वालों की क्या दशा होती होगी अर्थात् उन बुराइयों के विरुद्ध जिसने भी कुछ कहने का साहस किया, उसे तलवार के एक झटके से समाप्त कर दिया जाता। उनके इस अहंकार ने समस्त राष्ट्र की प्रतिष्ठा को ही समाप्त कर दिया। वे इतने निर्लज्ज और पतित हो चुके थे कि उनमें यह विवेक ही नहीं रह गया था कि नैतिकता नाम की भी कोई वस्तु होती है। उनका नैतिक पतन यहां तक हो चुका था कि वे धन इकट्ठा करने के लोभ में बड़े-से-बड़ा पतित और घृणित काम करने में नहीं हिचकते थे। इस निर्लज्जता की सीमा यहां तक चली गई कि उस जाति की हर स्त्री पर यह जिम्मेदारी थी कि वह अपने जीवन में एक बार बलकीस के मन्दिर में जाए और वहां सर्वसाधारण में से जो कोई उसका इच्छुक हो, उससे सहवास करे। विवाह करने की अपेक्षा बोबीलोनी अविवाहित नवयुवतियों को बाजार में ले जाकर सर्वसाधारण में नीलाम करते थे। इससे अभिप्राय यही था कि दूर-दूर से सुन्दर युवतियों के यौनाचार-चातुरी द्वारा अपनी कामवासनाओं को तृप्त करने के इच्छुक लोग बोबीलोन आएं, जिससे अधिक-से-अधिक धन पैदा किया जा सके। इस व्यभिचार से एक ऐसी कुप्रथा ने जन्म लिया कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कामवासना की तृप्ति हेतु कई शादियां करता था। शराब पीना आम बात थी। वे अपना सारा जीवन व्यभिचार और व्यसनों में व्यतीत करते थे। वे सोने और चांदी के बरतनों में खाना खाते थे। सारांश यह है कि बोबीलोनी विलास, व्यभिचार, पापाचार तथा व्यसनों में बुरी तरह डूबे हुए थे। मगर इन व्यभिचारों के कारण बोबीलोन खोखला हो चुका था। उस समय का लाभ उठाकर फारस (ईरान) ने उस देश पर आक्रमण किया। मगर वे लोग नशे में धुत्त होकर अपनी-अपनी वासना को तृप्त करने में व्यस्त थे। आक्रमणकारी बिना किसी रुकावट के विजयी होकर नगाड़े और शहनाइयां बजाने लगे। उस समय वहां का बादशाह अपने महलों में यौन-वासना में व्यस्त था। वह बड़ी आसानी से पकड़ा गया और उसका वध किया गया। यह गाथा उस राष्ट्र के पतन की है, जिसकी उन्नति किसी समय प्रकाश की मीनारें थीं। उस जाति का पतन यहां तक हुआ कि आज इस संसार में केवल कुछ टूटे-फूटे खंडहरों के अतिरिक्त उनका कोई चिह्न भी शेष नहीं रहा।

इसी प्रकार सीरिया के प्राचीन इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि बोबीलोनियों की तरह इस राष्ट्र ने भी सभ्य संसार में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। जीवन के हर क्षेत्र में इस जाति ने बहुत उन्नति की थी। मगर धर्म के नाम पर वहां पर जो बर्बर अत्याचार हुए, उन्हें पढ़कर हृदय कांप उठता है। परन्तु उनका भी पतन हुआ। उनमें उसी तरह पापाचार और भ्रष्टाचार जैसी बुराइयां पैदा हुईं जैसे बोबीलोन के लोगों में पैदा हुईं। उस समय सीरियन लोग

पतित हो चुके थे। यहां तक कि बोबीलोन की तरह वहां भी बलकीस के मन्दिर में प्रत्येक स्त्री को एक बार इस अभिप्राय से जाना पड़ता था कि जो व्यक्ति सबसे पहले उसका इच्छुक होगा, वह उससे सहवास करे। वहां पापाचार और भ्रष्टाचार चरमसीमा तक पहुंच गया था। बादशाह दिन-रात व्यसनों और भ्रष्टाचारों में बेसुध रहता था। यद्यपि उस भ्रष्ट पापाचारपूर्ण वातावरण के विरुद्ध विद्रोह उठता था तथापि विरोध करने वाले के विरुद्ध शासन ने जिस कठोरता और अत्याचार का व्यवहार किया वह पशुता से भी बदतर था। सैनिक विरोधियों का सर काटकर दिखाते थे। तथाकथित अपराधी के होंठों में छेद कर उनमें बालियां डालते थे और उन्हें बादशाह के दरबार में प्रदर्शन के लिए लाया जाता था। उस समय वे बड़े अहंकार से उसे अपनी टांग से ठोकर मारते थे। किसी का वध किया जाता और कइयों को गुलाम बना लिया जाता। मगर ऐसा नृशंस शासन भला कितनी देर तक टिक सकता था। जब उनके अत्याचार चरमसीमा पर पहुंच गए, तो ईश्वर ने उनके बर्बर शासन को समाप्त करने के लिए सीस नामक एक जंगली जाति (जो किसी समय हिन्दुस्तान में भी आ चुकी थी) पैदा की। उसने उस बादशाह के अत्याचारों का बदला ऐसे लिया कि वे जहां कहीं भी अत्याचारियों को देखते, उनका वध करते और उनके रक्त को चूस लेते। उनकी गर्दन काटकर अपने सरदार को दिखाते। इसके बाद सर की चमड़ी उतारकर अपनी लगाम के साथ लटका लेते। उनके हाथ और बांहें छीलकर उस चमड़े से अपने तरकश बनाते। उनकी खोपड़ी को पानी पीने के काम में लाते। मन्दिर में नंगी तलवारों की पूजा करते। मनुष्य या पशु का संहार कर उसका रक्त तलवार पर डालते थे। उसका कीमा बनाते थे। वे नागरिकों का वध कर शहरों को आग लगाते, आगे बढ़ते और खड़ी फसलों को बरबाद करते। उस बर्बर जंगली जाति ने अपने अधीनस्थ देशों में केवल खण्डहरों के अतिरिक्त और कोई चिह्न नहीं छोड़ा। अंत में सीरिया देश और सीरियन राष्ट्र विनाश की धधकती ज्वाला से संसार के रंगमंच से लुप्त हो गया। इस प्रकार वही साम्राज्य जिसने एक बार प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, अपने पापाचारों और बर्बर अत्याचारों के कारण समाप्त होकर रह गया।

इन घटनाओं के संदर्भ में यहां मेद जाति का वर्णन करना भी समीचीन होगा, जिसने बोबीलोनों और सीरियनों की भांति उन्नति के शिखर पर पहुंचकर अपने भ्रष्टाचार, अराजकता, नैतिक पतन के कारण अपने-आप को बरबाद किया। मेदिया साम्राज्य पीओं नदी से लेकर सतलुज नदी तक फैला हुआ था। वहां के नागरिक आर्य जाति के थे। इसके दक्षिण में ईरान और पश्चिम में सीरिया देश थे। मेसोपोटामिया उसके पूर्व में था। उत्तर में झील कैसपियन और उत्तर-पश्चिम में आरमीनिया के देश थे। वह सबसे अधिक शक्तिशाली

साम्राज्य समझा जाता था। इसकी सभ्यता का डंका चारों ओर बजता था, जिसका प्रभाव आज भी पारसी जाति में पाया जाता है। मगर इस राष्ट्र का अंत भी बोवीलोनियों और सीरियनों की तरह ही हुआ। अराजकता और भ्रष्टाचार फैल जाने के कारण विचारों के टकराव में यह राष्ट्र भी संसार से पानी के बुलबुले की तरह अदृश्य हो गया। इतने महान् राष्ट्र, जिनकी गूंज सारे विश्व में थी, उनका भी आतंक न रहा। विचारों के टकराव में अंत में सच्चाई की विजय हुई और अत्याचार तथा पापाचार का नाश हुआ। इसी प्रकार क्या यह सम्भव है कि अस्पृश्यता आदि कुप्रथाएं हिन्दू-समाज में टिक सकेंगी, कदापि नहीं। यह समाप्त होने वाली कुप्रथा है जो निरन्तर प्रयत्न होते रहने से भविष्य में किसी समय अवश्य समाप्त होगी।

इतिहास के इन उदाहरणों के साथ जब फारस (ईरान) के इतिहास का अध्ययन किया जाता है तो विदित होता है कि प्राचीन समय में सारे एशिया पर यूनान का प्रभाव था। सिंधु नदी से लेकर मिस्र तक का सारा क्षेत्र उसके अंतर्गत था। उसकी वीरता का डंका सारे संसार में बजता था और सभ्यता के क्षेत्र में उसने महत्त्वपूर्ण प्रगति की थी। एशिया के लोग आतुरता से इस प्रतीक्षा में रहते थे कि यूनान का सम्राट् कब किस आज्ञा की घोषणा करता है। यूरोप और अफ्रीका के जागीरदार और रजवाड़े तथा सामंत इस साम्राज्य की सार्वभौम सत्ता के अधीन थे। इसके बढ़ते हुए साम्राज्य को देखकर यूनान ने इसकी सार्वभौम सत्ता के अंतर्गत आ जाने के लिए प्रार्थना की। उस समय अहंकार और अभिमान में धुत्त उसने जो उत्तर दिया वह इतना असभ्य और अनैतिक था, जो उसकी प्रतिष्ठा व सम्मान के अनुकूल नहीं था। वह तनिक भी सहन नहीं कर सकता था कि उसके देश में कोई और दूसरा भी अपने विचार को व्यक्त करे। फलत: फारस के उस घमंडी सम्राट् ने यूनान के साम्राज्य को, जो संसार में अपनाए क विशेष स्थान रखता था, अपनी आज्ञा के एक संकेत से मसल डाला। मगर प्रकृति का नियम सबके लिए एक जैसा है। उस प्रकृति ने इसके क्रूर अत्याचारों को क्षमा नहीं किया। उसने जो तथाकथित सफलताएं प्राप्त की थीं, वही उसके पतन का कारण बनीं। कारण, अभिमान और अहंकार ने उसे पागल बना दिया था। वही फारस साम्राज्य जिसने अपनी वीरता और सभ्यता का सारे संसार में डंका बजाया था, पतन की ओर जाने लगा। उस समय उसके अत्याचार इतने बढ़ चुके थे कि जिस किसी ने भी अपने विचार व्यक्त किए और उसके अत्याचार का जिसने भी प्रतिरोध किया, उसका उसी समय वध किया गया। देश में इतना भय और आतंक था कि सभी अपनी सुरक्षा के लिए हर समय चिन्तित रहते थे। वह इतना क्रूर था कि अपने विरोधियों को जमीन में आधा गाड़कर उन पर पत्थर फेंकता था। जीवित दबा दिया जाता था। जुबान को पकड़कर उसे खींचना, चमड़ी उतारकर तलवार पर चढ़ाने

आदि के पाशविक दंड देकर उन विरोधी लोगों को समाप्त करने के प्रयत्न किए जाते। इसके अतिरिक्त शत्रु को दो नावों के बीच इस प्रकार बांधा जाता था कि उसका सर ऊपर की ओर रहता था और नावों को नदी में छोड़ दिया जाता। इस दंड से उसे जो यातना होती, उसे लिपिबद्ध करना कठिन है। ये वही फारस के लोग थे, जिनका नैतिक चरित्र उच्च था और जो युद्ध में शत्रु पर हिंसा करने की अपेक्षा उस पर दया कर, उसे मुक्त कर दिया करते थे। जो किसी को भी पीड़ा पहुंचाना अच्छा नहीं समझते थे। मगर वही लोग इतने पतित, बर्बर हो गए कि साधारण-सा विरोध करने पर उसका वध कर देते। हर अनैतिक बुराइयों और विलासिता तथा पापाचार में डूबे रहने के कारण वे पतन के गर्त में गिरते चले गए। अपने अहंकार, अभिमान और अनैतिकता के कारण वह राष्ट्र जिसने योरुप और अफ्रीका तक अपना ध्वज फहराया था, वह अपने कुकृत्यों और पापाचार के कारण समाप्त होकर रह गया।

प्राचीन मिस्री भी बोबीलोनियों, ईरानियों, मेद और फारसियों की तरह उन्नति के शिखर पर पहुंच चुके थे। उन्होंने भी अपने विरोधियों पर तरह-तरह के अत्याचार किए और उनके प्रतिरोध को दबाने के लिए हर तरह की बर्बरता की। फारस का बादशाह सुअवसर की खोज में था। उसने उस देश के परस्पर संघर्ष का लाभ उठाया। उसका ऐसा पतन हुआ कि वह अपने जीवन में फिर दूसरी बार अपना शासन संगठित न कर सका। प्राचीन इतिहास में एक और प्रसिद्ध फनकी नामक जाति का वर्णन आता है जो श्याम सागर और लेबनान के किनारों के बीच आबाद थी। अपनी योग्यता, बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता के कारण इस जाति ने जीवन के हर क्षेत्र में प्रगति कर संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। विज्ञान के आविष्कारों, उद्योगधन्धों और कारोबार में विस्तार किया था। यह वही जाति थी, जिसने सबसे पहले लिखने की कला का आविष्कार किया था। चूंकि यह जाति धनाढ्य थी, इसलिए धीरे-धीरे विलासप्रिय और भ्रष्टाचार में लिप्त होती चली गई। पाशविकता, अनैतिकता और विलासिता उनका धर्म बन चुका था। इस जाति के लोग अपने बर्बर कुकृत्यों के कारण नृशंस समझे जाते थे। यहां तक कि वे अपने यज्ञ के अवसरों पर बच्चों और नवयुवकों की आहुति देते थे। उस ज्वाला की लपटों में भस्मीभूत होते हुए उनकी करुणाजनक आर्तनाद को दबाने के लिए वे लोग जोर-जोर से ढोल-नगाड़े और मृदंग बजाते थे ताकि उनकी आतुर याचना पर दया कर कोई उन्हें आग से न निकाल सके। इसी प्रकार नवयुवतियों की भी आहुति दी जाती थी। इनमें अनैतिकता, भ्रष्टाचार और विलासिता जैसी बुराइयां चरमसीमा तक पहुंच गई थीं। धर्म के नाम पर भयानक अत्याचार किए जाते थे। उनमें विरोधी विचार और उनकी टीका-टिप्पणी सुनने की सहनशक्ति नहीं थी। जिसने भी विरोध किया, उसे नृशंस अत्याचारों से समाप्त किया जाता था।

मगर उनके भी ये अत्याचार अधिक समय तक स्थिर न रह सके। अंत में उस जाति का भी पतन हुआ और उसका नाम संसार से देखते-ही-देखते विलुप्त हो गया। संसार में आज कोई जाति ऐसी नहीं है जो यह विश्वास से बता सके कि वे उस 'फनकी' जाति की संतान हैं, जिसने संसार में अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। इतिहास में दिए गए कुछ विवरणों के अतिरिक्त इस जाति का आज कोई अवशेष बाकी नहीं है।

एशिया और अफ्रीका की प्राचीन जातियों की भांति योरुप में भी वहां के मूल-निवासी रूमी और यूनानी जातियों ने भी अद्भुत उन्नति की थी। उनके कला-कौशल और प्रगति से संसार चकित है। सुकरात, बकरात, अफलातून और इर्स-तालीस आदि सब प्रसिद्ध वैद्य उस देश में पैदा हुए हैं। उस जाति की वीरता के विवरण प्राचीन इतिहास में भरे पड़े हैं। मगर जब यूनान के लोग धार्मिक मतभेद के आधार पर परस्पर संघर्ष में व्यस्त थे, देश में अराजकता अपने यौवन पर पहुंची हुई थी, किसी का जीवन और धन-सम्पत्ति सुरक्षित नहीं था। इस अराजकता में देश की एकता और राजनैतिक संगठन तार-तार होकर रह गया। तब यूनान का पतन शुरू हुआ। फारस के बादशाह ने इस अवसर का लाभ उठाकर उस देश पर आक्रमण किया। उस समय थर्मापली के दर्रा में स्पार्टा वालों ने जो वीरता दिखाई वह असाधारण और अविस्मरणीय थी। यसली और समीप के कई रजवाड़ों ने भय और आतंक से उनकी प्रभुसत्ता स्वीकार की। इसमें उन्होंने अपना सौभाग्य समझा। मगर यूनान के लोगों ने अपने देश की प्रतिष्ठा और सम्मान की सुरक्षा के लिए बड़ी असाधारण वीरता से उनसे लोहा लिया। अपने बलिदानों से संसार को यह बताया कि उसने अपने आंतरिक मतभेद को समाप्त करके परस्पर संगठन, वीरता और देशभक्ति के लिए क्या कुछ नहीं किया। यूनान के लोगों ने अपने मतभेद और परस्पर ईर्ष्या-द्वेष को एक ओर छोड़कर युद्ध-क्षेत्र में अपने देश की रक्षा के लिए अपने-आप को झोंक दिया। उन्हें फारस के बादशाह को अपनी प्रभुसत्ता के अधीन करने के लिए बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। शाह फारस की सेना को थर्मापली के तंग दर्रे के समीप पहुंचने पर उसका मुकाबला स्पार्टा के वीर योद्धाओं से हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उसे रुकना पड़ा। उसकी बड़ी सेना आगे न बढ़ सकी। शाह फारस इस भ्रम में था कि उसकी तूफानी सेना यूनान पर आसानी से अधिकार प्राप्त कर लेगी। मगर जब उसका निश्चय डगमगाने लगा, तो उसने अपने जासूस को मौके पर जाकर वास्तविक स्थिति का जायजा लेने की आज्ञा दी। उसने सच्ची रिपोर्ट प्रेषित करते हुए प्रार्थना की कि यूनानी लोग अपनी दिनचर्या के अनुसार अपने कामों में व्यस्त हैं। वे लोग युद्ध के भय से परेशान और आतंकित नहीं हैं। ऐसा सुनकर शाह फारस चकित हुआ। उसने अपने सन्देह को दूर करने के लिए स्पाईन के राजकुमार

डेयमा रायस को (जो अपने देश के विरुद्ध उसका भेदिया बना हुआ था) अपने सन्देह को दूर करने के लिए पूछा कि उसके देशवासी क्या पागल हैं, जो युद्ध से भागने की अपेक्षा अपनी दिनचर्या के काम में व्यस्त हैं। देशद्रोही राजकुमार ने उत्तर दिया कि वे उक्त भयानक युद्ध की तैयारियों में व्यस्त हैं, क्योंकि उनके देश में यह प्रथा है कि जब देश पर मुसीबत आने वाली हो, तो वे यथावत् अपनी साधारण दिनचर्या में व्यस्त हो जाते हैं। फिर भी फारस के बादशाह को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि यूनान की एक साधारण-सी सेना उसकी विशाल सेना का मुकाबला करने को तत्पर है। उसे विश्वास था कि यह सेना भाग जाएगी। मगर जब शाह फारस को उसके भागने के कोई चिह्न दिखाई न दिए, तो उसने लियोंडैस के पास संदेश भेजा कि उसकी सेना इतनी अधिक है कि उसके तीरों, बरछियों और तलवारों की छाया में सूर्य भी छिप जाता है। अतः मुकाबला कठिन है। यूनान के सेनापति ने उत्तर दिया कि वे तलवारों की इस छाया में ही लड़कर मुकाबला करेंगे। स्पार्टा वालों ने दर्रे पर पूरा अधिकार कर रखा था। सागर की तरह ठाठें मारती हुई सेना जब आगे बढ़ी तो वे एक के बाद एक करके कटते गए। इस दौरान जब विजय और पराजय का निर्णय होने जा रहा था तो एक देशद्रोही यूनानी ने शत्रु के साथ मिलकर उसकी सेना के एक भाग को जंगल के रास्ते से दाखिल होने का भेद दे दिया। दूसरे मार्ग का भेद मालूम होने पर फारस की सेना बिना किसी रुकावट के शहर में दाखिल होने लगी। ऐसा देखकर यूनानी योद्धाओं की तरह उस समय तक युद्ध करते रहे, जब तक उनमें एक भी जीवित बचा। जिस स्थान पर ये वीर धराशायी हुए, वहां पत्थर की एक प्लेट दीवार में लगी है। उस पर लिखा है कि "ऐ गुजरने वाले यात्री, स्पार्टा से कह दे कि इस स्थान पर उसकी आज्ञा का पालन करते हुए हमने अपने प्राण न्यौछावर कर दिए।"

यूनानी और स्पार्टा के लोग यद्यपि इस नश्वर संसार में नहीं हैं, मगर उनकी वीर-गाथाएं और प्रतिष्ठा आज भी संसार के इतिहास में स्थान रखती हैं। इन घटनाओं को हुए लगभग दो हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, फिर भी लियोन्डैस का नाम जिस सम्मान और गौरव से आज स्मरण किया जाता है, उसका उदाहरण मिलना कठिन है। उससे प्रेरणा मिलती है और सच्ची देशभक्ति का ज्वलंत उदाहरण मिलता है।

प्रसिद्ध यूनानी सिकन्दर बादशाह का पिता फैलकूस का नाम भी इतिहास में आता है, जिसे यूनान से बिल्कुल प्रेम नहीं था। उसने सब इलाकों पर अपना शासन संगठित करने के लिए हिंसा और मारकाट की नीति अपनाई। उसके एकतंत्रवाद के विरुद्ध ईकाईन और इलसोलियन लोगों में युद्ध हुआ, जो कई वर्ष तक चलता रहा और परस्पर संघर्ष इतना तीव्र हो गया कि यूनान का विशाल

साम्राज्य, जिसने संसार में एक विशेष स्थान प्राप्त किया था, समाप्त होकर रह गया। फिलोपियन यूनानियों का अंतिम बादशाह था। वह एक वीर योद्धा, शक्तिशाली और बुद्धिमान था। वह सच्चाई, न्याय, ईमानदारी और सात्त्विकता की जीती-जागती तस्वीर था। वह एक बार एक संघर्ष में शत्रु के घेरे में फंस गया और उसे जहर पीने के लिए विवश किया गया। उसके मरने के बाद ईकाईन की शक्ति विश्रृंखलित होने लगी। रोम के लोग बड़ी आसानी से देश पर अपना अधिकार जमाने लगे। उस समय विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संघर्ष, अराजकता और कानून का भय न होने से गुण्डों और लुटेरों की शक्ति इतनी बढ़ गई कि कोई भी अपना जीवन और अपनी सम्पत्ति सुरक्षित नहीं समझता था। शोषित लोग साहूकारों और शोषण करने वालों के चंगुल से मुक्त होने का प्रयास कर रहे थे। अंत में वहां पर रोम के लोगों ने अधिकार कर लिया। तानाशाही समाप्त हुई। देश में शांति स्थापित हुई। सब लोगों ने उनका आभार प्रकट किया और लोगों ने सन्तोष की सांस ली।

मगर वह रोम जिसने यूनान के आंतरिक झगड़ों को समाप्त कर नैतिकता का मार्ग दिखाया था, स्वयं विनाश और पतन से न बच सका। वह उन्नति के शिखर से सिर के बल गिरा। इस परिवर्तन से संसार के राष्ट्र कांप उठे। रोमियों का नैतिक चरित्र और उनकी वीरता के सुकृत्यों से आने वाली पीढ़ियों में जोश पैदा होता है और बहुत कुछ सीखने को मिलता है, जिन्होंने अपने देश की सुरक्षा के लिए अपनी वीरता और देशभक्ति के जौहर प्रदर्शित किए। मगर खेद है कि वह रोम व्यभिचार, पापाचार, कुरीतियों और साम्प्रदायिक संकीर्णता की दलदल में फंसकर पतन की ओर जाने लगा। वह नृशंस था जिस कारण देवताओं की उस पवित्र भूमि पर मानव-रक्त पानी की तरह बहने लगा। अपने विलास के लिए जो उन्होंने खेल शुरू किए वे इतने नृशंस और क्रूरतापूर्ण थे कि उनका कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता। जैसे-जैसे रोम के लोग व्यभिचारी, विलासी और अहंकारी होते गए, उनकी अवस्था इस प्रकार गिरती गई कि जो कोई व्यक्ति उनके खेल और विलासिता को अच्छा न समझे, वे उसे घृणा से देखते थे। नगर में विशेष रूप से खेल के मैदान बनाए गए थे, जहां पाशविक खेल किए जाते थे। जंगली जानवरों की एक-दूसरे से लड़ाई कराई जाती थी। इसमें कई मनुष्य मारे जाते थे। कई गुलामों या दूसरी जातियों के कैदियों को इन जंगली जानवरों के आगे फेंक दिया जाता था। लोग बिना किसी हिचकिचाहट और परेशानी के प्रसन्नता से इस बर्बर अत्याचार को खेल के रूप में देखकर आनन्द लेते थे। उनकी लाशों को हुक्कों के साथ घसीटकर एक ओर कर दिया जाता था और रक्त से गीली रेत पर एक और परत बिछा दी जाती थी। फिर सुन्दर, सुडौल, सशक्त लम्बे नवयुवकों का एक समूह आगे बढ़ता था। उनमें से कइयों के पास तलवार, किसी

के पास फंदा, किसी के पास झाल और किसी के पास बरछे होते थे। कइयों ने जंगी लोहे की वर्दी पहनी हुई होती थी। उनमें कई रथों पर आते थे और कई पैदल। फिर वे एक लाइन बनाकर बादशाह के सामने आते। पूरे सम्मान से झुक-कर निवेदन करते थे—कैसर जिंदाबाद। वे लोग मृत्यु के पास हैं और कैसर को सलाम करते हैं। ये लोग अपने जीवन के मूल्य पर कथित खेल के नाम पर बादशाह की खुशी हेतु अपना अमूल्य जीवन न्यौछावर करते थे। अभाग्यवश यदि उनमें से कोई मृत्यु से बच भी जाता, तो उसे काट दिया जाता था। खेल के इस प्रकार के भयानक दृश्य रोम के लोग प्रायः देखा करते थे। मगर जब रोम के लोगों का नैतिक पतन चरमसीमा तक पहुंच गया, तो यह विशाल साम्राज्य विनाश के गर्त में लुप्त हो गया। जब पाप सीमा से बढ़ जाता है, बुराइयां और कुरीतियां फैलने लगती हैं तो प्रकृति इन सब बुराइयों और पापों को समाप्त करने का प्रबंध करती है। जब आंधी आती है तो वह ऊंचे और लम्बे वृक्षों को पहले जड़ से उखाड़ती है। नदी की बाढ़ में बड़े-बड़े वृक्ष बह जाते हैं। रोम के लोग जिस प्रकार स्वच्छन्द हो चुके थे, अहंकार और अभिमान जितना उनमें पैदा हो चुका था, वह अकथनीय था। वे अत्यंत विलासप्रिय और पापाचारी हो चुके थे। वे दूसरों के अमूल्य जीवन की कीमत पर पाशविक खेल देखने के शौकीन हो चुके थे। वे भी पतन से न बच सके। उन सब बुराइयों, पापाचारों और बर्बरता को सम्मुख रखते हुए यह सम्भव नहीं हो सकता था कि वे अपने अस्तित्व को संसार में बनाए रखें। जिस रोम साम्राज्य ने अपनी प्रतिष्ठा से दूसरे देशों को मार्ग दिखाया था और अपने प्रकाश से संसार को जीवन-दान दिया था, उसका ऐसा पतन हुआ कि आज केवल उसकी गाथाएं ही शेष रह गई हैं।

ऊपर एशिया, अफ्रीका और यूरोप के प्राचीन राष्ट्रों के उदाहरण इस उद्देश्य से दिए गए हैं कि यह ज्ञात हो सके कि बलपूर्वक और हिंसा से किसी को अधीन नहीं किया जा सकता। ये प्राचीन ऐतिहासिक घटनाएं आने वाली पीढ़ियों के लिए अनुकरणीय हैं जिनका संसार की राजनीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा। मगर जब भी उनमें बुराइयां पैदा हुईं और नैतिक पतन हुआ, पापाचार, व्यभिचार और विलासिता ने जोर पकड़ा। अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु जब वे आंतरिक संघर्षों से कमजोर हुए, तो उनका शाही वैभव और उनकी विशाल सेना भी उनको सुरक्षित न रख सकी। वे संसार के रंगमंच से मिटा दिए गए। यदि कोई अपनी शासन-शक्ति के बलबूते पर दूसरे के विचारों का हनन कर उस पर बलपूर्वक अधिकार करना चाहे, तो उसका भी वही अंत होगा, जैसे ऊपर वर्णित राष्ट्रों का हुआ। इसी प्रकार जब पश्चिमी देशों का विश्लेषण किया जाता है, तो मालूम होता है कि वहां विचारों की टक्कर में जो हिंसक रक्तरंजित संग्राम हुए, वे इन देशों में पैदा होने वाले संघर्षों से कहीं अधिक भयंकर थे। कैथोलिक और प्रोटैस्टैन्टों के

संघर्ष तो प्रसिद्ध हैं । जिस निर्दयता से इन लोगों ने मनुष्य का रक्त बहाया था, उसका उदाहरण कहीं भी नहीं मिलता। ऐसी बर्बरता, पशुता और हिंसा पहले कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई । हिन्दुस्तान के प्राचीन इतिहास के उदाहरणों में जहां-जहां बुराई के विरुद्ध संघर्ष हुए, उससे भी बहुत कुछ सीखने को मिलता है ।

देश-विभाजन के दिनों में हिन्दुस्तान में हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर निर्दयता के साथ मार-काट हुई । उनमें से कोई भी अपनी नैतिकता पर गर्व नहीं कर सकता । उन दिनों बर्बरता के जो दृश्य दृष्टिगोचर हुए, उससे यह मालूम होता था कि लोग मानवीय सभ्यता को पूर्णतया विस्मृत कर बैठे हैं। उन दिनों जो कुछ भी विनाश हुआ और मानव-रक्त की जो नदियां बहाई गईं, वह सब धर्म के नाम पर ही तो हुआ। जबकि उसका धर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं था । जिन धर्मों के नाम पर उन्होंने इतने नृशंस अत्याचार किए, उन धर्मों के सिद्धांत इसके विपरीत अत्यन्त पवित्र और मानवीय थे और हैं। मगर फिर भी उन्होंने इस जन-संहार में धर्म की आड़ लेकर अपने-अपने पक्ष को उचित ठहराया। मगर यह सब होते हुए भी क्या वे एक-दूसरे की नस्ल को समाप्त कर सके ? जिस अभिप्राय से यह रक्तपात किया गया, क्या वह उद्देश्य प्राप्त हुआ ? इतना रक्त-पात होने पर भी कोई भी एक-दूसरे को समाप्त न कर सका । यह सम्भव हो सकता है कि उनकी बर्बरता से पैदा होने वाले आतंक से वे भयभीत होकर शांत हो गए हों, मगर वे मानसिक तौर पर उनके विचारों से प्रभावित न हुए। फलतः अपने व्यवहार पर उन्हें निराशा हुई और पश्चात्ताप भी करना पड़ा । मगर आज अतीत में घटित उन भयंकर घटनाओं से भी हिन्दू-समाज ने कुछ ग्रहण नहीं किया। वह आज भी अपने निहित स्वार्थ में, धर्म के नाम पर लोगों को पथभ्रष्ट करने में व्यस्त हैं। विशेषतया नई पीढ़ी के नवयुवकों के विवेक को विकृत कर उसे दूषित बनाने का प्रयास किया जाता है। वे इतने जड़तावादी होते जा रहे हैं कि उनमें भले-बुरे को समझने का विवेक ही बाकी नहीं रहा। उन्होंने विचारों का जो प्रशिक्षण प्राप्त किया उसके अंतर्गत देश में कई स्थानों पर साम्प्रदायिक संघर्ष हुए, जहां एक-दूसरे को समाप्त करने के प्रयास किए गए। यह सब धर्म के नाम पर हुए, जिनका उससे दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। मानव-जाति के पिछले अनुभवों से हिन्दू-समाज को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस तरह के दूषित विचारों के अपनाने से समाज कभी प्रगति नहीं कर सकता । यदि इन विचारों को फैलने दिया गया तो हिन्दू-समाज अपने आंतरिक संघर्ष में फंसकर तार-तार हो जाएगा। देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए महात्मा गांधी ने अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहा था—"मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर दीवारें खड़ी कर दी जाएं या खिड़कियां बंद कर दी जाएं; मैं तो यह चाहता हूं कि संसार के सब देशों की सभ्यता और संस्कृति की हवा पूरी तरह मेरे घर में प्रवेश करे, पर

साथ ही मैं यह भी नहीं चाहता कि कोई भी सभ्यता मेरे पांव उखाड़ दे।"

आखिर मानवता है क्या ? इसे जानने के लिए भी खोज की आवश्यकता है। इतिहास से पता चलता है कि संसार में कई प्रसिद्ध अवतार, पैगम्बर और खलीफा हुए, जिन्होंने मानवता, अहिंसा और परस्पर प्रेम का सन्देश त्रस्त जनता को दिया। प्रायः सभी का जन्म साधारण परिवार में ही हुआ था, मगर उनका दृष्टिकोण विशाल व उदार था। उनके लिए सब एकसमान थे। वे किसी स्वार्थ और लोभ के वशीभूत न थे और न ही उनको किसी से ईर्ष्या-द्वेष ही था। वे सबके लिए थे और सब उनके लिए थे। उनके हृदय में सबके लिए दया और स्नेह था। ऊंच-नीच, जात-पांत, अमीरी-गरीबी, धर्म-विश्वास के भेद को वे नहीं मानते थे। उनके लिए मनुष्य मनुष्य था। संसार उनके लिए एक परिवार था। दूसरे का दुःख उनका अपना दुःख था। मानव-कल्याण में उनका अटूट विश्वास था। वे समझते थे कि यदि कोई छोटे काम करता है जिसे करना लोग प्रायः अच्छा नहीं समझते, तो ऐसे काम करने वाले को हीन समझना पाप है। उन्होंने मानवता के साथ ही प्यार किया। इस क्रम में ईसामसीह के जीवन की एक घटना है, जो कि मानव-जाति के लिए बहुत ही शिक्षाप्रद है।

एक दिन उन्होंने देखा कि एक स्थान पर बहुत बड़ी भीड़ है। वे वहां पहुंचे। उन्होंने देखा कि एक स्त्री के चारों ओर लोगों की भीड़ इकट्ठी है। सभी उस पर क्रोध से लाल-पीले हो रहे हैं। वे भीड़ में से आगे बढ़े और लोगों से इसका कारण पूछा। सभी एक साथ ऊंची आवाज में बोलने लगे कि यह स्त्री अपवित्र है, कुलटा है और व्यभिचारिणी है। अतः हम पत्थरों से इसके टुकड़े-टुकड़े कर देंगे। यह बात सुनकर ईसा मौन रहे और नम्रतापूर्वक धीरे से बोले, "आपका क्रोध में आना उचित और स्वाभाविक ही है। बुराई के लिए किसी के हृदय में भी दया नहीं होनी चाहिए। मगर दंड देने का अधिकार उसे ही हो सकता है, जिसने कभी कोई अपराध न किया हो। इस स्त्री पर पहला पत्थर वही फेंकेगा, जिसने पहले कभी बुराई और व्यभिचार न किया हो। आपमें से यदि कोई ऐसा है, तो वह सामने आए।"

उनकी यह बात सुनकर भीड़ में इकट्ठे लोगों की उत्तेजना कुछ कम होने लगी और एक-एक कर सब लोग चले गए। भीड़ के बिखर जाने पर यीसू ने उस स्त्री के घाव साफ किए। बड़े प्यार से पूछा, "बहन ! भूल तो सबसे होती है, मगर मनुष्य की महानता इसी में है कि एक बार भूल करके फिर उसे न दोहराए। तुम अपने मन को शान्त करो और भविष्य के लिए पश्चात्ताप करो तथा बुराई की ओर मत जाओ।"

यीसू के जीवन की एक और घटना महत्त्वपूर्ण है जो आज मानव-जाति के लिए शिक्षाप्रद है। एक बार फिलिस्तीन देश के मध्य भाग में मामरिया

नामक नगर से होकर जाते हुए वे एक स्त्री से बातें करने लगे जो उस कुएं पर पानी लेने आई थी । यीसू थके-प्यासे थे । उन्होंने उस स्त्री से पीने के लिए पानी मांगा । यीसू की बात सुनकर स्त्री को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह सोचने लगी, क्या यीसू नीच जाति की स्त्री के हाथ से पीने के लिए पानी लेंगे । उसका यह संकोच समझकर यीसू ने उस स्त्री को कहा, "यदि तू ईश्वर की बात को समझती और यह भी जानती कि वह कौन है जो तुझको कहता है कि मुझे पानी पिला दो, तो तू उससे कुछ मांगती और वह तुझे जीवन का पानी (विवेक) देता ।"

यीसू ने उसे आगे समझाते हुए कहा, "यह जीवन पानी पीने वाले मनुष्य की छाती में एक ऐसी क्रिया पैदा करता है जो अंत तक छलकता रहेगा ।"

उस स्त्री ने यीसू के उपदेशों को ग्रहण कर अपने जीवन को पूरी तरह बदल लिया । अतः मनुष्यता के सामने कोई बड़ा-छोटा नहीं है । सभी ईश्वर की संतान हैं और सभी एक जैसे हैं और एकसमान प्रतिष्ठित हैं ।

इस प्रकार हजरत मोहम्मद का हृदय भी स्नेह से छलकता रहता था । जब वे घर से निकलते थे, तो बच्चे उनके चारों ओर इकट्ठे हो जाते थे और वे उनसे प्यार करते थे । दुःखी और पीड़ित लोग अपनी वेदनाभरी गाथाएं सिसकियां ले-लेकर उन्हें सुनाते और अपनी मानसिक पीड़ा के भार को हल्का करते । एक दिन मोहम्मद साहिब घर से बाहर निकले । वे घूमते-घूमते एक घर के सामने आकर रुक गए । उन्होंने भीतर से चीत्कार सुनी । वे घर के अन्दर गए । देखा, एक स्त्री अपने बच्चे को गोद में लेकर बहुत बुरी तरह विलाप कर रही है । उसका हृदय-विदारक विलाप सुनकर मुहम्मद साहब को मानसिक आघात लगा और वे उसके समीप बैठ गए । वह और भी फूट-फूटकर रोने लगी । उन्होंने उसे सांत्वना दी, हिचकी बंद होने पर उसने कहा कि मेरी यह इकलौती संतान है । मौत इसे ले जा रही है । क्या करूं, विवश हूं । उसकी दयनीय अवस्था को देखकर मोहम्मद साहिब की आंखें भी आंसुओं से गीली हो गईं । उन्होंने बच्चे को अपनी गोद में लिया । बड़े प्यार से उसके सिर और शरीर पर हाथ फेरा और बड़ी देर तक अपनी छाती से चिपकाए रखा । फिर उन्होंने बड़े प्यार और सद्भावना से उसे समझाया और धैर्य दिया । अपने उपदेशों से उसके दुःख को हल्का किया । बच्चे को जाना था, वह चला गया । ईश्वर की ऐसी ही इच्छा थी । उस स्त्री ने अनुभव किया कि उसके दुःख को बांटने वाला भी कोई है । उसका दुःख उनके उपदेशों से बहुत कुछ हल्का हुआ ।

मानवता के सिद्धान्तों पर चलने वाले के लिए यह संसार जो साम्प्रदायिकता, स्वार्थ, असमानता, धार्मिक वैमनस्य, अनैतिकता और अन्य बुराइयों तथा कुरीतियों की दलदल में फंसा हुआ है, एक चुनौती है । जीवन के हर पग पर कठि-

नाइयों और अड़चनों का सामना करते हुए मानवतावादी को अपना लक्ष्य पूरा करना है।

भगवान् महावीर घर से निराश होकर मुक्ति की खोज में ईश्वर-भक्ति के लिए घने जंगलों में चले गए थे। वे अपनी तपस्या में बेसुध थे। तपस्या में इतने लीन थे कि एक किसान आया और बोला—"मैं खाना खाने गांव जा रहा हूं और तुम तब तक मेरे बैलों को देखते रहना।" वह इतना कहकर चला गया। थोड़ी देर बाद जब वह वापस आया तो उसने देखा कि उसके बैल वहां नहीं हैं। उसने उनसे पूछा, मगर वे तो अपनी तपस्या में मग्न थे। यह देखकर उसने विचार किया कि सम्भव है कि इसने मेरे बैल इस अभिप्राय से छिपा लिए हों कि मैं निराश होकर अपने घर वापस चला जाऊंगा और फिर निश्चित होकर उन बैलों को हांककर अपने घर ले जाएगा। यह सोचकर उसने भगवान् महावीर को गालियां देना शुरू कर दीं, उन्हें पीटा भी, मगर उनमें किसी प्रकार की चेतना पैदा नहीं हुई। उन्हें उस पर क्रोध नहीं आया, बल्कि दया आई। उन्होंने सोचा कि इस किसान ने अज्ञानी और विवेकहीन होने से हिंसा की है। अज्ञानवश जो मनुष्य क्रोध में अत्याचार करता है, वह स्वयं भी दुःखी होता है। यह था वह दृष्टिकोण जिसके माध्यम से भगवान् महावीर ने मनुष्य मात्र की सेवा की थी।

इसी तरह भगवान् बुद्ध को भी कई बार अपार कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। जब कौशाम्बी के राजा की राजकुमारी अविवाहित थी, तब उसके पिता ने बुद्ध से विवाह करने का प्रस्ताव रखा। बुद्ध ने उत्तर दिया, "यह शरीर नश्वर है। इससे मोह को त्यागने और मुक्ति की खोज में ही तो मैंने घर के सब सुख और राजकीय वैभवों का त्याग किया है। अतः मैं विवाह कैसे कर सकता हूं।"

उस अविवाहित युवती को अपनी सुन्दरता और यौवन पर बड़ा गर्व था। जब उसने इस प्रकार का रूखा व तिरस्कारभरा उत्तर सुना तो उसने इसे अपना अपमान समझा। उसने इस अपमान का बदला लेने का निश्चय किया। उसका विवाह राजा उदयन से तो हो गया, मगर बदला लेने की भावना उसके मन में बनी रही। एक बार भगवान् बुद्ध कौशाम्बी आए। रानी ने कुछ लोगों को धन देकर उन्हें और उनके अनुयायियों को परेशान करने के लिए कहा। उन लोगों ने अपनी रानी की आज्ञा का पालन करते हुए भगवान् बुद्ध और उनके अनुयायियों का अपमान किया। जहां-जहां वह भिक्षा लेने जाते थे, उनका पीछा कर उन्हें तंग किया जाता। गालियां तक दी जातीं। इस अभद्र व्यवहार से उनके अनुयायी बहुत परेशान हुए। उन्होंने अपनी दुःखभरी गाथा अपने भगवान् बुद्ध को कह सुनाई और प्रार्थना की कि उन्हें इस शहर को छोड़कर कहीं और चले जाना चाहिए। भगवान् बुद्ध ने मुस्कराते हुए कहा—"यदि उन लोगों ने वहां भी आकर गालियां दीं और अपमान किया तो फिर क्या करोगे?" शिष्यों ने उत्तर दिया

कि "कहीं और चले जाएंगे।" फिर भगवान् बुद्ध ने कहा, "यदि वहां भी ऐसा ही हुआ तो ?" उन्होंने फिर अपनी बात दोहराई कि कहीं और दूसरे शहर चले जाएंगे। तब भगवान् बुद्ध ने उन्हें समझाया कि यदि हम इसी प्रकार की भाग-दौड़ करते रहे तो कष्टों और परेशानियों से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकेंगे। यदि हम धैर्य, संतोष तथा शांतभाव से परेशानियों को सहन करेंगे तो फिर हमें यहां से भागने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और वे लोग स्वयं अपने-आप ही शांत हो जाएंगे। महात्मा बुद्ध की परीक्षा यहीं समाप्त नहीं हुई। उनके विश्वस्त अनुयायियों ने क्रोध में उनके पांव पर एक बहुत बड़ा पत्थर फेंक दिया, जिस कारण उनका पांव जख्मी हुआ और वे बहुत दिनों तक चल-फिर न सके। परन्तु इस पर भी उनके हृदय में अपने अनुयायियों को दंड देने का भाव पैदा नहीं हुआ। उनके दुर्व्यवहार को उन्होंने बड़े धैर्य और शांति से सहन किया। अपने विरोधियों के साथ उदारता का व्यवहार रखना बड़ा कठिन होता है। मगर यह भी सत्य है कि इस कसौटी पर पूरा उतरने पर ही कोई बुद्ध बन सकता है और मानव-जाति की सेवा कर सकता है।

इसी प्रकार महात्मा गांधी के जीवन की यह घटना भी शिक्षाप्रद है। चम्पारन के लोग अंग्रेजों के अत्याचार से बहुत परेशान थे। उनकी वेदना सुनकर गांधीजी वहां गए। उनके वहां जाने से लोगों में धैर्य और जागृति पैदा हुई। इससे अंग्रेजों के स्वार्थ को धक्का लगा और वे परेशान होने लगे। एक दिन गांधीजी के एक अनुयायी ने उन्हें सूचना दी कि एक क्रूर अंग्रेज उन्हें मार देना चाहता है। यह जानकर वे एक खामोश और अंधेरी रात में उस अंग्रेज के घर चले गए। उससे भेंट की और कहा कि मैंने सुना है कि आपने मुझे मार डालने के लिए कुछ लोगों को तैयार किया है। ऐसा करने की क्या आवश्यकता है ? मैं बिना किसी भय और संकोच आपके पास आया हूं। वह अंग्रेज उनकी स्पष्ट बात सुनकर बड़ा लज्जित हुआ और पश्चात्ताप की ज्वाला में जलने लग गया। गांधीजी के इस व्यवहार ने उसका हृदय-परिवर्तन कर दिया था।

उपर्युक्त सब उदाहरणों को उद्धृत करने का तात्पर्य यह है कि कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जो मनुष्यता के आदर्शों की शिक्षा न देता हो। वास्तव में सब धर्मों का स्रोत एक ही है और मानवता की सच्ची व्याख्या यही है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई भेद और अंतर नहीं है। सभी मनुष्य एक समान हैं। इसी प्रकार अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म की उदारता तथा सम-भाव के साथ मेल नहीं खाती और न ही इसे हिंसा और शक्ति से बनाए रखा जा सकता है। जब संसार के इतने बड़े-बड़े विशाल साम्राज्य अपने स्वार्थों और कुरीतियों से विनाश के गर्त में लुप्त हो गए, निरंकुशता तथा कुरीतियों को अपनी राज्य-शक्ति से स्थायी न बना सके, तो हिन्दू-समाज में स्वार्थवश प्रचलित

अस्पृश्यता की कुप्रथा का टिके रहना कैसे सम्भव है। यह अवश्य ही समाप्त होगी। संसार मनुष्यता की नींव पर खड़ा है। चारों ओर अशांति, परेशानी और असन्तोष के वातावरण को समाप्त करना है और संसार को विध्वंस से बचाना है, तो मनुष्यता की रक्षा करनी होगी। हमें अपने आचार-विचार से मानवता की नींव को सुदृढ़ करना होगा। यह वही नींव है जिसे मजबूत बनाने के सपने भगवान् राम, कृष्ण, मोहम्मद, ईसामसीह और गांधी जैसे अवतारी पैगम्बरों और महा-पुरुषों ने देखे थे।

12

आर्थिक असमानता

निःसंदेह स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद संविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन-जातियों को पूरा संरक्षण दिया गया है, मगर क्रियात्मक रूप में जो परिणाम दृष्टिगोचर हुए हैं, वे सन्तोषजनक नहीं रहे। इतने लम्बे समय में इतना प्रयास करने पर भी हम समाज में समानता नहीं ला सके। इसका फल यह हुआ कि पिछड़े वर्ग के लोग पहले की तरह ही दरिद्रता और हीनता के शिकार हैं। आज भी वे उसी पिछड़ेपन के अंधकार और अस्पृश्यता की दलदल में फंसे हुए हैं, जिसमें उनके पूर्वज शताब्दियों से पिसते आ रहे हैं। संविधान में आरक्षण के प्रावधान के अनुसार देश में आर्थिक समानता लाने और समाज को मानवता के आधार पर खड़ा करने के लिए कई प्रकार की कल्याणकारी योजनाओं को चालू किया गया, मगर खेद है कि जनता से करों के रूप में प्राप्त की गई करोड़ों रुपयों की धनराशि का व्यय करने पर भी स्थिति प्रायः पूर्ववत् ही रही। सरकार का कोई भी कार्यक्रम इस दिशा में कुछ भी उल्लेखनीय परिवर्तन पैदा न कर सका। इसका लाभ केवल अवसरवादियों और स्वार्थी लोगों ने ही उठाया। उन्होंने सरकारी सुविधा को प्राप्त करने के लिए हर साधन को अपनाया। यद्यपि संविधान में अनुसूचित वर्गों के लोगों को पूरा संरक्षण दिया गया है। उन्हें देश के अन्य वर्गों के समकक्ष लाने की नीति घोषित की गई है और समाज में पैदा होने वाली बुराइयों तथा अस्पृश्यता को दूर करने के लिए बार-बार आश्वासन दिए जाते हैं, तथापि इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। आवश्यकता इस बात की थी कि समाज को घुन की तरह अन्दर-ही-अन्दर खाने वाली कुरीतियों और अस्पृश्यता की घृणित परम्परा का समूल नाश कर दिया जाता। यदि यह पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकती थी तो आंशिक रूप से ही कुछ कम हो जाती, मगर कमी होने की अपेक्षा इन बुराइयों में वृद्धि ही हुई है। परस्पर तनाव भी बढ़ा है। स्वार्थी वर्ग अनुसूचित वर्गों के लोगों को समाप्त करने के लिए तत्पर

हैं। इस प्रजातंत्रीय कार्य-प्रणाली में आज हर कोई अपने उत्तरदायित्व को दूसरे के माथे पर मढ़ता है। हर कोई यही चाहता है कि उसकी जो जिम्मेदारी है, उसे दूसरे पूरा करें। कोई भी अपने कर्त्तव्य को निभाने में उत्साह एवं रुचि नहीं दिखाता। इसका परिणाम यह हुआ है कि सरकार देश में सुराज्य स्थापित करने के जो वचन लोगों को देती रही है, वे पूरे नहीं होते। वह गांधी का राम-राज्य लोगों को न दे सकी। कागजों में कल्याणकारी कार्यक्रम बनाना और बात है और उन्हें पूरी ईमानदारी के साथ लागू करना दूसरी बात। लोगों की दृष्टि में अब इन कार्यक्रमों का कोई महत्त्व नहीं रहा है। वास्तव में स्थिति ऐसी है कि किसी ने इस समस्या के समाधान के विषय में गम्भीरता से अभी तक विचार नहीं किया। समस्या केवल अस्पृश्यता की नहीं है। इसका सम्बन्ध आर्थिक स्थिति से है। हम देखते हैं कि अछूत जाति से सम्बन्ध रखने वाले ऐसे लोग, जो आर्थिक दृष्टि से उन्नत हैं, वे समाज में आदर और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते हैं। मगर दूसरी ओर आर्थिक दृष्टि से दीन-हीन लोग भले ही कितनी उच्च जाति से सम्बन्ध क्यों न रखते हों, सदैव घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते हैं। यही कारण है कि अनुसूचित वर्ग के लोग भी आपस में विभाजित हैं और परस्पर छुआछूत करते हैं।

भारत एक बहुत पुरानी सभ्यता और संस्कृति का देश है, जहां कई प्रकार के रीति-रिवाज और रूढ़िवादी कुप्रथाएं प्रचलित हैं। इसे शताब्दियों की गरीबी, सामाजिक बुराइयों और छुआछूत की बीमारी विरासत में मिली है। समाज का कई भागों में विभाजन, एक-दूसरे का शोषण, भविष्य के कल्याणार्थ आर्थिक सुविधाओं का अभाव, आर्थिक विकास में असमानता, स्वार्थी वर्ग के लोगों का अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण, विवेक की कमी, उत्तरदायित्व के प्रति उदासीनता, राजनैतिक उद्देश्य के लिए जात-पांत के नाम पर वर्गवाद का प्रचार, अपने निहित स्वार्थों और अपनी प्रभुसत्ता को बनाए रखने हेतु दूसरों का शोषण आदि कारणों से समाज में छुआछूत को प्रश्रय मिला था। आर्थिक और सामाजिक असमानता के कारण इनमें हीनता के भाव पैदा हुए और समाज में जिनका स्तर ऊंचा था, जो प्रतिष्ठित समझे जाते थे, वे उनको तुच्छ भाव से देखने लगे।

अंग्रेजों ने अपने राज्य की नींव को स्थायी बनाने के लिए देश में एक ऐसा वर्ग पैदा किया, जिसका काम उनके शासन को सुदृढ़ बनाना था, जो कि राजाओं, नवाबों, ताल्लुकेदारों, जागीरदारों, जमींदारों और बड़े-बड़े धनाढ्य लोगों पर आधारित था। इन्हीं लोगों की सहायता से अंग्रेजों ने अपने शासन को सुदृढ़ किया, चिरस्थायी बनाया। समाज का वह वर्ग जो गरीब था और आर्थिक दृष्टि से बड़ा पिछड़ा हुआ था, घृणा और हीनता का शिकार बना। अंग्रेजों की इस कूटनीति ने सामाजिक समस्याएं पैदा कर परस्पर घृणा और वैमनस्य

पैदा किया। विशेषत: जागीरदारों ने अपने तथाकथित गर्व में देश के क्रूर स्वयंभू शासक बनकर निम्न जाति के इन लोगों पर बहुत अत्याचार किए। ये गरीब उनके बर्बर अत्याचारों का निशाना पीढ़ी-दर-पीढ़ी बनते रहे। यह भी एक कारण था कि छुआछूत की बीमारी बढ़ती चली गई। आर्थिक विकास न होने से उनमें हीनता की भावना पनपती रही। फलस्वरूप कहीं और तो क्या, वे अपने गांव में भी लोगों से बात नहीं कर सकते थे। गांवों में बस्ती से दूर इनको अपने रहने के लिए झोंपड़ियां बनानी पड़ीं। ऐसा नमूना आज भी गांवों में देखने को मिलता है। मगर स्वतंत्रता के बाद यद्यपि संविधान में अनुसूचित वर्गों के लोगों को बहुत सुविधाएं प्रदान की गई हैं, तथापि कांग्रेस सरकार की जो इच्छा थी और जिस समानता के लिए उसने संघर्ष किया था, उसे पूरा करने के लिए संविधान में समुचित स्थान तो दिया, पर अपने उद्देश्य में सरकार को लक्ष्यानुसार सफलता फिर भी नहीं मिली। यह बड़े दुर्भाग्य की बात थी कि सरकारी अधिकारी इन संरक्षणों को पूरी तत्परता के साथ कार्यरूप न दे सके। यही कारण था कि इस सामाजिक बुराई को दूर करने में उन्हें आशाजनक सफलता नहीं मिली। जनता पार्टी की सरकार ने भी उसी पुरानी कार्य-प्रणाली को अपनाया।

छुआछूत, जिसे हमारे पूर्वजों ने अपने जीवन को दांव पर लगाकर समाप्त करने का संकल्प किया था उसी को कांग्रेस सरकार ने अपना उद्देश्य बनाया और देश से समाप्त करने के लिए कहीं-कहीं आंशिक रूप में सफलता भी प्राप्त की। मगर खेद है कि उनके द्वारा किया गया सारा प्रयास जनता पार्टी की अल्पजीवी सरकार की केवल मात्र काल्पनिक प्रयासों की धारा में डूबकर लोप हो गया। छुआछूत बना ही रहा। जनता पार्टी के शासनकाल में उस युग का स्मरण होने लगा कि जब शैव-मत के प्रचार के लिए ब्राह्मणों ने दूसरे मतावलम्बियों पर बर्बर अत्याचार किए थे और जिन्होंने अपने स्वार्थ और व्यक्तिगत सत्ता को बनाए रखने हेतु हिन्दू-समाज के एक वर्ग को अछूत बनाकर पृथक् कर दिया था, यही कारण है कि आज फिर हिन्दू-समाज में छुआछूत का जोर बढ़ रहा है। निम्न-जाति के लोग पूर्ववत् नाना प्रकार के अत्याचारों का शिकार हो रहे हैं।

आज सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रजातंत्रीय सरकार का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि जहां वह उचित समझती है वहां स्थिति को अपनी शक्ति और साधनों द्वारा दूर करे। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों को उन्नत कर उनको दूसरों के समकक्ष लाया जाए। मनुष्य अधिक समय तक असमानता की पीड़ा से सिसक नहीं सकता। मानसिक अशांति मनुष्य के विवेक को परेशान और अशांत करती है। यदि छुआछूत की इस बीमारी तथा आर्थिक असमानता के इस महारोग पर नियंत्रण न किया गया तो देश बिखर जाएगा और प्रजातंत्र, जिसके अभिभावक होने का राष्ट्रीय नेता दम भरते हैं, स्थिर नहीं रह सकेगा।

केवल उन्हीं लोगों को ही नहीं, जिन्हें 'अछूत' कहा जाता है, अपितु ऐसे सभी लोगों को जिनके पास रहने का कोई स्थान नहीं है, जो सड़कों, पटरियों पर खुले आसमान के नीचे रात काटते हैं, जिनकी बस्तियां इतनी गंदी हैं कि वहां पर बैठना तो दूर, क्षण-भर के लिए खड़ा होना भी कठिन है और जहां हर प्रकार के पाप, भ्रष्टाचार, अपराध और बुराइयां जन्म लेती हैं, यदि ऐसे सभी लोगों की आर्थिक और सामाजिक अवस्था में सुधार न लाया गया तो देश का आकार बदल जाएगा। निःसंदेह हमारा राष्ट्र विनाश के कगार पर खड़ा है। इस तरह की स्थिति अनिश्चित काल तक नहीं रह सकती। यह नहीं हो सकता कि समाज में एक वर्ग सदैव ऐसा रहे जो आर्थिक तौर से सुदृढ़ हो और उसकी पकड़ इतनी सशक्त हो कि वह अपने एक संकेत से अपनी निहित स्वार्थपरायणता को पूरा करता रहे और समाज में दूसरा ऐसा वर्ग हो जो दूसरों से मांगकर अपना पेट भरता हो और भूखे-नंगे रहकर अपने परिवार का पालन-पोषण करता हो, जिसके रहने का ठिकाना न हो। यह आर्थिक असमानता दूर करने की जिम्मेदारी प्रजातांत्रिक सरकार के मुख्य कर्त्तव्यों में आती है। अतः हिन्दू-समाज को खोखला कर रही सामाजिक बुराइयों को उन्हें सरकारी और गैर-सरकारी प्रयासों से दूर करने की आवश्यकता है। कोई भी नीति तब तक लागू नहीं हो सकती, जब तक उसमें लगन और ईमानदारी न हो। केवल प्रचार के लिए ही योजनाओं को लागू न किया जाए, बल्कि स्थिति को बदलने के निश्चय से काम किया जाए। कार्यक्रमों में बाधा डालने वालों के साथ सख्ती से निबटा जाए। यह केवल सरकार की सशक्त कार्यपालिका ही कर सकती है। इसमें जनता का सहयोग भी मिलेगा।

यद्यपि देश को समृद्ध बनाने और लोगों की आर्थिक दशा में सुधार लाने हेतु सरकार की नीति के अनुसार पूंजीपतियों ने बड़े-बड़े कारखाने और उद्योग चालू किए हैं। उनमें काम करने वाले प्रायः यही आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग के मजदूर ही होते हैं, जिनका निर्वाह दैनिक मजदूरी पर ही होता है। मगर ऐसे सभी कार्यक्रम केवल शहरों तक ही सीमित हैं। इसलिए मजदूरी की खोज में लोग अपने गांव से चलकर शहरों की ओर आते हैं। उनके परिश्रम से पूंजी में तो वृद्धि होती है। मगर काम करने वाले उन गरीब मजदूरों को इसका लाभ प्राप्त नहीं होता। यह लाभ मालिक ही प्राप्त करते हैं। उनकी चल और अचल सम्पत्ति में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होने से वे लोग अमीर से ज्यादा अमीर होकर समाज में अपने स्वार्थ की सुरक्षा के लिए हर प्रकार की सत्ता प्राप्त कर गरीब लोगों का शोषण करते हैं। मगर दूसरी ओर वे लोग, जो केवल मजदूरी पर ही निर्भर हैं, उन्हें इतनी कम उजरत मिलती है कि वह उनके दैनिक भोजन के लिए भी पर्याप्त नहीं होती। वे अपना और अपने परिवार के लिए भरपेट खाने और वस्त्र प्राप्त करने की मानसिक परेशानी में हर समय चिन्तित रहते हैं। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी

गरीबी, निर्धनता और अभावों से उनका पीछा नहीं छूटता जो बुराइयों और छूत-छात के पनपने में सहायक हैं । इससे बुराई और भ्रष्टाचार में वृद्धि होती जा रही है, मगर इसका लाभ भी उच्च वर्ग के वे लोग ही उठाते हैं । शहर का वातावरण दूसरी तरह का होता है । यहां पैदा होने वाली बुराई का पता देर से चलता है । इसका प्रभाव बहुत भयंकर होता है । यद्यपि कुछ समय तक उस बुराई को दबाया जा सकता है । बुराई भले ही थोड़ी हो या अधिक, पर इसका अन्त होना आवश्यक है । आर्थिक समानता लाने के लिए सरकार को पूंजीपतियों की उपेक्षा करके इस समस्या पर विचार करना पड़ेगा, ताकि कमजोर तथा असहाय वर्ग में बढ़ता हुआ असंतोष नियंत्रित किया जा सके ।

हम देखते हैं कि औद्योगीकरण के फलस्वरूप आज देहात खाली हो रहे हैं । लोग मजदूरी की खोज में अपनी आर्थिक परेशानियों के कारण अपने पूर्वजों के गांव छोड़कर शहरों की ओर दौड़ते हैं । इस समाज-व्यवस्था को विश्रृंखलित होता देखकर महात्मा गांधी के परामर्श से कांग्रेस पार्टी ने यह नीति बनाई थी कि देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए हमें देहातों को सुदृढ़ और सशक्त बनाना होगा, ताकि देश के देहात सर्वप्रथम आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ हो सकें । ग्रामीण उद्योग-धन्धों और घरेलू लघु व्यवसायों को बढ़ावा देने की नीति भी निर्धारित की गई थी । अपने विचारों को व्यक्त करते हुए उन्होंने लोगों को बताया था कि देश की जनता को सम्पन्न बनाने और उनकी आर्थिक दशा को सुधारने के लिए हमें देहाती उद्योग-धन्धों को बढ़ावा देना चाहिए । इसके बिना हम आर्थिक प्रगति नहीं कर सकते । मगर खेद है कि महात्मा गांधी के इन विचारों पर किसी ने भी गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया । स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस सरकार ने यद्यपि अपने विधान में घरेलू उद्योग-धन्धे और लघु ग्रामीण उद्योगों को बढ़ावा देने की नीति को अपनाया है तथापि इसके ठोस परिणाम सामने नहीं आए । फल यह हुआ कि देश के असहाय और निर्बल वर्ग के लोग आर्थिक दृष्टि से उन्नत न हो सके और न ही छुआछूत की बुराई ही समाज से समाप्त हो सकी ।

यह कहा जाता है कि शिक्षा के प्रसार से, खेती-बाड़ी के लिए जमीन की भूख समाप्त करने, मकानों के लिए जमीन उपलब्ध करने, कारोबार के लिए आसान किस्तों पर ऋण देने, नौकरियों में आरक्षण और अन्य सुविधाएं इत्यादि प्रदान करने से छुआछूत दूर हो सकेगी । मगर ये सुविधाएं प्रदान करने पर भी इस वर्ग की दशा में सुधार दिखाई नहीं दिया और न ही इन लोगों ने उन सब विशेष सुविधाओं का लाभ ही उठाया । उनके जीवन में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं दिया और न ही उनके ऋण का बोझ ही कम हुआ । अतः दूसरे साधन जुटाने की नितांत आवश्यकता है ताकि समाज में आर्थिक समानता लाई जा सके । सरकार की वर्तमान नीति से निर्धनता में वृद्धि हुई है और घृणा तथा वैर-विरोध पैदा

हुआ है। इन लोगों की दशा में सुधार लाने के लिए प्रगतिशील पग उठाने की जरूरत है। इसमें सन्देह नहीं कि बड़े-बड़े उद्योग भी, जहां हजारों लोग काम करते हैं, आर्थिक परिवर्तन नहीं ला सके। इसका एकमात्र उपाय यही है कि आर्थिक समानता के लिए गांवों के घरेलू उद्योग-धन्धों को उनकी आवश्यकतानुसार उत्साहित किया जाए। अपनी प्रगतिशील नीति में अधिक निष्ठा के साथ सरकार को चाहिए कि ग्रामीण उद्योगों का ऐसा जाल बिछाया जाए कि इन लोगों को मजदूरी के लिए शहर की ओर भागने की जरूरत ही न पड़े। गांवों के समृद्ध होने से उन लोगों के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन होगा। इस परिवर्तन से छुआछूत की बुराई समाप्त होने की सम्भावनाएं पैदा होंगी। यह तथ्य है कि ग्रामीण और पिछड़े हुए सुदूर इलाकों की उन्नति और प्रगति का आधार उनके क्षेत्रीय उद्योग-धन्धों पर निर्भर है। जब तक उनके गृह-उद्योग-धन्धों को उत्साहित नहीं किया जाता और जब तक उनकी आवश्यकता का अधिकतर भाग उनके घरेलू उद्योगों से पूरा नहीं होता, तब तक गांव और वहां के लोग पूरी तरह से समृद्ध नहीं हो सकते। अतः देश के आर्थिक विकास में स्थिरता लाने और अपने बलबूते पर गरीबी को दूर करने के लिए देश के देहातों में सक्रिय रूप से रचनात्मक कार्यों की नितांत आवश्यकता है। पंचवर्षीय योजनाओं से गांवों का सुधार मूल रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता। लोग पहले की तरह ही गरीबी और छूतछात के अभिशाप में सिसक रहे हैं। यदि आर्थिक रूप से इनकी अवस्था में उल्लेखनीय सुधार लाया जा सके तो सम्भव है कि गरीबी समाप्त होने के साथ-साथ अस्पृश्यता भी समाप्त हो जाए। इसके साथ यदि गांव अपने घरेलू उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में उन्नत हो जाते हैं तो उस अवस्था में बढ़ती हुई भयानक बेकारी भी अपने-आप समाप्त हो जाएगी। लोग मजदूरी और नौकरी की खोज में परेशान नहीं होंगे। उनके पास अपना ही इतना काम होगा कि उन्हें कुछ और सोचने का अवसर नहीं मिलेगा।

संसार के जो देश प्रगतिशील और समृद्धिशाली हैं, उन्होंने अपने गांवों के कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य करके उन्हें इस योग्य बना दिया है कि वे आत्मनिर्भर होकर हर विपरीत स्थिति का मुकाबला कर सकें। इसके परिणामस्वरूप उन देशों में आर्थिक स्थिरता पैदा होने से बेकारी तथा गरीबी समाप्त हुई है। इसी के फलस्वरूप वहां ऊंच-नीच का भेद-भाव भी समाप्त हुआ। पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था कि यदि आप किसी देश की उन्नति देखना चाहते हों, तो आप केवल वहां के शहरों का वातावरण, उनकी चकाचौंध और चहल-पहल देखकर यह अनुमान नहीं लगा सकते कि वह देश वास्तव में समृद्ध है और वहां कोई बेकारी अथवा बुराई नहीं है। उसके समृद्ध होने का अनुमान लगाने के लिए आपको गांवों में वहां के लोगों को देखना होगा। यदि वहां के लोग समृद्ध हैं, वहां के

उद्योग-धन्धे उन्नतिशील हैं तो आप निःसंकोच अपना मत दे सकते हैं कि वह देश समृद्ध एवं उन्नत है। यदि उस देश के गांव दरिद्रता में सिसक रहे हों तो उस देश की शहरी चकाचौंध कितनी भी आकर्षक क्यों न हो, उन्हें उन्नत व समृद्ध नहीं कहा सकता। इस प्रकार हमारा देश भी तभी समृद्ध और आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होगा, जब यहां के गांव आत्मनिर्भर हो जाएंगे। और, ऐसा तभी हो सकता है जब उनके घरेलू उद्योग-धन्धों को नया रूप देकर उत्साहित किया जाए। इसके लिए यह आवश्यक है कि देशभक्ति की भावना रखनेवाले प्रशिक्षित कर्मचारी पूरी लगन के साथ गांव में जाकर उनके उद्योग-धन्धों की व्यवस्था करके वहां के लोगों को प्रशिक्षित करें। इसके साथ ही उनकी औद्योगिक पैदावार के लिए बाजार भी पैदा किए जाएं, जहां उनका तैयार माल शुद्ध और बढ़िया होने के गुणों के आधार पर शीघ्र बिक सके। यद्यपि खादी कमीशन ने इस कार्यक्रम को अपने उत्तरदायित्व में लिया है और देश के गांवों के उद्योग-धन्धों को पुनर्जीवित कर उनकी आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली है तथापि स्वतन्त्रता-प्राप्ति से लेकर आज दिन तक इन वर्गों की स्थिति में कोई सुधार दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उसकी रिपोर्ट का अध्ययन करने से पता चलता है कि देश की ग्रामीण आर्थिक-स्थिति में उक्त कमीशन ने एक महान् परिवर्तन पैदा किया है। मगर जब उन आंकड़ों की वास्तविकता का मूल्यांकन मौके पर जाकर किया जाता है तो वहां स्थिति कुछ और ही होती है। रिपोर्ट के आंकड़ों के साथ वहां की स्थिति बिल्कुल मेल नहीं खाती। पांचवीं पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण उद्योग-धन्धों को उत्साहित करने का प्रोग्राम विशेष रूप से निर्धारित किया गया था, जिसके अंतर्गत कई बोर्ड गठित किए गए और जिन्होंने इस नीति के अनुसार देश के कुछ जिलों में ग्रामीण उद्योग-धन्धों में कुछ सीमा तक परिवर्तन लाने के लिए प्रयास भी किया, परन्तु इस पर भी सन्तोषजनक परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हुए। यही कारण है कि देश के गांव और ग्रामीण जन आज से चालीस वर्ष पूर्व जहां थे, आज भी लगभग उसी दयनीय स्थिति में हैं। न उनके उद्योग-धन्धों में कोई प्रगतिशील परिवर्तन पैदा हुआ है और न उनकी बेकारी ही दूर हुई है। बल्कि अब भी लोग निराश होकर मजदूरी की खोज में पहले की ही तरह शहरों में भटकते फिरते हैं और तथाकथित सवर्ण जाति के लोग अपनी कूट-भावनानुसार उनका शोषण कर अपना जीवन भोग-विलास में व्यतीत कर रहे हैं।

यह समस्या बहुत गम्भीर है। सबसे प्रमुख प्रश्न जाति के उत्थान का है। गरीबी, पिछड़ापन और अस्पृश्यता के भयंकर रोग से निराश लोगों को सम्पन्न, सुरक्षित और समृद्ध वर्गों के समकक्ष लाने का उद्देश्य हमारे सामने है। उनकी गरीबी और छूतछात को दूर करने के लिए ग्रामीण कुटीर उद्योगों को उत्साहित करने में यदि सरकारी विभाग अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके

तो उन्हें अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए दूसरे उपायों और साधनों को अपनाना चाहिए, जिससे उनकी आर्थिक दशा में सुधार हो सके। योजनाओं और परियोजनाओं पर राष्ट्रीय पूंजी तो खर्च हो जाती है, प्रोग्रामों को चालू करने के लिए कर्मचारी और अधिकारी भी नियुक्त हो जाते हैं पर परिणाम कुछ भी दिखाई नहीं देता। इस समस्या पर विचार करने की आवश्यकता है। देखना यह है कि रिपोर्ट के अनुसार जो व्यय हुआ है उसका प्रयोग ठीक ढंग से हुआ भी है। उस व्यय का निरीक्षण होना परम आवश्यक है। प्राप्त लक्ष्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए जांच-पड़ताल की नितांत आवश्यकता है, ताकि व्यय के अनुपात से वास्तविक प्रगति का मूल्यांकन हो सके। त्रुटियों को पकड़ना और उन्हें दूर करना सम्बन्धित अधिकारियों की जिम्मेदारी है। नीति निर्धारण करने वाले अधिकारी यदि इन कार्यक्रमों के इस पक्ष की ओर गम्भीरता से ध्यान नहीं देंगे तो इस समस्या का समाधान हम कभी भी नहीं कर पायेंगे। यदि कुछ ही वर्षों में इस दिशा में कोई ठोस उपलब्धि नहीं हुई तो इसके दुष्परिणामों की भयंकरता का अनुमान लगाना कठिन है। हम देखते हैं कि आज राष्ट्र के साथ एक धोखा हो रहा है। कल्याण-कार्य योजनाओं और कार्यक्रमों के नाम पर रंग-बिरंगे आकर्षक चित्र तो बहुत दिखाए जाते हैं, पर परिणाम शून्य के बराबर ही निकलता है। यह पाप उतना ही गम्भीर है जितना कि नकली दवाई बेचकर अपने को धनी बनाने का धन्धा करके पूंजीपति कहलवाना है। रोगी इस आशा में अपना धन लुटाता है कि स्वस्थ होने पर वह पुनः मजदूरी करके अपने परिवार का पालन-पोषण करेगा। किन्तु परिणाम कुछ और ही होता है। फलस्वरूप दिन-प्रतिदिन निर्बल होकर एक दिन मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। दूसरे के जीवन से खिलवाड़ करने वाला मनुष्य जिस प्रकार अपराधी है, उसी प्रकार वे लोग भी इस अपराध से बच नहीं सकते। कभी-न-कभी उन्हें राष्ट्र के सम्मुख अपने इस गर्हित व्यवहार का लेखा-जोखा देना पड़ेगा।

ग्रामीण-कुटीरों के प्रोत्साहन हेतु इन देहाती लोगों को कई प्रकार के ऋण उपलब्ध किए जाते हैं, ताकि ये आत्म-निर्भर हो सकें। चूंकि इन लोगों में तकनीकी योग्यता की कमी होती है, इसलिए वे पूंजी को सही ढंग से लगाने और उसे लाभ के साथ वापस लाने की जानकारी से अनभिज्ञ होते हैं। वे अनुभव के बिना पूंजी को खर्च करते हैं। प्रायः उनके ऋण व्यर्थ के कामों और व्यसनों में खर्च हो जाते हैं। वे जिस उद्देश्य से ऋण प्राप्त करते हैं उसका वैसा उपयोग नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त कुछ योजनाएं इतनी व्यर्थ होती हैं कि उक्त ऋण से प्रस्तावित योजना को क्रियान्वित कर पाना भी कठिन हो जाता है। इस तरह पूंजी नष्ट हो जाती है। इन सब कारणों के आधार पर निश्चित लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकते। इन सभी समस्याओं का निराकरण असंभव नहीं है। केवल राष्ट्रीय भावना से

कार्य करने की जरूरत है। बजाय इसके कि ऋण की पूंजी को बढ़ाया जाए, उलटा उनके ऋण की रकम जाया हो जाती है। जब ऋण के भुगतान का समय आता है तो वह ऋण उन पर एक मुसीबत बन जाता है। भुगतान के लिए उन्हें अपने आभूषण, पशु या भूमि आदि बेचकर ब्याज के साथ ऋण का भुगतान करना पड़ता है। दूसरी ओर यही ऋण जब पूंजीपति महाजन अपने व्यापार के लिए प्राप्त करता है तो यह उसके लिए लक्ष्मी बनकर आता है। वह इस ऋण को अपने व्यापार में लगाता है। सब प्रकार के व्यय के बाद वह इस ऋण के रुपये से लाभ प्राप्त करता है। वह बिना किसी मानसिक परेशानी के उक्त ऋण का भुगतान भी समय पर करता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन लोगों में ऋण के रुपये के प्रयोग करने के लिए विवेक पैदा करने की जरूरत है और साथ ही उन क्षेत्रों में ऐसी संस्थाओं के संगठन करने की भी आवश्यकता है, जो उनकी जरूरत के अनुसार देशभक्ति की भावना से सहायता करें ताकि इनकी आर्थिक दशा में सुधार हो सके। वे संस्थाएं यह भी प्रबंध करें कि ग्रामीण कला-कौशल और उद्योग-धन्धों से तैयार होने वाले माल की खपत उनके पूरे परिश्रम के अनुरूप हो सके, ताकि उन्हें काम करने में प्रोत्साहन मिल सके। उनके माल की खपत का प्रबंध करना भी बहुत आवश्यक है ताकि देश के देहात कुछ वस्तुओं को छोड़कर शेष अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएं अपने क्षेत्रों में ही पैदा करें। उनमें यह भावना और वृत्ति पैदा करना सरकार के उत्तरदायित्व में आती है। इस प्रकार देहातों के अपने उद्योग-धन्धे और कला-कौशल में आत्मनिर्भर होने पर क्रय-विक्रय के केन्द्र बन जाने से लोगों की आर्थिक दशा में सुधार हो सकेगा।

उनके कल्याण और उनकी आर्थिक दशा में सुधार लाने के लिए जो कार्य हुए हैं, उनके सन्तोषजनक परिणाम दृष्टिगोचर नहीं हुए। सहकारिता और व्यापारिक आधार पर होने वाले काम से उनकी आर्थिक दशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने हेतु यद्यपि बहुत प्रयत्न किया गया है, तथापि अभी तक कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी है। मगर इस ओर रचनात्मक रूप से कार्य न होने के कारण उनके व्यक्तिगत विचारों में सामूहिक कल्याण की भावना पैदा नहीं हो सकी। यही कारण है कि सहकारिता की नीति के अनुसार प्रस्तावित प्रोग्राम सन्तोषजनक प्रगति नहीं कर सके। इसके अंतर्गत प्राप्त होने वाले ऋण और अन्य सुविधाएं उनके लिए मृत्यु का सन्देश बनकर रह गईं। उनकी दशा समृद्ध होने की अपेक्षा शोचनीय होती चली गई। जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि पिछड़े वर्गों के लोगों का विवेक इतना सीमित होता है कि उनमें प्राप्त होने वाले ऋण आदि से भली-भांति लाभ उठाने की योग्यता नहीं होती। पीढ़ियों से चली आ रही इन सब त्रुटियों को दूर करने के लिए प्रस्तावित संस्था द्वारा ही काम किया जा सकता है। उन्हें इस योग्य बनाया जाए कि प्राप्त किए गए ऋण और

अन्य उपलब्ध होने वाली सुविधाओं का वे लाभ उठा सकें। सामूहिक दृष्टि से सोचने की भावना और नैतिक सूझबूझ पैदा करने की जरूरत है ताकि वे राष्ट्र के लिए एक सुयोग्य सम्पत्ति बन सकें। यही कारण है कि समाज में से एक वर्ग ऐसा पैदा हुआ है जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है, जिस कारण वह हीन भावना में जकड़ा हुआ और अधीन होकर अपना जीवन व्यतीत करने पर विवश है। समाज में इन्हें समान स्तर प्राप्त न होने के कारण, अछूत कहकर उनसे घृणा की जाती है। निर्धनता के कारण उनके रहन-सहन की दशा शोचनीय है। वे उस भयानक दरिद्रता में सिसक रहे हैं कि उन पर दया करने की अपेक्षा उनसे घृणा करके, उन्हें अपने से दूर रखने का प्रयत्न किया जाता है और उन्हें अछूत कहकर पुकारा जाता है। अतः छुआछूत को दूर करने के लिए आर्थिक असमानता को दूर करने की नितांत आवश्यकता है।

13

आर्थिक चित्रण

देश की वर्तमान आर्थिक दशा का अवलोकन करने पर मालूम होता है कि गरीब और गरीब होते जा रहे हैं। पूंजीपति के केन्द्रीभूत होने के प्रमाण स्पष्ट रूप से हमारे सामने हैं। आजादी का लाभ इन पिछड़े हुए वर्ग के लोगों को नहीं मिला। वे जहां पर थे, वहां ही पड़े सिसक रहे हैं। उनके लिए तो केवल शासक ही बदले हैं। शेष सब कुछ यथावत् है। जहां बंधक बिना किसी आशा के अपना जीवन व्यतीत करता है। उनकी आर्थिक दशा में कोई उन्नति नहीं हुई। दूसरी ओर धनी वर्ग और समृद्ध हुआ है। 1937 में पूंजीपति बिरला और टाटा ग्रुप की पूंजी 1.29 करोड़ और 10.66 करोड़ रुपये थी, जबकि 1976 में वह बढ़कर 1,22.04 करोड़ और1,138-28 करोड़ रुपये हो गई। अब तो बिरला तथा टाटा की कोटि के उद्योगपतियों की संख्या बहुत बढ़ गई है जिन्होंने गरीब लोगों का शोषण करके अपनी सम्पत्ति में वृद्धि की है। इनकी एक बड़ी लम्बी-चौड़ी सूची है। देश के इन पूंजीपतियों ने अंग्रेजी शासनकाल में जिस पूंजी में वृद्धि की और लाभ उठाया, क्या उसे उचित समझा जा सकता है? मगर स्वतंत्रता के बाद जब राष्ट्रीय सरकार हो, जिसका मुख्य उद्देश्य कल्याण और प्रगति हो, जहां गरीब, निर्बल व अनुसूचित वर्ग को पूरा संरक्षण प्राप्त हो, उस शासनकाल में उनकी पूंजी में जो वृद्धि हो और जो उन्होंने गरीबों के परिश्रम का शोषण किया हो, वह आपत्तिजनक है। यदि उनकी आवश्यकता और कारोबारी व्यवस्था से इन लोगों को आर्थिक रूप से लाभ होता या उनमें से किसी को कला-कौशल के उच्च पद पर नियुक्त किया जाता तो उनकी बढ़ती हुई पूंजी और लाभ का स्वागत किया जाता। मगर उनके इस उद्योग से यदि इन लोगों की आर्थिक दशा दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती जाए तो स्वाभाविक रूप से वे टीका-टिप्पणी का निशाना बने बिना नहीं रह सकते। कांग्रेस सरकार के 'गरीबी हटाओ' नारे की ओर देश के अनुसूचित वर्ग के भूखे-नंगे सर्वसाधारण जन मुंह उठाकर देखने लगे। उन्हें लगा कि अब इनकी दशा बदलने वाली है। परन्तु सरकार पूंजीपतियों के शिकंजे में थी, जिसका उनकी

इच्छा के बिना आगे बढ़ना कठिन था। मगर गरीब निरन्तर आशा में तबदीली के दिन की प्रतीक्षा में थे। इनको यह पता नहीं था कि यह सब उनके थोथे नारे हैं जिसकी ओर उनका ध्यान आकर्षित करके वे अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। मगर उनकी दशा में कोई सुधार नहीं हुआ बल्कि उनकी मजदूरी का अनुपात अधिक होने की अपेक्षा कम ही होता गया और उनकी दशा पहले से अधिक शोचनीय ही होती चली गई। दूसरी ओर बेकारी के साथ-साथ मजदूरों की संख्या में भी वृद्धि हुई। इनके अतिरिक्त जो किसान कृषि की भूमि से वंचित हैं, उनकी संख्या भी कम होने की अपेक्षा बढ़ी ही है। गोयाकि विगत 1964 से लेकर 1978 तक इनकी संख्या में दो करोड़ की वृद्धि देश में एक बड़ा आर्थिक बोझ है जो राष्ट्र सहन करने के लिए विवश है। यदि देश में इसी गति से इनकी संख्या में वृद्धि होती गई तो स्थिति के गम्भीर होने का भय है।

इस सच्चाई को सरकार ने भी स्वीकार किया है। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन-जातियों के कमिश्नर ने अपनी 1956-57 की वार्षिक रिपोर्ट में सरकार की असफलता का रहस्योद्घाटन करते हुए बताया था कि इन लोगों की आर्थिक दशा में सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो सकी। उन्होंने अपने आंकड़े प्रेषित करते हुए बताया था कि 1.79 करोड़ किसानों की संख्या कम होकर 1.33 करोड़ रह गई है। मगर खेतिहर-मजदूरों की संख्या कम होने की अपेक्षा बढ़ी है। यह वृद्धि 50 प्रतिशत से बढ़कर 57 प्रतिशत के अनुपात में थी। इसी प्रकार ऋण के बोझ से जकड़े ग्रामीण लोगों की संख्या में वृद्धि हुई है। यह 54 प्रतिशत से बढ़कर 64 प्रतिशत हो गयी थी। इस पर ऋण का बोझ 80 करोड़ रुपये से बढ़कर 143 करोड़ रुपये हुआ है। ये आंकड़े बहुत निराशाजनक हैं। ये प्रकट करते हैं कि इनकी आर्थिक दशा कितनी गम्भीर और शोचनीय है और किस अनुपात से पददलित होकर ये खोखले हो रहे हैं। इनके दैनिक पारिश्रमिक बढ़ने की अपेक्षा कम हुए हैं। एक ओर पूंजी मुट्ठी-भर लोगों के पास सिमट रही है और वे समृद्ध से समृद्धतर होते जा रहे हैं और दूसरी ओर एक वर्ग गरीब से गरीबतर होता जा रहा है। सरकारी रिपोर्टों से पता चलता है कि 1953-54 से 1959-60 के भीतर कृषि योग्य जमीन की मलकियत में वृद्धि हुई है, जबकि इन लोगों के पक्ष में कई प्रकार के जोत संबंधी विधानों द्वारा विशेष सुविधाएं उपलब्ध की गई हैं। एक प्रतिशत खेतिहर 17 प्रतिशत, 5 प्रतिशत खेतिहर 51 प्रतिशत और 10 प्रतिशत खेतिहर 58 प्रतिशत भूमि जोत के अंतर्गत है। 1959-60 के बीच यह अनुपात क्रमशः 16 प्रतिशत, 60 प्रतिशत और 56 प्रतिशत हो गया। 20 प्रतिशत भूमिहर के पास कोई भूमि जोत के लिए नहीं है। इसके अतिरिक्त 1950-51 और 1956-57 की खेती-बाड़ी मजदूर एन्क्वायरी कमेटी की पहली और दूसरी रिपोर्ट के अध्ययन से मालूम होता है कि

59 प्रतिशत भूमिहर पूरे तौर से 14.5, जबकि 5.6 प्रतिशत भूमिहर 35 प्रतिशत भूमि पर काबिज हैं। इस प्रकार ये पिछड़े हुए लोग बराबर आर्थिक असमानता का निशाना बने हुए हैं। उनकी दशा में आशाजनक सुधार नहीं हुआ।

दूसरी रिपोर्ट से यह भी पता चलता है कि इनकी दैनिक आय के अनुपात में वृद्धि होने की अपेक्षा कमी दृष्टिगोचर हुई है जो 109 पैसा से केवल 96 पैसा रह गई है और 443 रुपये से घट कर 437 रुपये तक इन पांच वर्षों में कम हो गई है। आय का अनुपात जो 1950 में 104 रुपये प्रति मजदूर था, वह 1956 में कम होकर 99.4 रुपये तक रह गया। आय में कमी और दैनिक प्रयोग में होने वाली वस्तुओं के मूल्य में असाधारण वृद्धि के कारण इनकी आर्थिक दशा और भी गम्भीर हो गई है और 1950 में 8 करोड़ से बढ़कर 1956 में 143 करोड़ तक ऋण का भार इन गरीब लोगों पर पड़ा। अपने जीवन को बनाए रखने हेतु इनको साहूकारों और सहकारी संस्थाओं से ऋण प्राप्त करने के लिए उनके तलवे चाटने पड़ते हैं। इस ऋण से वे और भी दब गए हैं। इस पर भी उनकी आर्थिक दशा में सुधार नहीं हुआ, बल्कि उनकी दशा में बराबर ह्रास ही हुआ है, क्योंकि उन लोगों को समय पर ऋण का भुगतान करने हेतु अपनी चल या अचल सम्पत्ति विवश होकर बेचनी पड़ती है। इस प्रकार वे दुर्भाग्य के चक्कर में फंसकर पिसते रहते हैं और जीवनपर्यन्त अपनी शोचनीय आर्थिक दशा की परेशानी में सिसक-सिसककर इस संसार से विदा होते हैं।

देश में 22 प्रतिशत ऐसे किसान हैं जिनके पास जमीन नहीं है। इसके अतिरिक्त 25 प्रतिशत ऐसे ग्रामीण हैं जिनके पास एक एकड़ से भी कम जमीन है। शेष जो 14 प्रतिशत हैं उनके पास एक एकड़ से दो एकड़—पांच कनाल तक भूमि है, पर वह भी उपजाऊ नहीं, बंजर तथा पथरीली है, अर्थात् 61 प्रतिशत ग्रामीण ऐसे हैं जो गरीबी, जहालत और पिछड़ेपन का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हैं। निरंतर कुरीतियों और अस्पृश्यता की बीमारी में सिसक रहे हैं। उनके पास कुल जोत की भूमि में केवल 8 प्रतिशत भूमि ही जोतांतर्गत है। शेष जोत की भूमि उनके पास है, जो देश के पूंजीपति हैं। इस चित्र के दूसरी ओर 13 प्रतिशत ऐसे लोग हैं, जिनके पास 10 एकड़ से अधिक जोतांतर्गत भूमि है जो 66 प्रतिशत क्षेत्र पर काबिज हैं। जबकि 5 प्रतिशत ऐसे हैं, जिनके पास 20 एकड़ से अधिक भूमि है जो 41 प्रतिशत क्षेत्र पर काबिज हैं, जिससे मुट्ठी-भर धनाढ्य लोग ही लाभ उठाते हैं जबकि दूसरे लोग परिश्रम करने के बावजूद भरपेट खाना प्राप्त नहीं कर पाते।[1] मगर ग्रामीण लोगों के कल्याण के नाम पर मांगें रखी जाती हैं और उनके दुःख और पीड़ा की भावनाओं से ओतप्रोत हो उत्तेजना-भरे भाषण

---

1. इंडियन एक्सप्रेस, 15 जून, 1979।

किए जाते हैं, पर किया उनके लिए जाता है जो पहले ही धनाढ्य होते हैं, जिन्होंने बिजली, खाद, खेती-बाड़ी के उपकरण, ट्रैक्टर, मशीनें और बीज आदि प्राप्त करके सुविधाएं और छूट प्राप्त की है। गांवों के ऐसे भूमिहर जो उन सुविधाओं से वंचित होते हैं, जिनका वर्णन ऊपर आया है, उनकी वकालत करने की कोई जरूरत अनुभव नहीं की जाती। खेती-बाड़ी के धन्धे की गणना यदि ग्रामीण उद्योग में की जाए, उनके लिए काम उपलब्ध करवाने का प्रबंध किया जाए तो उस अवस्था में गरीबी और छूतछात दूर होने की कुछ सम्भावनाएं हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त 'इंडियन नेशनल रूरल लेबर फेडरेशन' के अध्यक्ष ने सरकार की मनोवृत्ति की आलोचना करते हुए बताया था कि 38,42,000 एकड़ भूमि 'लैंड सीलिंग कानून' के अंतर्गत भूमिहरों में विभक्त करने की घोषणा की गई, मगर इसमें से केवल 20,55,000 एकड़ भूमि ही उनसे प्राप्त की गई और उसमें से केवल 12,55,000 लाख एकड़ भूमि भूमिहीन किसानों में बांटी गई। सरकार लक्ष्य के अनुसार प्राप्त की गई पूरी भूमि गरीब भूमिहरों में विभक्त करने के उत्तरदायित्व को निभाने में असमर्थ रही। जो सरकार गरीबों की गरीबी दूर करने की ज़िम्मेदार है और अपनी बड़ी-बड़ी योजनाओं-परियोजनाओं द्वारा उनकी आर्थिक दशा में सुधार लाने की इच्छुक है। सरकार की इस नीति से उसकी ईमानदारी पर सन्देह होता है कि वह सम्भवत: उनकी आर्थिक दशा में रचनात्मक रूप से सुधार लाने की इच्छुक नहीं है।

दूसरी ओर देश की राजनीति में स्थिरता नहीं है। प्रजातंत्र के नाम पर लोगों में भ्रांतियां पैदा की जाती हैं। अनेक निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए देश के बड़े हित को न्योछावर करने में संकोच नहीं किया जाता। अपनी भौतिक इच्छाओं और पारिवारिक स्वार्थ के लिए देश के खजाने को राष्ट्रीय कार्य के नाम पर निर्दयता से व्यय किया जाता है। प्रतिक्रियावश अपना राजनैतिक बदला लेने के लिए कई प्रकार के षड्यंत्र रचे जाते हैं। नाना प्रकार के कूटनीतिक षड्यंत्रों द्वारा प्रांतों के मंत्रिमण्डलों में नित्य नये परिवर्तन किए जाते हैं। अपना नेतृत्व बनाए रखने के लिए हर प्रकार की कूटनीति का प्रयोग किया जाता है। कामचलाऊ होने और स्थिरता न होने से प्रशासन में भय, चिन्ता और अशांति पाई जाती है। यह सारा संघर्ष देशहित के लिए नहीं, अपनी पूंजी बढ़ाने के लिए है। सब इसी संघर्ष में फंसे हुए हैं। वे इस प्रयत्न में हैं कि किसी-न-किसी प्रकार मंत्रिमंडल या सरकार के किसी अन्य संगठन में शामिल होकर अपने परिवार के लिए कुछ सम्पत्ति संचित कर सकें, ताकि उनकी आने वाली पीढ़ियां संचित सम्पत्ति का भरपूर लाभ उठा सकें। जो इस दौड़ में पीछे हैं, वे इस प्रयत्न में हैं कि वे किसी-न-किसी प्रकार सरकार का छोटा-बड़ा अंग बनकर अपनी पूंजी में वृद्धि करने योग्य हो सकें। जिस देश का प्रजातंत्र इस तथाकथित आदर्श के अंतर्गत संगठित

हो, जहां न्याय प्राप्त करना कठिन और बहुत महंगा हो, जहां गरीब नागरिक के लिए न्याय पाना असम्भव हो, जहां न्याय साधारण मनुष्य की पहुंच से बाहर हो, वह प्रजातंत्र भला कितने समय तक टिक सकेगा? इसका तो ईश्वर ही संरक्षक है। यही कारण है कि देश के गांव अभी तक पिछड़े हुए हैं और जहालत में पड़े सिसक रहे हैं। इस आर्थिक लूट-खसोट से अराजकता और उच्छृंखलता को बढ़ावा मिला है। मगर पूछने वाला कोई नहीं है। कारण, प्रशासन का उत्तरदायित्व जिन पर है, उनके पास इतना समय ही नहीं कि वे जन-कल्याण और प्रगति के लिए कोई प्रगतिशील पग उठा सकें। नाक के सामने जो समस्याएं दिखाई देती हैं, उन पर ध्यान दिया जाता है यही कारण है। कि शहरों को तो हर सुविधाओं और कल्याणकारी योजनाओं से विभूषित किया जाता है, पर देहातों को वे सुविधाएं प्रदान करने में संकोच किया जाता है। कारण, प्रगतिशील सूझ-बूझ के अभाव में वे अपने कार्यकाल की अवधि पूरी कर, अपने राजनैतिक जोड़-तोड़ में व्यस्त हो जाते हैं। इस प्रकार का क्रम चलते रहने से ग्रामीण लोगों में न तो आर्थिक परिवर्तन पैदा हो सका और न ही सामाजिक अभिशाप ही समाप्त हो सके।

इनके निराशाजनक जीवन में स्वतंत्रता के इतने वर्ष बाद भी उत्साहजनक कोई भी परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हुआ। निर्बल वर्ग के पिछड़े हुए लोग आर्थिक असमानता के अभी तक निशाना बने हुए हैं। वे अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं अर्थात् भरपेट खाना, रहने के लिए उचित स्थान, शिक्षा और स्वास्थ्य के साधन प्राप्त करने में असमर्थ हैं। ये लोग अपने जीवन से निराश होकर इस संसार से विदा होना चाहते हैं। वे अपनी निर्धनता की परेशानी और निराशा में अपने बच्चों की बिलबिलाहट और सिसकियों को सहन न करते हुए या अपने हृदय पर पत्थर रखकर अपने बच्चों को मृत्यु का ग्रास बनने देते हैं। जिस देश में ऐसी स्थिति हो, वहां कल्याण किस युग में होगा, कुछ भी ठीक से नहीं कहा जा सकता। इतना प्रयत्न करने पर भी यदि लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली तो इसका अर्थ यह हो सकता है कि हमारी कार्य-प्रणाली में कहीं कुछ त्रुटि है। पंचवर्षीय योजनाएं बनाने वालों के लिए यह लज्जा की बात है कि उन्होंने अपनी योजनाओं में उनकी समृद्धि करने के नाम पर उन लोगों में भ्रांति पैदा की है और उनकी आर्थिक दशा में सुधार नहीं कर सके। आर्थिक दशा में सुधार लाने के लिए सरकार और अन्य अर्ध-सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं को गम्भीरता से विचार करके समस्या पर काबू पाना चाहिए।

उपसंहार

आज हमारे हिन्दू-समाज में जो भी कुरीतियां दिखाई देती हैं, उनका सूत्र-पात स्वार्थ साधन के लिए ब्राह्मणों द्वारा ही किया गया। भारत को छोड़कर संसार में किसी भी राष्ट्र में धर्म के नाम पर मानव-जीवन के साथ खिलवाड़ नहीं किया गया। मानवता के नाते सभी का यह कर्त्तव्य बनता है कि वे मानव-जाति के कल्याणार्थ अपने उत्तरदायित्व को समझें। सद्धर्म का लक्षण यही है कि उसमें किसी मूल परिवर्तन के लिए स्थान नहीं रहता। वह मानव-कल्याण और पारस्परिक बन्धुत्व के ऊंचे आदर्शों से भरा होता है। भारत में धर्म के नाम पर 'सती' प्रथा आरम्भ हुई थी। इस प्रथा पर गर्व किया जाता था। जब इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ, तो धर्म की आड़ में इसके विरुद्ध संघर्ष किया गया और धर्म की दुहाई देकर इस क्रूर एवं अमानुषिक प्रथा को समाज में चालू रखने के लिए बहुत-से प्रयत्न किए गए। इसी प्रकार विधवा-विवाह के विरुद्ध भी धर्म की आड़ में कुधर्म-युद्ध शुरू किया गया और यह भी प्रयत्न किया गया कि उनका संघर्ष जन-साधारण में लोकप्रिय बने तथा जनता भी उनकी विचारधारा का अनुकरण करे। धर्म के नाम पर विधवा-विवाह से समाज में नैतिक पतन की सम्भावनाओं का भय और आतंक पैदा करके लोगों में भ्रान्ति उत्पन्न की गई। समाज में उन तथाकथित संरक्षकों ने यह धारणा फैलाई कि उक्त परिवर्तन होने पर समाज की मर्यादा भंग हो जाएगी और ऐसा विद्रोह होगा कि धर्म की परम्परा और मर्यादा समाप्तप्राय हो जाएगी। समाज में भांति-भांति की भ्रांतियां फैलाने पर भी वह एकाधिकारी ब्राह्मण-वर्ग उक्त परिवर्तन को न रोक सका। फलस्वरूप लोगों ने विधवाओं के विवाह न होने के कारण दिन-प्रतिदिन हो रहे नैतिक पतन की दैनिक घटनाओं को देखते हुए विधवा-विवाह को उचित ठहराया।

अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिए उस ब्राह्मण-वर्ग ने धर्म को इतना लचकदार बना लिया कि उस समय कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता था कि यह सब कुरीतियां और बुराइयां उनकी उपज हैं, जिन्होंने हिन्दू-समाज में दूर-दूर तक जड़ें फैला रखी हैं और जिनका धर्म की मर्यादा के साथ दूर-पार का

भी सम्बन्ध नहीं है। फलस्वरूप इन प्रसारित भ्रांतियों के आधार पर बुराइयां और अन्य कुप्रथाएं निरन्तर फैलती रहीं। इसी प्रकार 'तलाक' भी कई वर्षों तक चर्चा का विषय रहा। इसका भी विरोध किया गया। ये सब संघर्ष उस पुरुष-वर्ग की ओर से ही आरम्भ हुए जो अपने स्वार्थ के लिए धर्म की आड़ में उक्त बुराइयों को बनाए रखना चाहता था। वह वर्ग दूषित परम्पराओं को लेकर समाज में अपनी प्रभुसत्ता बनाए रखना चाहता था और जिसे वह अपना अधिकार समझता था। यह विकृत धारणा शताब्दियों से उनमें पनपती चली आ रही थी। इन्हीं विचारों के अनुसार मनु महाराज ने भी अपने स्मृति-शास्त्र में स्त्री-वर्ग पर मनमाने प्रतिबंध लगाए, जो न्याय और वैधता की कसौटी पर कभी पूरे नहीं उतरे। स्त्री-वर्ग के अधिकारों को दमन करने के विषय में मनु के विचारों के पीछे किसी प्रकार का औचित्य अथवा विवेक नहीं दिखाई देता। उनका उद्देश्य किसी भी मूल्य पर समाज में पुरुष-वर्ग की प्रभुसत्ता को सुदृढ़ बनाना ही था।

यह भी एक सत्य है कि पिछले कुछ वर्षों में 'परिवार नियोजन' के विरुद्ध भी धर्म के नाम पर एक बड़ा आन्दोलन चलाया गया और लोगों की भावनाओं को उत्तेजित करके देश में अराजकता फैलाने के प्रयास भी किए गए। बुराइयों और अंधविश्वासों के विरुद्ध प्रचार करने वालों को धर्म के नाम पर अपने अत्याचारों का निशाना बनाया गया। समाज को स्वस्थ, शुद्ध तथा निर्मल करने के लिए लोगों को जिस अपमान को सहन करना पड़ा, वह अकथनीय है। छूतछात को दूर करने के लिए किए गए आन्दोलनों के विरुद्ध भी कई तरह की भ्रांतियां पैदा की गईं। धर्म की दुहाई देकर सुधार-प्रेमियों के प्रचार और प्रयत्नों को विफल बनाने के लिए कई तरह के षड्यंत्र रचे गए। अन्त्यज भाइयों के मन्दिर-प्रवेश के विरुद्ध भी देश में बहुत कुछ किया गया। धर्म के तथाकथित ठेकेदारों ने धार्मिक पुस्तकों से तरह-तरह के उदाहरण ढूंढ़कर और जनता को गुमराह करके हरिजन भाइयों को भगवान् के चरणों से दूर रखने के लिए भरसक यत्न किए। जब भी कहीं बुराई को दूर करने हेतु कोई शुभ कार्य किया जाता है या कोई सुधारवादी कानून बनने लगता है, तो धर्म के ये ठेकेदार तुरन्त सामने आ जाते हैं और जनता को पथभ्रष्ट करने, उसे उचित सुधारों और परिवर्तनों के विरुद्ध उत्तेजित करते हैं। इस प्रकार ये लोग उनके दैनिक जीवन में अस्थिरता लाकर स्वार्थ साधन करते हैं। हम जानते हैं कि पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में जब कांग्रेस सरकार ने पिता की सम्पत्ति में पुत्री को भी पुत्र के समान भाग देने का कानून बनाया, तब भी रूढ़िवादी समाज-सुधारक नेताओं ने इनके विरुद्ध पंक्तिबद्ध होकर अपनी दुर्भावनाओं का जो प्रचार और प्रदर्शन किया, उससे यह स्पष्ट हो गया था कि अब एक ऐसी प्रलय होने वाली है, जिसमें कोई सुरक्षित न रह सकेगा। उन्होंने देश में ऐसी भ्रांति पैदा की, उक्त बिल के विरुद्ध उन्होंने जो अभियान चलाया,

इसके द्वारा जो हिंसा और रक्तपात हो रहा है, वह सब हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए ही हो रहा है। किन्तु यह भगवान् की कृपा रही कि वे अपनी कुचेष्टाओं में सफल न हुए और उन्हें विवश होकर सम्पत्ति अधिकार के इस कानून को अपनाना पड़ा। सरकार अपने प्रयास में आगे बढ़ती गई। संसद द्वारा बिल पास किया गया और अन्त में विधान बनकर सामने आया। आज वह कानून हिन्दू-समाज का एक भाग बन गया है। जिसे कभी हानिकारक कहा जाता था, आज वह उन लोगों को भी लाभकारी दिखाई दे रहा है जो इसका विरोध करते थे। इसमें लोगों का दोष नहीं है। दोष उन सिरफिरे तथाकथित नेताओं का है, जो धर्म के नाम पर जनता की भावनाओं को उत्तेजित कर अपने स्वार्थ के लिए उन्हें पथभ्रष्ट करते हैं। यह समझने की बात है कि जो धर्म सच्चाई, एकता, प्रेम, स्नेह, परस्पर सहानुभूति, दया और मनुष्यता के सम्मान का उपदेश देता है और इन नियमों पर स्थिर है, वह घृणा, पक्षपात, ऊंच-नीच, पारस्परिक संघर्ष तथा शत्रुता का उपदेश कभी नहीं दे सकता। यदि धर्म इन अमानवीय नियमों पर आधारित है, तो वह ग्रहण योग्य नहीं है। जिस धर्म से मानवता को जीवित रखना कठिन हो, वह कभी स्वीकार्य नहीं हो सकता।

जनता का कल्याण करने वाले धर्म के विरुद्ध इन्हीं तथाकथित धर्म के पहरेदारों ने धर्म-भावना का गलत प्रयोग करके लोगों में घोर निराशा, संकीर्णता और भीरुता के विचार पैदा किए। इस वर्ग ने जनता के विवेक को जड़-सा बना डाला। इन्होंने मानव जीवन को परेशानियों और दुःखों की खान बताकर लोगों में निराशा का प्रचार किया, जबकि हिन्दू-धर्म निराशा को कभी मान्यता नहीं देता। वह तो आशावाद की शिक्षा देता है। मगर खेद है कि वे धर्मघातक धर्म का गलत दृष्टि से प्रयोग करते हैं। काका कालेलकर ने अपने एक लेख में लिखा है—"हम सुनते हैं कि ब्राह्मण पुरोहित, जैन साधु और पंडित लोग शास्त्रों के कथन की संकुचित व्याख्या करके वास्तविकता पर परदा डालते हैं और धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार करते हैं। हिंसा व अहिंसा के विषय में पुरानी परम्पराओं को मानने के लिए एक काल्पनिक चित्र तैयार करना और उसके आश्रय पुरानी रूढ़ियों के चलन का समर्थन करना धर्माचार्यों का काम नहीं है। वह तो रूढ़िभक्त आचार्यों का काम है। ऐसे लोगों को रूढ़िवादी के नाम से सम्बोधित करना चाहिए। धर्म कभी स्थिर व जड़ नहीं हो सकता। इसीलिए वे धर्म के नियमों से लाभदायी नहीं हो सके।"[1]

ये वही ब्राह्मण हैं, जिनके पूर्वजों ने राम के राज्यकाल में शासन के अधिकारों की प्रभुसत्ता अपने पास सुरक्षित रखी थी। उस समय इस ब्राह्मण-वर्ग को समाज

---

1. मंगल प्रभात, 21 जुलाई, 1959।

में विशेष स्थान प्राप्त था। चूंकि यह वर्ग सम्माननीय समझा जाता था, अतः उनसे किसी प्रकार का कर इत्यादि भी नहीं लिया जाता था। उनकी खेती-बाड़ी और सेवा के सब काम तथाकथित शूद्र वर्ग को बेगार के रूप में करने पड़ते थे। उस समय लोग पुरानी परम्परागत रूढ़ियों और अंधविश्वासों में फंसे हुए थे। शिक्षा और धार्मिक ज्ञानार्जन के अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त नहीं थे। इस कारण वे विवेकहीन थे। उन लोगों में जागृति नहीं थी। अतः वे पिछड़े हुए थे। ज्ञान, शिक्षा और धर्म-कार्य के सुअवसर और अधिकार केवल सवर्ण वर्ग को ही प्राप्त थे। उन्होंने शिक्षा, धार्मिक ज्ञान और वेद आदि का अध्ययन करके अपने विवेक को जागृत करने का ढोंग रचा रखा था। ये लोग बड़ी होशियारी व चतुरता से समाज के अगुआ बने हुए थे। इनकी प्रभुसत्ता से स्वयं भगवान् राम भी विवश थे। वे भी इनका विरोध करने में सर्वथा असमर्थ थे। उनका समाज में इतना प्रभाव था कि वे इनके साथ विचार-विनिमय किए बिना कोई निर्णय और न्याय दे सकने में असमर्थ थे। इसी कारण राम बनवास के समय निषादराज को बड़ा दुःख हुआ था कि भाई भरत की तरह राम ने उसे गले नहीं लगाया। उन्होंने भीलनी के घर जाकर उसकी इच्छा पूरी की और बेर खाए। दूसरी अनार्य जातियों के साथ मित्रता करके उन्हें भी समानता के अधिकार दिए थे। मगर वही राम जब पुनः सत्तारूढ़ हुए और शासन की बागडोर सम्भाली, तो उन्होंने शूद्र शम्बूक का संहार करने में संकोच नहीं किया। वह राम जिसे दयावान और गरीबों का संरक्षक माना जाता था, इतना क्रूर कैसे हो सकता था? परन्तु राम ने यह क्रूर कर्म इसी स्वार्थी और नृशंस ब्राह्मण-वर्ग तथा पुरोहित-वर्ग के आदेशों के दबाव में आकर ही किया था। उन्हें इच्छा न रहते हुए भी यह कुकृत्य करना पड़ा। इससे बढ़कर और विडम्बना भला क्या हो सकती है। इससे उनके उज्ज्वल यश पर जो काला धब्बा लगा, वह आज तक भी मिट नहीं सका। इस वर्ग का प्रशासन में पूरा हस्तक्षेप था, जिसके फलस्वरूप उन्हें न्याय के विरुद्ध काम करने के लिए विवश किया जाता था। वे इसी वर्ग की प्रभुसत्ता के कारण अपने अभीष्ट आदर्शों को अभीष्ट दिशा न दे सके।[1]

यह सभी चक्र और षड्यंत्र भी ब्राह्मणों के ही थे, जिनके कारण स्त्री-जाति को समाज में निम्न स्थान देकर उसके उचित अधिकारों से वंचित किया गया और उनकी निरीह भूल को अक्षम्य घोषित किया गया। पुरुष समर्थ होने के कारण अपने दोष, पाप और अपराध छिपा सकने की कुचेष्टा कर सकता है, किन्तु उसके पापाचार, विलास, हिंसा आदि का शिकार होने वाली नारी कभी क्षभ्य नहीं हो सकती। यहां तक कि अपहरण और भौतिक कामवासना की तृप्ति और नैतिक

1. सरिता, रामशरण सिंह, नवम्बर, 1966।

पतन को वह अपना साहस और पुरुषत्व समझकर उस पर गर्व करता हुआ अपने सिर को ऊंचा करने में लज्जा का बिल्कुल अनुभव नहीं करता। यह कितनी घोर निर्लज्जता है। वह अपने पापों और कुकृत्यों को अपना अपराध या कोई सामाजिक बुराई नहीं समझता है। उलटे वह स्त्री को ही दोषी ठहराता है। बुराई फैलाने की सारी जिम्मेदारी स्त्री-जाति पर ही डालता है। हिन्दू-समाज किस भयावह पतन की ओर दिन-प्रतिदिन अग्रसर हो रहा है, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। हिन्दू-समाज में पुरुषों ने सदैव स्त्री-जाति के साथ असभ्य व्यवहार करके उलटे उसे ही दोषी ठहराया है और अपनी असभ्यता और पापाचार पर वह गौरव करता रहा है। ब्राह्मणवादी दृष्टि को छोड़कर सहज रूप में धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया जाए तो मालूम होगा कि धर्म के नाम पर होने वाले अनाचार किसी प्रकार भी धर्म के अनुरूप नहीं हैं। खेद है कि ब्राह्मणवादी विचारों से प्रभावित होकर तुलसी ने भी मनु महाराज की तरह ही स्त्री-जाति को समाज में निम्न स्थान दिया है। स्त्री भी तो एक चेतन प्राणी है। वह न तो जड़ है और न विवेकशून्य। उसके शरीर में भी पुरुष के समान आत्मा है। उसमें भला और बुरा परखने का भी विवेक है।

समाज के दूसरे क्षेत्रों में भी तुलसी महाराज ने अपने जिन विचारों का प्रकाशन किया है उसमें भी प्रायः साम्प्रदायिकता की ही गंध आती है। उन्होंने राष्ट्र को जात-पांत के बंधन में जकड़ने का प्रयत्न किया।

तुलसी महाराज ने हिन्दू-समाज को यह विचार देने का प्रयत्न किया कि निम्न वर्ग ईश्वर की इच्छा के अनुसार पैदा हुआ है, जिसका कर्त्तव्य बस्तियों से दूर जंगलों में रहना है। उन्होंने निषाद जाति का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह जाति वेदों के अनुसार मनुष्य जातियों में सब तरह से नीच समझी जाती है और उसकी छाया तक को छूने से अमंगल होता है।

रामायणकाल का राम-रावण युद्ध भी साम्प्रदायिकता पर ही आधारित था। जिन्हें 'निशाचर' कहा गया है, वे अनार्य थे और आर्यों की प्रभुसत्ता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। इस कारण आर्यों और अनार्यों में परस्पर तनाव रहता था, जिसके फलस्वरूप समय-समय पर संघर्ष होते रहते थे। आर्यों के भाट उनकी प्रशंसा का जो गान करते थे, उसमें अनार्य लोगों को वे अछूत, नीच, हिंसक और राक्षस जैसे घृणाजनक विशेषणों से अलंकृत करते थे। आर्य-सभ्यता और आर्य-धर्म पर विश्वास न करने वाले उन अनार्यों को आर्यों ने समाज में निम्न स्तर दिया और इस प्रकार उनके प्रति घृणा फैलाने का कुप्रयास किया। आर्यों ने उत्तरी भारत पर पूर्णतः अधिकार कर लेने के बाद अपने प्रचारकों को दक्षिणी भारत में भेजा। परन्तु दक्षिण के लोगों ने इन आगन्तुकों का घोर विरोध किया। विचारों की इस भिन्नता के कारण लोमहर्षक युद्ध भी हुए और बड़ी मात्रा में जनसंहार

हुआ। जंगलों में मृत आर्यों के पिंजर और हड्डियां देखकर मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी विचलित, क्रुद्ध तथा उद्विग्न हो उठे। अनार्यों द्वारा अपने आर्य भाइयों की निर्मम हत्या को देखकर राम के मन में अनार्यों के विरुद्ध घृणा और क्रोध की ज्वाला भड़क उठी थी। राम ने अपनी जाति के इस अपमान का बदला चुकाने के लिए ही क्रोध के आवेश में आकर पृथ्वी को निशाचरों (अनार्यों) से खाली करने का व्रत लिया था। वे नहीं चाहते थे कि उस लक्ष्यद्वीप (श्रीलंका) पर किसी और का शासन हो, जहां आर्य राजा कुबेर का अक्षुण्ण शासन था। इस देश पर रावण ने अपने बाहुबल से एक भयानक युद्ध करके अधिकार किया था। रावण निशाचर (अनार्य) जाति से सम्बन्धित एक शक्तिशाली सम्राट् था। आर्य जाति के राजा राम का उद्देश्य यही था कि किसी प्रकार लंकापति रावण उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार कर ले। उस समय लंका बड़ा समृद्ध देश था। लोगों की दशा हर तरह से उन्नत और सम्पन्न थी। इसी कारण इसे 'सोने की लंका' कहा जाता था। जातिगत भावनाओं की इस टक्कर के परिणामस्वरूप अनार्य साम्राज्य को समाप्त करने के लिए राम ने समस्त भारत को एक भयानक युद्ध में धकेल दिया। सीता-हरण के नाम पर अपार रक्तपात हुआ। यह युद्ध बहुत भीषण था। राम ने बहुत बड़े विनाश के बाद रावण का उसके भाई विभीषण की सहायता से अंत करके उस देश को अपनी प्रभुसत्ता में शामिल किया था। इस प्रकार राम-रावण युद्ध स्पष्टतः उत्तर भारत के आर्यों और दक्षिण के मूल निवासी अनार्य जातियों (द्रविड़ों) के बीच एक भयानक सम्प्रदायवादी युद्ध था। आरम्भ से ही उन मूल निवासियों को दस्यु, अछूत, राक्षस, निशाचर और नीच कहकर अपमानित किया जाता था।

तुलसीदास ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का गुणगान करते हुए अपने ग्रंथ रामचरित-मानस में लिखा है :

> "तप के तेज से ब्राह्मण सदा शक्तिशाली रहते हैं। उनके क्रोध से जलते हुए मनुष्य को बचाने वाला कोई नहीं है। यदि तुम ब्राह्मणों को अपने वश में कर लो, तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी तुम्हारे वश में आ जाएंगे।"

> "राजा ने ब्राह्मण को पकड़कर कहा—ठीक ही है कि ब्राह्मण के क्रोध से कौन रक्षा कर सकता है। यदि कोई क्रोध करे तो ब्राह्मण रक्षा कर सकता है। किन्तु ब्राह्मण के क्रुद्ध हो जाने पर संसार में कोई भी रक्षा नहीं कर सकता।"

> "ब्राह्मणों का शाप बहुत ही भयानक होता है। यह किसी तरह भी टल नहीं सकता।"

"रावण जैसा राजा भी ब्राह्मणों के शाप से बदनाम हुआ। राम ने भी ब्राह्मणों को प्रसन्न करने के लिए उनकी सुरक्षा के बहाने राक्षसों (अनार्यों) का दमन किया था।"

"मन, वचन और कर्म से झूठ और कूटनीति को छोड़कर जो व्यक्ति इस भू-खंड में ब्राह्मण की सेवा करता है, मुझ सहित ब्रह्मा, शिव आदि देवता इसके अधीन हो जाते हैं। ब्राह्मण चाहे शाप दे, चाहे मार डाले, चाहे गालियां दे, वह फिर भी आदरणीय है। ब्राह्मण चाहे तीखे स्वभाव का क्यों न हो, चाहे उसमें कोई भी गुण न हो, चाहे वह एकदम बेसमझ और अशिक्षित क्यों न हो, वह ब्राह्मण होने के नाते सदैव आदरणीय है।"

उस समय जो संघर्ष और रक्तपात हुए, वे सब साम्प्रदायिकता और जातिवाद की भावनाओं से प्रेरित थे, क्योंकि उस समय एक जाति दूसरी जाति पर अपनी प्रभुसत्ता थोपने के लिए अपनी सभ्यता और संस्कृति की वरीयता को फैलाना चाहती थी। इसीलिए रावण राम की साम्राज्यवादी लालसा का निशाना बना था। राम ने अपने दूत हनुमान की सहायता से रावण को अपनी प्रभुसत्ता के अधीन आ जाने का सन्देश भेजा था, जिसे सुनना भी रावण के लिए असह्य था। इसीलिए उसने राम के प्रस्ताव को एकदम अमान्य घोषित कर दिया था। इस महायुद्ध के बाद भी साम्प्रदायिकता समाप्त होने की अपेक्षा पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ती गई।

भगवान् बुद्ध ने भी इस ब्राह्मणवाद से लोहा लिया था। उन्होंने वेदशास्त्रों को धर्म के रूप में अपनाने का विरोध किया था और ब्राह्मणों की स्वनिर्मित पुरोहिताई के विरुद्ध घोर संघर्ष किया था। यद्यपि उन्होंने हिन्दू-समाज की नींव को झंझोड़ने का प्रयत्न किया और उन्हें विश्वास भी था कि वे अपने आत्मबल से लोगों को ब्राह्मणवाद के चंगुल से छुड़ाने में सफल होंगे। फिर भी उन्होंने देखा कि लोगों के विचारों में ब्राह्मणवाद अपनी जड़ें मजबूती से जमा चुका है और उनका विवेक जड़ हो चुका है। वे समझ गए कि लोगों का ब्राह्मणों द्वारा प्रचारित उपदेशों और वहमों की जकड़ से मुक्त होना असम्भव है। तब उन्होंने अनुभव किया कि किसी समय ब्राह्मणों को अपनी गलती का अनुभव होगा। मगर इतने पर भी उन्होंने जहां तक हो सका ब्राह्मणों के पाखंडों, आडम्बरों और भ्रांतियों के षड्यन्त्रों के रहस्योद्घाटन करने के लिए अपना संघर्ष जारी रखा।

ब्राह्मणों की नैतिकता आरम्भ से ही स्वार्थ और अहंकार पर आधारित रही है। उन्होंने जब कभी वातावरण को अपने विरुद्ध होते देखा तो तुरन्त अवसर के अनुसार बड़ी चतुरता से विरोधी को अपने प्रभाव में लाने का प्रयास किया।

उन्होंने शक, हूण, कुशान और मुसलमान आदि जातियों के साथ अनुकूल समझौते करके अपनी प्रभुसत्ता को कायम रखा। ब्राह्मणों ने अधिक भयानक हो सकने वाले आक्रमणकारियों को क्षत्रिय कहकर, स्वयं को उनके पुरोहित होने की घोषणा की। इस प्रकार उन्होंने आक्रमणकारी लोगों को अपने अधीन करके उनको भी प्रशासित किया। हूण आदि जातियों के क्षत्रिय होने की घोषणा करने में ब्राह्मणों का यह षड्यंत्र था कि उन (ब्राह्मणों) के विरुद्ध जारी किए गए विद्रोह को दबाया जा सके। उन्होंने इन जातियों के लोगों में अपनी कूटनीति द्वारा ऐसा वैमनस्य पैदा किया कि वे एक-दूसरे से पृथक् होकर एक अन्तहीन आपसी संघर्ष में व्यस्त हो गए। इस प्रकार उन ब्राह्मणों के विरुद्ध आरम्भ किया गया विद्रोह अपने-आप शांत होकर समाप्त हो गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने जो दूसरा षड्यंत्र किया वह और भी गम्भीर था। उन्होंने अपने दृष्टिकोण के अनुसार कई तरह की पुस्तकें धर्म-ग्रंथों के नाम से प्रकाशित करवाईं और उनका कथावाचकों और प्रचारकों द्वारा प्रसार करवाया, ताकि लोग उनका (ब्राह्मणों) सम्मान करें और उन्हें प्रतिष्ठित समझें। इन कुचालों द्वारा उन्होंने हिन्दू-समाज में अपने एकाधिकार को अनिश्चित काल के लिए बनाए रखने में सफलता प्राप्त की।

धर्म के नाम पर हमारे देश में घृणा, द्वेष और वैमनस्य के कितने बीज बोए गए उनकी गणना नहीं की जा सकती। इसी धर्म के कारण द्रौपदी को पांच पतियों की पत्नी बनना पड़ा। जुए के दांव पर द्रौपदी को लगाने और अन्ततोगत्वा हारने पर जब उस भरी सभा में द्रौपदी को नग्न किया जाने लगा, तो धर्म की तथा-कथित मर्यादा के कारण ही किसी पांडव को मुंह खोलने का साहस न हुआ। अंत में इसी धर्म ने देश को महाविनाश के गर्त में धकेल दिया। इसी झूठे धर्म के कारण राजा हरिश्चन्द्र को चाण्डाल की दासता स्वीकार करके मरघट की चौकीदारी करनी पड़ी और अपनी पत्नी एवं पुत्र को बेचने के लिए विवश होना पड़ा। कहां तक गणना की जाए। भारतीय इतिहास के पृष्ठ-दर-पृष्ठ इस प्रकार के झूठे धर्म की घटनाओं से भरे मिलेंगे। आज भी इसी कारण लाखों विधवाएं मौन रहकर गीली लकड़ी के समान सुलगती हुई जीवन का बोझ ढो रही हैं। धर्म के नाम पर अबला युवतियों को बूढ़े पति स्वीकार करने के लिए विवश किया जाता है। इसी धर्म की दुहाई देकर करोड़ों अछूतों को कीड़ों-मकोड़ों की तरह घृणित जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया जाता है। वे यदि इस सामाजिक अन्याय के विरुद्ध दुहाई देते हैं तो उनकी पुकार भी अछूत बनकर रह जाती है।

जब हम विदेश के समाज की ओर दृष्टि डालते हैं, तो वहां भी हमें धर्म के नाम पर घटित इसी प्रकार की घटनाओं की कहानियां पढ़ने को मिलती हैं। संसार में सभ्यता की डींग मारने वाले रोम के पोप भी धर्म के नाम पर स्वर्ग की हुंडियां बेचा करते थे। धर्म की इस कृत्रिम श्रद्धा में किए जाने वाले इस व्यवसाय

से वे लाखों रुपये कमाते थे और इस धन से हर प्रकार की विलासिता के साधन जुटाते थे। नैतिक भ्रष्टाचार अपनी चरमसीमा पर था। किसी में साहस नहीं था कि इस अनैतिकता का विरोध करे। इस धर्मोन्माद और पोप की तानाशाही के कारण मार्टिन लूथर को बाईबल का जर्मन भाषा में अनुवाद करने के कथित अपराध के दण्डस्वरूप अपने देश को छोड़ना पड़ा। फलस्वरूप उसे इंग्लैंड में जाकर शरणार्थी बनकर रहना पड़ा, और उसने वहां अनुवाद के शेष कार्य को पूरा किया। उसने लोगों को बताया कि धर्म के नाम पर जिस ग्रंथ की दुहाई देकर पोप लूट-खसूट कर रहे हैं, उसमें ऐसा कहीं कुछ भी नहीं लिखा है।

धर्म के कारण ही हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के रक्त के प्यासे बने। मंदिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों के झगड़ों में धर्म का ही तो प्रमुख हाथ है। एक ही धर्म को मानने वालों में भी धर्म के कारण कट्टर वैमनस्य पैदा होता है। शियाओं और सुन्नियों में, निरंकारियों और अकालियों में, अकालियों और हिंदुओं में, कैथोलिकों और प्रोटैस्टैन्टों में यह साम्प्रदायिक वैमनस्य देश-विदेश में विद्यमान है। यह देश तो धार्मिक वितंडावाद और पोंगापंथी के लिए बदनाम है ही, मगर विदेशों में भी इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। धर्म के कारण इंग्लैंड में रोमन कैथोलिकों ने प्रोटैस्टैन्टों पर भीषण अत्याचार किए। धर्म के नाम पर उन्हें जीवित जलाया गया। उन अमानवीय अत्याचारों से बचने के लिए ही उन्हें अपना देश छोड़कर शरणार्थी बनना पड़ा और दूसरे देशों में जाकर छिपना पड़ा। फ्रांस में इसके विपरीत हुआ। वहां रोमन कैथोलिकों को अत्याचारों और यातनाओं का शिकार बनना पड़ा।

धर्म के कारण आज इसराइल अरब राष्ट्रों की आंखों का कांटा बना हुआ है। यदि अरबों का वश चले तो वे उसे समूचा ही निगल जाएं। धर्मग्रंथों के पुराने विवरणों से उद्धृत करने का केवल यही उद्देश्य है कि ब्राह्मणों ने अपनी प्रभुसत्ता बनाए रखने के लिए भांति-भांति के आडम्बर रचे और कई तरह के षड्यंत्र, रक्तरंजित संघर्ष और विनाशकारी युद्ध किए। उन्होंने कई तरह की भ्रांतियां और अंधविश्वास पैदा किए। धर्म की मर्यादा और नियमों की अवहेलना करके अपने स्वार्थ-साधन के लिए समाज को संकीर्ण नियमों में जकड़ा और नैतिकता की मर्यादा को कुचलकर अपनी इच्छा के अनुसार हिन्दू-समाज की इकाई में जो वैमनस्यता पैदा की, वह भगीरथ प्रयत्न करने पर भी आज तक दूर नहीं हो सकी। उन्होंने अपनी पूजा कराने के लिए जिन उपायों को अपनाया, उन्हें पाप नहीं समझा। उन्होंने स्त्री जाति के विषय में समाज को जो विचार दिए, वे भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए ही थे। वास्तव में संसार के सभी धर्म ऐसी कुरीतियों का विरोध करते हैं, पर हमारे देश में तो अपने स्वार्थ के लिए समाज के एक बड़े वर्ग को 'शूद्र' का नाम देकर उसकी जीवनधारा को ही अलग

कर दिया गया। जबकि धर्म के किसी अंग-उपांग में कहीं भी ऐसा कुछ उपलब्ध नहीं है, जिसके अनुसार एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से घृणा या उसका सामाजिक बहिष्कार करे। यदि धर्मगुरु और आचार्य समाज को यह विचार दें कि स्त्री नैसर्गिक रूप से विवेकशून्य, नासमझ, मूढ़ और पशु-समान है तथा अपने ही भाइयों से छूतछात का शिकार बनाकर उससे मेल-जोल और लेन-देन का त्याग करके उनको हर प्रकार की पीड़ा व यातनाएं देना उचित है एवं पुरुष हर तरह से नारी की अपेक्षा सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है तो इस प्रकार के प्रचार से हिन्दू-समाज की नैतिक प्रगति के मार्ग में गतिरोध के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। आज के इस वैज्ञानिक युग में स्वार्थी और पथभ्रष्ट लोगों के इन आडम्बरों, अंधविश्वासों और भ्रांतियों को दूर करना हिन्दू-समाज के प्रत्येक घटक का मुख्य कर्त्तव्य हो गया है।

मानवता का आधार 'जियो और जीने दो' का सिद्धांत है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः', 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्यवेत्'। हमारे धर्म का मूल मंत्र होने पर भी आज मानव क्यों शैतान की तरह एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हो रहे हैं। धर्मो रक्षति रक्षितः अर्थात् धर्म मनुष्य की रक्षा करता है, यदि मनुष्य उसकी रक्षा करे। मगर देखिए, रोम में क्या हुआ। योरुप के अन्य देशों में धर्म के नाम पर क्या कुछ हुआ। मुस्लिम देशों में इसी धर्म की आड़ में कितना विनाश हुआ। हिन्दुस्तान में इसी धर्म के नाम पर क्या कुछ नहीं हुआ ? इस समूचे विवरण से यही प्रमाणित होता है कि हमारे अपने देश में समाज के एक शक्तिशाली वर्ग ने अपने निहित स्वार्थों के लिए ही इन सभी पाखण्डों, आडम्बरों, अनैतिकताओं और कुप्रथाओं को जन्म दिया और समाज के इस अमानवीय एवं अनैतिक वर्ग-विभाजन के कारण ही आज देश को कई तरह की आर्थिक विषमताओं एवं सामाजिक विडम्बनाओं का सामना करना पड़ रहा है। ब्राह्मणों द्वारा समाज का स्वरूप कुछ इस तरह विकृत कर दिया गया है कि अब उसे अपने वास्तविक स्वरूप में परिवर्तित करना एक असाध्य कार्य दिखाई देता है। मगर अपने पूर्वजों द्वारा चलाए गए अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए निरन्तर प्रयास होते रहने पर ब्राह्मणों द्वारा चलाए गए ये सब अभिशाप निकट भविष्य में समाप्त हो जाएंगे, ऐसी आशा है।

सिंहावलोकन

ब्राह्मणों का एकतंत्रवाद

मानव जिसने बंधुत्व, आपसी भाईचारे, स्नेह तथा सौहार्द्र में कई युग व्यतीत किये थे, वह ऊंच-नीच, श्रेष्ठ-हीन, मालिक-गुलाम की भ्रष्ट व्यवस्था में कैसे फंस गया—यह एक दुखद कहानी है। इसका कुछ संक्षिप्त विवरण पिछले अनुच्छेद में दिया गया है। हिन्दू धर्मग्रंथों तथा तद् विषयक उपलब्ध अन्य सामग्री के विश्लेषण से पता चलता है कि नवागन्तुक नार्डिक आर्यों के निरन्तर आक्रमणों ने सिन्धु द्वीप के लोगों, जिनकी सभ्यता का डंका सारे संसार में बजता था, की समग्र राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। विजेता होने के घमण्ड में अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु उन्होंने ऊंच-नीच की रेखा के अंतर्गत समाज को दो भागों में बांट दिया। इस भेद-भाव को प्रचलित करने के लिए मानव-जाति उन्हें कभी क्षमा नहीं करेगी। इस निकृष्ट व्यवस्था के विरुद्ध जो भगीरथ प्रयत्न हुए और जो अभियान चलाये गये, वे आज तक जारी हैं।

भूकम्प में होने वाले परिवर्तन की तरह राजनैतिक उथल-पुथल से भी क्षेत्रीय सीमाएं बदल जाती हैं। इसी प्रकार प्राचीन काल में उन आक्रमणकारी आर्यों ने इस विशाल भूखण्ड को अपना उपनिवेश बनाया। इसकी प्रतिक्रिया में यहां के आदिवासी लोग अनेक अत्याचारों से तंग आकर पलायन करने लगे और गंगा-यमुना के मैदानों और दक्षिण की ओर जाकर बसने लगे। जिन्होंने उन बर्बर लोगों का मुकाबला किया, वे उनके बंधक होकर गुलामी का जीवन व्यतीत करने पर विवश हुए। यह उनके भाग्य का चक्र था कि वे लोग जो सभ्यता में उच्च, समृद्धिशाली और धन-सम्पदा में सम्पन्न थे, पराजय की हीनभावना से त्रस्त तथा नागरिक व सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों से वंचित हो गये। विजेता होने का उन आक्रमणकारियों को अहंकार था। अतः उनमें शोषण की प्रवृत्ति पैदा होने लगी। इस विनाशकारी नीति में तत्कालीन मानव समुदाय 'श्रेष्ठ-हीन' की दो कोटियों में विभक्त होने लगा। इस विभाजक रेखा के अनुसार गौरवर्ण

आक्रमणकारी नवागन्तुकों ने अपने-आपको आर्य और आदि निवासी श्याम वर्ण के लोगों को अनार्य के नाम से सम्बोधित किया । इस प्रचलन से तदयुगीन समाज वर्ण के आधार पर आर्य और अनार्य या असुर-दस्यु आदि के नामों में बंट गया, जो वर्ण-व्यवस्था का कारण बना । इन नवागन्तुक आर्यों की इसी वृत्ति ने आगे चलकर जातिवाद और वर्गवाद की अमिट रेखाएं खींचकर समाज को एक-दूसरे से काट दिया । इस प्रकार की परिस्थिति में वर्गीय भावना का विकसित हो जाना नितांत स्वाभाविक था । फलत: इन्हीं विभक्त रेखाओं की भावना के अंतर्गत तत्कालीन समाज पनपने लगा । वैदिक साहित्य से इस तथ्य की पुष्टि होती है । इसी आर्य और अनार्य के संकीर्ण वर्गवाद व वर्णवाद के आधार पर अपनी कामनाओं और उन मूल निवासी वणिक् लोगों की सत्ता को चुनौती देने वालों के प्रति अहितकर व ईर्ष्यालु भावनाओं और उनके विनाश तथा उनकी धन-सम्पदा के प्रति द्वेष-भाव एवं उनके संहार के लिए सेनापति अर्थात् इन्द्र से प्रार्थनाएं की गई हैं और उस (इन्द्र) की स्तुति में गीत गाये गये हैं, जिसका ब्योरा निम्न प्रकार से मिलता है—

> मेनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दास वर्ण मधरं गुहाकः ।
> खघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ।।
>
> ऋग्वेद II-12-4

अर्थात् जिन्होंने संसार को रचा और दास वर्ण को गुफाओं में बसाया, वह इन्द्र है ।

चूंकि वे पराजित लोग उन बर्बर आर्य लोगों के बंधक थे और उनकी सेवा में तत्पर रहते थे, इसलिए उन सप्तसिन्धु के पराजित देशवासियों को अनार्य कहने के अतिरिक्त दास व दस्यु भी कहा जाता था । उक्त मंत्र में उन्हें 'दास' शब्द से सम्बोधित कर अपनी श्रेष्ठतापरक भावनाओं को प्रदर्शित किया गया है । इसी प्रकार इन्द्र के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा गया है—

> ससानात्यां उत सूर्य ससानेन्द्रः ससान पुरुभोज संगाम ।
> हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् आर्यवर्ण मावत् ।।
>
> ऋग्वेद III-34-9

अर्थात् उन्होंने दस्युओं की हत्या कर आर्य वर्ण की सदा रक्षा की है ।

इन लोगों के साथ निरन्तर संघर्षों से जब विदेशी आर्य हताश होने लगे, तो उस समय उन्होंने पंक्तिबद्ध होकर संघर्षरत आर्यों को उन लोगों का मुकाबला करने की प्रेरणा दी, ताकि एकजुट होकर उनको यहां से भगाया जा सके । उन्होंने कहा—

ओ त्यो इन्द्र भूतये गुर्नु चित्तान्तसधौ जगम्यात् ।
देवासो मन्युं दासस्य श्चभ्भन्ते न आ वक्षन्त्सु वित्ताय वर्णम् ।।

ऋग्वेद 1-104-2

हे मनुष्यो (आर्यो), रक्षा के लिए इन्द्र के समीप आओ । वह दासों के क्रोध को नष्ट करे तथा मानव वर्ण (आर्य) की उत्तम प्रगति करे ।

सप्तसिंधु के हरियाले मैदानों में स्वच्छंद विचरने की इच्छुक बर्बर आर्य जाति उन शांतिप्रिय मूल निवासियों से भयभीत थी । उन्हें अपने संहार का भय था । चूंकि इन पूर्व निवासी लोगों के रीति-रिवाज और मर्यादाएं अपनी थीं। पराजित होने पर भी उन्होंने अपनी परम्पराओं को यथावत् अपनाए रखा । मगर यह आर्य लोगों के लिए असह्य था । वे चाहते थे कि ये लोग अपनी प्राचीन मर्यादाओं को छोड़कर उनकी सभ्यता की परम्पराओं का अनुकरण करें । मगर उनकी इच्छा पूरी न होने पर उन्होंने जो अपने विचार व्यक्त किये वह निम्न मंत्र से प्रकट होते हैं—

अकर्मा दस्युर्रमि नो अमन्तुर रूय ब्रतो अमानुषः ।
त्वं तस्या मित्रहन्वयर्दा अस्य दम्भयः ।।

ऋग्वेद X-22-8

अर्थात् हम (आर्य) दस्यु जातियों के मध्य रहते हैं । यह लोग यज्ञ नहीं करते । इनकी रीतियां पृथक् हैं । ये मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हैं । अतः हे शत्रुओं का नाश करने वाले इन्द्र, इन लोगों का नाश कीजिए ।

यहां सप्तसिंधु आने पर उन आक्रमणकारियों की गिद्ध-दृष्टि इन लोगों की सम्पत्ति पर पड़ी । उन विदेशी आर्यों ने अपने अग्रणी इन्द्र से प्रार्थना की—

किं ते कृण्वन्ति कीक्रटेषु गावो नाशिर दुहे न तपन्तिधर्मम ।
आ नौ भर प्रम गन्दस्य वेदो नैंवा शाखं मधवन्रूधया नः ।।

ऋग्वेद III-53-14

अर्थात् वे लोग जो अनार्य हैं, वे गौओं का उपयोग करते हैं । ये न तो दूध ही प्राप्त करते हैं, न ही घी निकालते हैं । हे इन्द्र ! उन गाओं को हमारे पास भेज दो । अधिक धन प्राप्त करने की आशा से धन उधार लेने वालों के धन को भी हमें प्राप्त कराओ ।

इन सब उपर्युक्त उदाहरणों से पता चलता है कि पूर्वकालीन युग में जब नवागन्तुकों ने अपनी हिंसक शक्ति के आधार पर सिन्धु घाटी के पूर्व निवासी शांत-प्रिय लोगों को अपना बंधक बनाया और जो उनका मुकाबला करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए, उनकी विधवाओं और बच्चों को भी अपना दास और सेवक बना-

कर बेगार करने पर विवश किया। इस प्रकार उन तथाकथित दासों के क्रय-विक्रय तथा क्षत्रियों द्वारा ऋषियों को भेंट दिए जाने व विदेशी आर्यों के घरों में उनके निकृष्ट कार्य करने को विवश करने के उदाहरण हमें मिलते हैं। उन आक्रमणकारी आर्यों ने सुख-साधन हेतु ईश्वर से जो प्रार्थनाएं कीं, उसका विवरण ऋग्वेद में हमें मिलता है।

> 'हे इन्द्र, मुझे एक सौ भेड़ें, गधे और दास प्रदान करो।'
>
> ऋग्वेद VIII-56-3

> हे ऊषे ! तू सौभाग्यवती है। मुझे सुन्दर पुत्रों, सेवकों, अश्वों से युक्त उस यशपूर्ण धन को प्राप्त कराओ, जिसे तू अपने बल और कर्म से प्रेरित करती है। ऋग्वेद I-92-8

> हे अग्ने ! अत्यंत दान करने वाले, राजसूय यज्ञकर्ता 'चायमान' के पुत्र अभ्यावर्ती ने हमें दासियों सहित रथ और बीस गाय प्रदान कीं। पृथु-वंशी राजा सम्यवती की इस दक्षिणा का कोई विनाश नहीं कर सकता। ऋग्वेद VI-27-8

उपरोक्त मंत्रों में दास-प्रथा तथा दासियों के दान करने का वर्णन मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन युग में आक्रमणकारी आर्यों ने मूल निवासी लोगों के पराजित होने और युद्ध में वीरगति को प्राप्त होने वालों की विधबाओं और उनके बच्चों को बंधक के रूप में अपने पास रखा जो उन लोगों की सेवा का काम करते थे। उन दासियों को वधू की संज्ञा भी दी गई है, जिनको बिना किसी विवाह-संस्कार के पत्नी की भांति रखा जा सकता था। आर्यों के इस प्रकार के पापाचार का भी विवरण हमें मिलता है।

> अदान्मे पौरु कुत्स्यः पंचाशतं त्रसदस्युर्वधुनाम्।
> महिष्ठो अर्यः सत्यपति। ऋग्वेद VIII-19-36

> "अत्यन्त पूज्य श्रेष्ठ और सज्जनों का पालन करने वाले पुरु कुत्स के पुत्र त्रसदस्यु ने मुझे पचास स्त्रियां (वधुएं) दीं।"

> "अतिथिग्व के पुत्र इन्द्रौत से उसके पवित्र यज्ञ में वधुओं सहित छः घोड़े मैंने एक साथ प्राप्त किए।" ऋग्वेद VIII-68-17

उक्त उदाहरणों से हमें आक्रमणकारी आर्यों की तथाकथित सभ्यता और उनकी दूषित मनोवृत्ति का विवरण मिलता है। पराजित सप्तसिन्धु के शहीदों की विधवाएं दासियां बनकर उनके पास रहती थीं। इनकी संतान भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी

दास के रूप में उनकी बंधक रहती थी। इस प्रकार अनार्य दासों का एक पृथक् विशाल वर्ग समाज में पैदा हुआ। वे अपना धंधा अर्थात् सफाई व अन्य निकृष्ट कार्य सेवाभाव से करते हुए इस संसार से विदा होने पर, उनकी संतान ने भी उसी अपने पैतृक धंधे को अपनाकर समाज के अन्य वर्ग के लोगों की सेवा की। यह सिलसिला आज तक जारी है। इन गौरांग, बलिष्ठ, सुन्दर नाक-नक्श वाले आक्रमणकारी नार्डिक आर्यों ने इन आदिवासी लोगों को सत्ताविहीन व समुचित अधिकारों से वंचित करके उन्हें 'अनार्य' की एक हीन संज्ञा देकर एक दीवार खड़ी कर दी, जो आज तक हिन्दू-समाज के लिए अभिशाप बनी हुई है। और यह मानव-मानव के मध्य खींची गई पृथक्ता की दीवार आगे चलकर और भी सुदृढ़ होने लगी। उन लोगों को सामाजिक व्यवस्था के दायरे में संकुचित कर दिया गया। उसके अनुसार अब वे किसी यज्ञ व धार्मिक उत्सव में उनके बराबर शामिल नहीं हो सकते थे। उस अधिनायकवाद ने वैश्यों को भी अपने आतंक का निशाना बनाया और उन लोगों को भी कई अधिकारों से वंचित कर दिया। यह धारणा पैदा की गई कि द्विज वर्ग के यज्ञ करने या देवताओं की स्तुति करने से जो पुण्य प्राप्त होता है, वह शूद्रों को ब्राह्मण की सेवा करने से होगा।

इसके बाद सामाजिक व्यवस्था के विषय में जो नियम निर्धारित किए गए, वे इतने कठोर और संकीर्ण थे कि मानव-धर्म की मर्यादा के अनुकूल नहीं थे। उन धर्मसूत्रों में भी इस शूद्र वर्ग के लोगों के साथ कठोर व्यवहार करने की धारणा पैदा की गई। श्रोत सूत्रों और ब्राह्मण ग्रंथों में इसी संकुचित धारणा का आश्रय लिया गया, जिसे आर्यों ने वैदिक साहित्य में प्रदर्शित किया था। उस युग में भी इन्हें संकीर्णता का निशाना बनाया गया। इन पर वैदिक युग से अधिक अत्याचार होने लगे। तत्कालीन युग के धर्माचार्य ऋषियों ने यह उचित ठहराया कि—

> शूद्रों के पास जितने भी पशु हैं, उच्च वर्ग के लोग यज्ञ के लिए उनसे छीन सकते हैं।
>
> अग्निहोत्र के लिए प्रयोग किए जाने वाले दूध को देने वाली गाय को शूद्र न दुहे।

अर्थात् वे यज्ञ या धार्मिक उत्सवों में भाग नहीं ले सकते थे। शूद्रों से यज्ञ के लिए पशुधन को बलात् छीना जा सकता था और आर्थिक तौर से उन्हें निर्धन बनाया जा सकता था। उस युग के ब्राह्मणों ने भी वैदिककालीन धर्म-मार्तंडों के पदचिह्नों पर चलते हुए और भी कठोर सिद्धांतों का प्रतिपादन किया और शूद्रों को यज्ञ की पवित्रता के नाम पर यज्ञों में शामिल होने से वंचित किया गया। इसके बाद उन्हें अपने सामाजिक जीवन से भी निकाल दिया गया। उनकी इस व्यवस्था से दूसरे वर्गों में भी तीव्र प्रतिक्रिया पैदा हुई। उनकी देखा-देखी क्षत्रियों और

वैश्यों ने भी उनका बहिष्कार करना शुरू किया। इस प्रकार अस्पृश्यता का संक्रामक रोग धीरे-धीरे समाज और देश के कोने-कोने में फैलता गया। सभी लोग इन लोगों से घृणा करने लगे। युग पलटते गए, अस्पृश्यता का रोग फैलता गया। एक समय ऐसा भी आया कि वे न केवल परस्पर खाने-पीने और रहन-सहन में उनसे दूर रहने लगे बल्कि उनकी छाया से भी अपवित्र होने के भय से उनसे दूर भागने लगे। कठोरता और निरंकुशता की व्यवस्था में समाज पूर्णरूपेण दो भागों में विभक्त हो गया। इस प्रकार आर्यों के रक्तरंजित संघर्षों के वाद एक नई सभ्यता ने जन्म लिया जो आर्य सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध हुई। जिस पर हिन्दू राष्ट्र को आज गर्व है।

उस युग में ब्राह्मणवाद का बहुत बोलबाला था। उन्हें ईश्वर-स्वरूप माना जाता था। जिस परम्परा को उन्होंने चालू किया और जिस व्यवस्था को भी उन्होंने संगठित किया, वह उत्तरोत्तर सुहृद होती गई। उनके स्वार्थों की सीमा यहां तक पहुंच गई थी कि जो उनके कृपापात्र बने, उन्हें अपने स्वयं निर्मित आडम्बरी सिद्धांतों के अनुसार अपने वर्ग में शामिल किया जाता। इस प्रकार कई अनार्यों को अपने वर्ग में शामिल कर ब्राह्मण घोषित किया गया। गोयाकि किसी को अपने वर्ग में शामिल करना या न करना केवल इस वर्ग की इच्छा पर निर्भर था। कुछ अनार्य राजा इनके आशीर्वाद और दया-दृष्टि द्वारा हिरण्य गर्भ अनुष्ठान से द्विजों में शामिल हुए थे। जहां गर्भ आकार के सोने के पात्र में वह राजा नग्न होकर लेट जाता था। इसके वाद पुरोहित शिशु जन्म के मंत्रों का पाठ करता था। वह राजा धीरे-धीरे खिसककर बाहर आ जाता, जिसे पुरोहित द्विजजनों के किसी एक गोत्र को उसे अपनाने की दीक्षा देता और उसका वही गोत्र हो जाता। इस प्रकार कृपापात्र अनार्य शूद्र राजाओं को द्विजों ने अपने वर्ग में शामिल किया। उस अनुष्ठान में सब सामग्री बर्तन, वस्त्र इत्यादि तथा धन और वर्ण को बदलने वाले विशेष रूप से बने सोने के आकार वह पुरोहित अपने साथ दान-स्वरूप ले जाता। यह था ब्राह्मणवाद का पाखंड। इसी प्रकार महाभारत काल में विदुर का वर्णन मिलता है जो आर्य संतान होने पर भी दासी पुत्र होने के कारण शूद्र ही कहा जाता था, क्योंकि उसकी माता शूद्र जाति से थी। उस युग तक ब्राह्मणी कानून इतने कठोर हो चुके थे कि श्रीकृष्ण के चाहने पर भी वह और उसकी संतान क्षत्रिय न हो सकी। विदुर ने अपने आत्म-सम्मान को ब्राह्मणी स्वार्थ का निशाना नहीं बनने दिया। इस तनाव में योगिराज कृष्ण तथा सर्वसत्तासम्पन्न रार्जषि भी ब्राह्मणवाद की सुदृढ़ अस्पृश्यता की दीवारों को गिराने में सफल न हो सके।

मगध और कौशल के शक्तिशाली अनार्य राजाओं के इतिहास में इसी ब्राह्मण-वाद की प्रभुसत्ता के विषय में विवरण मिलते हैं। वे सार्वभौम सत्ताधीश होने पर भी जातिवाद की ब्राह्मणी मर्यादा को भंग नहीं कर सके। कौशल के राजा

प्रसेनजित अपने-आपको वेद-विख्यात राजा इक्ष्वाकु का वंशज कहलाता था। मगर उसका यह दावा ब्राह्मणों को मान्य न हुआ। जब उसने एक शाक्य कन्या से विवाह करना चाहा, तो वे लोग दुविधा में डूब गए। महाराजा का उक्त प्रस्ताव शाक्य जाति के लोगों के लिए एक धर्म-संकट बन गया था। उन्होंने एक षड्यंत्र किया। उसके अनुसार तथाकथित शाक्य नागमुंडा की लड़की वासम-खत्तिया का उनके साथ विवाह करने का प्रस्ताव किया जो कि महाराजा के साथ सीधा धोखा था। विवाह के बाद जब उन्हें पता लगा तो वह बहुत दुःखी हुए। मगर कुछ समय बाद उन्होंने इसी से जन्म लेने वाले दासी पुत्र विदुदभ को जब अपना सेनापति घोषित किया तो उसने अपने पिता के साथ किए जाने वाले धोखे का बदला लेने के लिए शाक्य लोगों पर आक्रमण कर उनका संहार किया। यह वे लोग थे, जिन्होंने आर्यों की सार्वभौमिकता को चुनौती दी। यही कारण था कि तत्कालीन साहित्य और महाकाव्यों में इन आत्माभिमानी वीर लोगों को राक्षस कहकर सम्बोधित किया गया। उनके प्रति घोर शत्रुता की भावना को प्रदर्शित किया गया। यह कितना आश्चर्यजनक है कि जिन पूर्व निवासी और उनके पूवजों ने एक आदर्श सभ्यता के निर्माण में कई युग व्यतीत किए थे तथा जिन वीर लोगों ने ब्राह्मणी सत्ता को बार-बार ललकारा और उनसे सफलतापूर्वक टक्कर ली, उन्हें ब्राह्मण ग्रंथों में राक्षस व असुर की संज्ञा दी जाए और जिन्होंने उनकी सत्ता को स्वीकार किया और वे जो उनके बंधक बने, उन्हें चतुवर्णों में शामिल कर शूद्र घोषित किया जाए। यह था तत्कालीन ब्राह्मणवाद का आतंक और वितंडावाद।

सत्तालोलुप आर्य अपनी श्रेष्ठता, जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था के प्रचार और प्रसार हेतु जब अपने जीवन-मरण का अभियान चला रहे थे, तो उस विकट स्थिति में अनार्य मगध, कौशल, नंद और मौर्य शक्तिशाली साम्राज्यों का उभरना एक ऐसी आश्चर्यजनक घटना थी जो इतिहासकारों को चकित करती है। उन्होंने ब्राह्मणवाद की सार्वभौमिकता से टक्कर ली और उनकी राजनैतिक सत्ता को ललकारा जो वर्णवाद के विरुद्ध एक निर्भीक चुनौती थी। मगर खेद है कि ये विशाल साम्राज्य अंत में ब्राह्मणों की संकीर्णता के अभिशाप से न बच सके, क्योंकि उन्हें ब्राह्मणी अंकुश ने क्षत्रिय नहीं बनने दिया। और उनके सुकृत्यों के वर्णन, गौरवशाली गाथाओं तथा वीरता की प्रेरणादायक घटनाओं की कृतियों को उन ब्राह्मणों ने अपने प्राचीन साहित्य से निकालकर नष्ट कर दिया। यही कारण है कि उनके बलिदानों का विवरण किसी भी श्रुति और ब्राह्मण ग्रंथों में उपलब्ध नहीं है।

इसके बाद दूसरा युग आया, जब कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र की रचना की। उसने उन्हीं पदचिह्नों पर चलकर शूद्रों के प्रति जिस भाव का प्रसार किया, उससे पृथक्ता को और भी बढ़ावा मिला। जातिवाद की संकीर्णता में समाज को जिस

विवेकहीन विभाजन में बंद किया गया, वह मानवता की दृष्टि से मान्य नहीं था।

> "यदि कोई निम्न जाति का व्यक्ति उच्च जाति वाले से अभद्र व्यवहार करे, तो उसे कठोर दंड दिया जाना चाहिए जो उसे अपमानित करे।"
>
> "शूद्र का वह अंग, जिससे वह किसी ब्राह्मण को मारता है, काट दिया जाना चाहिए।"
>
> "यदि कोई क्षत्रिय असुरक्षित ब्राह्मणी को भ्रष्ट करता है, तो उसे उच्चतम अपमान का दंड देना चाहिए। वैश्य यदि ऐसा कुकृत्य करे, तो उसकी सम्पत्ति जब्त कर लेनी चाहिए। यदि शूद्र ऐसा कुकर्म करे तो उसे जीवित ही चटाई में लपेट करके आग में फेंककर मार देना चाहिए।"
>
> ये थे कौटिल्य के विचार।

युग के बाद युग बदलते चले गए। इस दौरान कई राजनैतिक उलट-फेर हुए। कई साम्राज्य उभरे। उसके साथ कई नई परिस्थितियों ने जन्म लिया। मगर संकीर्णता की जो शूद्र नामक विभाजन रेखा नार्डिक आर्यों ने खींची थी, वह किसी परिवर्तन में भी मिट न सकी, बल्कि जात-पांत के आधार पर परस्पर घृणा करने की दूषित मनोवृत्ति समाज में इतनी फैली कि उन्हें समुचित सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दीन-हीन और निस्सहाय बना दिया गया और हर अपराध के लिए उन्हें निशाना बनाया जाने लगा। समाज के उस वातावरण से प्रभावित होकर महर्षि मनु ने अपने मनुस्मृति नामक विख्यात ग्रंथ में शूद्रों के विरुद्ध और भी कठोर प्रतिबंधों की व्यवस्था कर उन्हें परतंत्रता की दृढ़ जंजीरों में जकड़कर रख दिया। उन नियमों के उल्लंघन की अवस्था में मृत्युदंड या देश-निकाला था। इस प्रकार ब्राह्मण बुद्धिजीवी वर्ग ने एक षड्यंत्र करके उन्हें उनके सब जन्मसिद्ध मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया और अपने स्वार्थों के हितार्थ धर्म और ईश्वर के नाम पर मानव के मध्य भेदभाव की दीवार खड़ी कर उन सिन्धु देश के महान् सपूतों को सदा के लिए वर्ण-व्यवस्था के संकुचित दायरे में बांधकर रख दिया। इसके बाद स्मृतियों के युग में इस वर्णवाद को कठोर से कठोरतम बनाया गया। अब इनके लिए पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, वेद-मंत्रों का पाठ, धर्मशास्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना वर्जित घोषित किया गया। इस सबकी अवहेलना करने पर उनके कानों में सीसा भर देने की व्यवस्था थी। और इस स्वच्छंदता और उद्दंडता को ईश्वरवाक्य बनाया गया। उनके इस अभियान से वर्गवाद की भावना ने जोर पकड़ा और परस्पर वैमनस्यता की खाई बढ़ती गई।

परिणामस्वरूप शूद्र के नाम से जिस चतुर्वर्णीय व्यवस्था का आरम्भ ऋग्वेद के जिस काल से हुआ था, तब से वह विभाजन का विष हिन्दू-समाज में बढ़ता ही गया। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था कट्टर जातिवाद के रूप में परिपक्व होती गई।

बौद्ध युग के समाज में अस्पृश्यता अपनी चरमसीमा पर थी। वे अनार्य दस्यु अर्थात् शूद्र लोग ब्राह्मणवाद की विषमता से त्रस्त थे। ब्राह्मणवाद ने अपने क्रूर व घृणास्पद व्यवहार से उन्हें समाज का एक निकृष्ट अंग बना दिया था। सामाजिक बहिष्कार के कारण उन लोगों को जन्मसिद्ध मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के नाम पर अन्य वर्ग वालों की गंदगी साफ करने, उनके ऐश्वर्य तथा भोग-विलास हेतु शारीरिक परिश्रम के निकृष्ट कार्य सौंपकर उन्हें सदा के लिए बंधक बना दिया गया। विवेकशून्य मर्यादा जिसका प्रचलन नार्डिक आर्यों के आक्रमणों से शुरू हुआ था, धर्म की मर्यादा में इतनी विलीन हो गई कि सिन्धु-सभ्यता के महान् यशस्वी लोग शूद्र के नाम से अस्पृश्य होकर हिन्दू-समाज से कट गए। इतिहास के जब हम पन्ने पलटते हैं, तो पता चलता है कि छत्रपति शिवाजी महाराज ब्राह्मणों द्वारा कितना अपमानित हुए। उनकी वीरता और पौरुष का इतिहास में एक विशेष स्थान है, जिन्होंने हिन्दुओं और उनकी बहू-बेटियों पर होने वाले अत्याचार और निर्लज्ज व्यवहार के विरुद्ध मुगल बादशाह से लोहा लिया। वे जब तक जीवित रहे, तब तक औरंगजेब सुख-चैन से न बैठ सका। उन्होंने हिन्दुत्व की रक्षा कर हिन्दू परम्पराओं को यथावत् बनाए रखा। यदि वे मुगलों से लोहा न लेते तो आज हिन्दू नामलेवा इस देश में न होता और वे अभिमानी ब्राह्मण उन मुगलों की धार्मिक संकीर्णता की ज्वाला में भस्मीभूत हो जाते। इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसके बावजूद हिन्दुओं की रक्षा करने वाले धर्मपरायण शिवाजी को, जिनसे विशाल मुगल साम्राज्य कांपता था, ब्राह्मणों से अपमानित होना पड़ा। उन्होंने अपनी शक्ति और अदम्य उत्साह से जब महाराष्ट्र में अपने साम्राज्य का झंडा फहराया और राज्याभिषेक के लिए घोषणा की, तो उस समय ये ब्राह्मण ही थे, जिन्होंने हिन्दुत्व के संरक्षक शिवाजी को अपमानित किया था।

शिवाजी विधिवत् वैदिक रीति से राज्याभिषेक कराना चाहते थे। इस शुभ अवसर पर शामिल होने के लिए उन्होंने सबको निमंत्रण दिया था। दूर-दूर से राजे-महाराजे, जागीरदार, रजवाड़े के दरबारी और प्रतिष्ठित अतिथि उस राजकीय वैभवशाली समारोह में शामिल होने के लिए पधारे थे। उस समय कोई भी ब्राह्मण राज्याभिषेक तिलक धार्मिक विधि से लगाने के लिए आगे नहीं बढ़ा और उन ब्राह्मणों ने यह धार्मिक रीति सम्पन्न करने से इन्कार कर दिया, क्योंकि शिवाजी एक अनार्य जाति से सम्बन्ध रखते थे और वह उनकी दृष्टि के अनुसार शूद्र जाति के थे। उस समय जबकि समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया जा रहा था, चारों

ओर शहनाइयों और नगाड़ों की आवाजें आ रही थीं और गायन हो रहे थे, एकाएक राजसभा में गहरा सन्नाटा छा गया और सब आश्चर्यचकित होकर एक-दूसरे की ओर देखने लगे और चिन्तामग्न हो उठे।

शिवाजी के लिए तो प्रतिष्ठा का प्रश्न था। वे इस अपमान को कैसे पी जाते। उस विकट स्थिति में उनके एक परम मित्र बालाजी आवाजी ने उनकी सहायता की। दूसरे स्थान के ब्राह्मणों का कृपापात्र बनने के लिए उन्हें अपार धन दिया। उन्होंने अपने गोत्र की दीक्षा देकर उनका सम्बन्ध उक्त वंश के साथ होने की घोषणा की और उनका उपनयन संस्कार करके गागाभाट ब्राह्मण ने उनका राज्याभिषेक किया। इस प्रकार छत्रपति शिवाजी महाराज, जिन्होंने हिन्दुत्व की रक्षा कर अपना अमूल्य जीवन दांव पर लगाकर ब्राह्मणों का संरक्षण किया था और मुगल साम्राज्य की ईंट-से-ईंट बजा दी थी, को उन्हीं ब्राह्मणों से अपमानित होना पड़ा।

मानव-मानव के मध्य खड़ी की गई अस्पृश्यता की यह दीवार कभी भरभराकर ढह जाएगी, ऐसी हमें आशा है। इस ब्राह्मणवाद की नींव पर आधारित ऊंच-नीच के विरुद्ध तीव्र संघर्ष होते रहे हैं। उनकी हर चुनौती का मुकाबला किया जाता रहा है। हिन्दू-धर्म निराशा नहीं सिखाता। उसी आशा में इस अभिशाप के विरुद्ध समय-समय पर समाज-सुधारकों ने डटकर मुकाबला किया। फलस्वरूप अस्पृश्यता की जकड़ में कुछ कमी दृष्टिगोचर होने लगी है। इस वर्तमान युग में इन लोगों से अभद्र, घृणित तथा अमानुषिक व्यवहार पहले जैसा नहीं होता, जिस प्रकार इनका सामाजिक बहिष्कार व अमानवीय व्यवहार नार्डिक आर्यों के आक्रमणों के समय, ऋग्वैदिक युग में, स्मृति काल तथा मगध, नंद, मौर्य व बौद्ध और मनुकालीन भारत में हुआ करता था। यदि इसी गति से ब्राह्मणवाद के धब्बों को साफ किया जाता रहा तो भविष्य के किसी काल में अस्पृश्यता, जो मानवता पर कलंक है, समाप्त हो जाएगी।

□□

संदेश

संविधान के अनुच्छेद 17 के अधीन अस्पृश्यता किसी भी रूप में निषिद्ध है। संविधान में प्रावधान होने पर भी अस्पृश्यता विभिन्न रूपों में पाई जा रही है। निःसंदेह अस्पृश्यता हमारे समाज पर एक कलंक है। अनुसूचित जातियों के प्रति जाति-द्वेष के साथ-साथ अस्पृश्यता की प्रथा की बुराई देश के विभिन्न भागों में अभी भी विद्यमान है। निःसंदेह अनेक सुधारात्मक आन्दोलनों ने पिछली डेढ़ शताब्दी से भारतीय समाज को झकझोरा है। इस बुराई को समाप्त करने के लिए लेखकों, समाज-सुधारकों, श्रमिक नेताओं और अन्य व्यक्तियों द्वारा किए गए प्रयत्नों से अपेक्षित परिणाम अभी तक नहीं निकले हैं। ऐसे समय में श्री ए० एन० भारद्वाज द्वारा रचित पुस्तक 'अस्पृश्यता एवं मानवता' समाज में अस्पृश्यता-उन्मूलन तथा बन्धुत्व की भावना फैलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगी।

मुझे खुशी है कि श्री भारद्वाज जैसे समाज-सुधारक ने अपने गहन अध्ययन तथा अनुभव के आधार पर इस ज्वलंत विषय को अपनी लेखनी का माध्यम बनाया है। उनका यह प्रयास प्रशंसनीय है।

—एस० के० कौल

अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित
आदिम जनजातियों के उपायुक्त

अस्पृश्यता विषय पर श्री अमरनाथ भारद्वाज ने एक पुस्तक लिखी है, यह सूचना पढ़कर खुशी हुई।

हमारे समाज में ऐसे साहित्य की नितांत आवश्यकता है। हमारे धर्म के साथ अस्पृश्यता का दूर का भी संबंध नहीं है और न ही हमारी संस्कृति के साथ। यह मानवता पर एक प्रहार है।

लेखक ने जिस खोज, परिश्रम और लगन से यह पुस्तक लिखी है, उसके लिए वह बधाई के पात्र हैं। यह पुस्तक निःसंदेह प्रेरणादायक है। इससे सदैव प्रेरणा मिलती रहेगी।

मेरी शुभकामनाएं लेखक के साथ हैं। मुझे आशा है कि जिस अभिप्राय से यह पुस्तक लिखी गई है, पाठक उसे ग्रहण कर इस सामाजिक बुराई के विरुद्ध तत्पर रहेंगे।

—डा० रामरत्न खजूरिया

प्रधान, जम्मू-काश्मीर समाज-कल्याण केन्द्र, जम्मू

अस्पृश्यता मानवता के विरुद्ध षड्यंत्र

वैदिककाल में वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं थी और तब अस्पृश्यता शब्द किसी भारतीय कोश में सम्भवतया नहीं आया था। लेकिन जाति-व्यवस्था ने इस शब्द को इतना अधिक पनपाया कि आज यह अभिशाप के रूप में परिणत हो गया।

महात्मा बुद्ध ने कभी कहा था—

न जच्चा होती ब्रह्मणो ।
न जच्चा होती वस्सलो ।
कम्मना होती ब्रह्मणो ।
कम्मना होती वस्सलो ।

'गीता' को भी गुण और कर्म के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था मान्य है।

आज भारतीय समाज और विशेष रूप से हिन्दू-समाज में इतना विघटन क्यों है? इसके लिए अस्पृश्यता और जातिवाद ही उत्तरदायी हैं। इसमें दो मत नहीं हैं। काश! हिन्दू-समाज के लिए ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए 'अस्पृश्यता' शब्द हम हमेशा के लिए हटा पाते।

श्री भारद्वाज ने इस दिशा में अपनी लेखनी चलाई है। इसके लिए वह बधाई के पात्र हैं।

—डा० श्यामसिंह शशि

निदेशक
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय

आभार

इस पुस्तक को लिखने के लिए यद्यपि मैं अपने कार्यकाल में सामग्री इकट्ठी करता रहा, मगर इसको अंतिम रूप देना कोई साधारण काम नहीं था। इसमें अनथक परिश्रम की आवश्यकता थी। अध्ययन और आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के लिए खोज करने की आवश्यकता थी। अपने निजी काम छोड़कर इस विषय की ओर एकाग्रचित्त से काम करने की जरूरत थी। मगर यह सब भाग-दौड़ एक के बस की बात नहीं थी। इसको इस रूप में लाने के लिए कई एक विद्वानों ने मुझे पूरा सहयोग दिया। उन सबके प्रति आभार प्रकट करना मेरा प्राथमिक दायित्व है। यदि मैं अपने नैसर्गिक कर्त्तव्य को विस्मरण करता हूं तो वह नैतिकता, शिष्टाचार और परम्पराओं के प्रतिकूल होगा।

पाठक भली प्रकार इस कठिनाई को समझते हैं कि पुस्तक लिखना कोई सुगम कार्य नहीं है। फिर यदि वह अनुसन्धानपूर्वक सुधार संबंधी कृति हो तो लेखन-कार्य और भी कठिन हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन में मुझे कुछ सामग्री श्री विश्वनाथ जी, सम्पादक, 'सरिता' दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त हुई है। उनके इस सराहनीय सहयोग के लिए मैं उनका आभारी हूं।

इसके अतिरिक्त इस कार्य को सम्पन्न करने में प्रो० सुभाष भारद्वाज ने जो सहयोग दिया, उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूं। उन्होंने अपने कई एक आवश्यक कार्यों को स्थगित करके मुझे सहयोग प्रदान किया। तदनन्तर डॉ० बालकृष्ण शास्त्री ने इस पुस्तक के शास्त्रीय सम्पादन में जो सहयोग दिया और यथोचित मार्गदर्शन भी किया, उनके प्रति आभार प्रकट करना मेरा नैतिक कर्त्तव्य है।

इस पुस्तक के संशोधन और लेखन-कार्य से मैं ऊब गया था। ऐसी स्थिति में डॉ० धनीराम जी शास्त्री ने पुनः सारी पुस्तक का संशोधन, और कतिपय स्थानों पर इसका आवश्यक संवर्धन भी किया। यदि डॉक्टर साहब का यह सहयोग न मिलता तो शायद यह पुस्तक आपके पास न पहुंचती। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूं कि उन्होंने अपनी व्यस्तता के बावजूद मेरे स्वप्न को साकार करने में मेरी सहायता की।

इस पुस्तक के विषयवस्तु को जम्मू-काश्मीर के वेद और कर्मकांड के धुरंधर

विद्वान् पं० मूलराज जी शास्त्री ने सूक्ष्म दृष्टि से देखा और जो सुझाव दिए, उनको इसमें सम्मिलित किया गया है। उनके इस परिश्रम के लिए मैं पंडित जी का हार्दिक धन्यवाद करता हूं।

इस पुस्तक के प्रकाशन में धर्मार्थ ट्रस्ट जम्मू-काश्मीर ने दस हजार रुपये का विशेष अनुदान दिया है। इसके बिना इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव नहीं था। इस सम्बन्ध में धर्मार्थ ट्रस्ट के अध्यक्ष मे० जनरल गोवर्द्धनसिंह जी जमवाल ने इसके प्रकाशन में जो भूमिका निभाई है, उसके लिए जनरल साहिब के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा प्रथम दायित्व है। इस कार्य में सदस्य सचिव श्री द्वारकानाथ जी गुप्ता, कार्यालयाधीक्षक श्री रूपलाल जी पचनन्दा तथा ठाकुर आत्मासिंह जी सलाथिया जैसे महानुभावों ने मेरे प्रयास में उदारतापूर्वक सहायता की है। अतः मैं इन सब सहयोगियों का भी हृदय से आभारी हूं।

—ए० एन० भारद्वाज

०●०